भारतीय

राजनीति और शासन-पद्धति

लेखक—

कन्हैयालाल वर्मा, एम० ए०

राजनीति विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी।

रचयिता

नाज़ी जर्मनी, नागरिक शास्त्र, तथा लोकनीति और राष्ट्रीयता

प्रकाशक

इज्यूकेशनल पब्लिशिंग हाउस

बनारस

प्रथमवार] १९३९ [मूल्य ३॥)

Rev.sed Price As.4/-

प्रकाशक—इज्यूकेशनल पब्लिशिंग हाउस बनारस
मुद्रक—रामकृष्णदास,
बनारस हिंदू युनिवर्सिटी प्रेस, बनारस

राष्ट्रीय उत्थान

के लिए

प्रयत्नशील महापुरुषों को

भूमिका

आज से लगभग ५० वरस हुए, भारतीय स्वाधीनता का आंदोलन आरंभ हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों ने सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयों की ओर सरकार एवं जनता का ध्यान आकर्षित करके ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की थी, जिसमें राजनीतिक बुराइयों की ओर ध्यान आकर्षित न होना असंभव था। सन् १८८५ के पूर्व, देश में सैकड़ों ऐसी संस्थाएं थीं जो राजनीतिक समस्याओं पर विचार कर रही थीं, और सैकड़ों ऐसे महापुरुष थे जो वैधानिक आंदोलन के ज़रिये से देश के उत्थान का चित्र खींच रहे थे। इन्हीं महापुरुषों के सहयोग के कारण सन् १८८५ में भारतीय कांग्रेस का जन्म हुआ। यद्यपि आरंभ में वह विशुद्ध राजनीतिक संस्था न थी, तो भी कुछ ही दिनों पश्चात् उसने भारतीय स्वाधीनता के युद्ध का नेतृत्व करना आरंभ कर दिया, और आज देश की एकमात्र ऐसी संस्था वन गयी है जिसमें सव धर्मों और संप्रदायों के लोग शामिल हैं, और जिसे समस्त देश की प्रतिनिधि संस्था होने का गौरव है।

इधर कांग्रेस राष्ट्रीय आंदोलनों के चलाने, और लोकमत के जागृत करने में लगी थी, और उधर भारतीय विधान का क्रमशः विकास हो रहा था। सन् १८८५ के पूर्व भी भारतीय शासन-सुधार आरंभ हो गया था, पर सन् १८८५ के पश्चात् भारतीय शासन-विधान में जितने सुधार हुए वे ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में तो महत्वपूर्ण थे; किंतु भारतीय लोकमत के देखते हुए अपर्याप्त और असंतोषप्रद थे। सन् १९०९ के मॉर्ले-मिंटो सुधार, सन् १९१९ के मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार, और सन् १९३५ के शासन-संबंधी सुधार, भारतीय लोकमत के अनुसार इतने अपर्याप्त थे, कि सन् १९१९ के सुधारों का कांग्रेस ने वहिष्कार किया था, और सन् १९३५ के शासन-विधान को वह विध्वंश करने पर आमादा है।

भारतवर्ष के राष्ट्रीय आंदोलनों और शासन-सुधार का परस्पर घनिष्ट संबंध है। परंतु मेरी जानकारी में अभी तक हिंदी में कोई ऐसी पुस्तक नहीं है जिसमें राष्ट्रीय आंदोलन और शासन-सुधार दोनों का विवरण साथ साथ दिया गया हो। मेरी राय में शासन-सुधार राष्ट्रीय आंदोलनों का फल-स्वरूप है, और राष्ट्रीय आंदोलनों में शासन-सुधार की जड़ विद्यमान है। अतएव इस पुस्तक में मैंने राष्ट्रीय आंदोलनों का, विशेष कर सन् १९२० के बाद के आंदोलनों का, और सन् १९३५

के शासन-विधान का विस्तारपूर्वक विवरण दिया है। चौथे परिच्छेद में मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों के कार्यान्वित रूप की व्याख्या की गयी है, पांचवें में देशी रियासतों की वैधानिक स्थिति की और छठे में शासन-सुधार की भिन्न भिन्न योजनाओं की, जो नये शासन-विधान के लिए तैयार की गयी थीं। भारतवर्ष की मौजूदा परिस्थिति में स्थानीय स्वराज्य की उपयोगिता के कारण सोलहवें और सत्रहवें परिच्छेदों में स्थानीय स्वराज्य के संगठन, कार्य और राजस्व का, पुस्तक के उपयुक्त, विस्तारपूर्वक वर्णन है, और अठारहवें और उन्नीसवें परिच्छेदों में सन् १९३५ से १९३९ तक की कुछ महत्वपूर्ण बातों की उतनी व्याख्या की गयी है जितनी इस आकार की पुस्तक के लिए उपयुक्त थी। बीसवें परिच्छेद में लोकमत और शासन-सुधार के परस्पर संबंध पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

मुझे यह कहने का दावा नहीं कि पुस्तक मौलिक है। हिंदू विश्वविद्यालय में मुझे एफ़. ए. के छात्रों को नागरिक शास्त्र की शिक्षा देनी पड़ती है। इस संबंध में मुझे भारतीय शासन-विधान और राष्ट्रीय आंदोलन पर भी कुछ व्याख्यान देने पड़ते हैं। यह पुस्तक प्रधानतया उन्हीं व्याख्यानों के आधार पर लिखी गयी है। नागरिक शास्त्र की उपयोगी शिक्षा के लिए, भारतवर्ष की राष्ट्रीय जागृति का ज्ञान परमावश्यक है। किंतु इस विषय की मौजूदा पुस्तकों में राष्ट्रीय आंदोलन एवं उत्थान पर उतना ज़ोर नहीं दिया गया है जितना उनके वास्तविक ज्ञान के लिए आवश्यक है। अतएव इस पुस्तक में मैंने कांग्रेस, मुस्लिम लीग, उदारवादी सम्मेलन, देशी राज्य-प्रजा-सम्मेलन आदि के कामों पर ज़ोर दिया है और सन् १९२० के असहयोग आंदोलन और सन् १९३० के सविनय अवज्ञा आंदोलन का यथोचित विवरण लिखा है। पुस्तक के तैयार करने में जिन पुस्तकों और पत्रों से सहायता ली गयी है, उनकी सूची भी पुस्तक के अंत में दी गयी है। मैं उन लेखकों का ऋणी हूँ, और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

अंत में अपने प्रकाशक को धन्यवाद देते हुए मैं इस पुस्तक को सर्वसाधारण के सम्मुख इस आशा से उपस्थित करता हूँ कि वे इसे पढ़ कर इसकी त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करेंगे, और उदारभाव से उनके लिए मुझे क्षमा भी प्रदान करेंगे।

राजनीति विभाग,
हिंदू विश्वविद्यालय, काशी।
२५—७—३९

कन्हैया लाल वर्मा

विषय-सूची

ध्यान दिया। देशी-राज्य-प्रजा-सम्मेलनों में देशी राज्यों की अवस्था पर विचार किया गया, और सुधारों की मांगें उपस्थित की गयीं और नरेंद्र-मंडल ने 'वटलर कमेटी'[1] की सहायता से, सीधे इंगलैंड के सम्राट से, देशी राज्यों का संवंध स्थापित कराया। आतंकवादी भी, इस काल में इधर उधर अपने निंदनीय काम करते रहे। सारे भारतवर्ष में अनेक अखिल भारतवर्षीय सम्मेलनों का जाल फैल गया और प्रत्येक समुदाय अव संगठित रूप से अपना काम करने लगा।

साइमन कमीशन की नियुक्ति और उसका वहिष्कार—भारतवर्ष की पूर्वोक्त परिस्थिति में, ८ नवंवर सन् १९२७ को लॉर्ड अरविन ने साइमन कमीशन के नियुक्त किये जाने की घोषणा की। कमीशन का उद्देश्य था, भारत-शासन-विधान की जाँच करना, और भविष्य शासन-विधान के संवंध में सिफारिशें करना। कमीशन के सात सदस्य थे और सातो अँगरेज़ थे। भारतवर्ष का भविष्य शासन-विधान निर्धारित करने के लिए, एक भी भारतवासी कमीशन में वैठने योग्य न समझा गया था। यह जले पर नमक छिड़कने के समान था। भारतवर्ष के प्रायः सभी दल व्रिटिश सरकार की इस नीति के कारण, कमीशन के विरोधी वन गये और सव ने मिलकर, गोरे कमीशन के वहिष्कार करने का निश्चय किया। यही नहीं, यह भी निश्चित किया गया, कि कमीशन-संवंधी सभी सामाजिक जलसों का भी वहिष्कार किया जाय, कोई मनुष्य कमीशन के सम्मुख गवाही न दे और कमीशन संवंधी खवरें तक अखवारों में न छापी जायँ। इस विषय में कांग्रेस का प्रस्ताव[2] खास तौर से उल्लेखनीय है—

"चूंकि व्रिटिश-सरकार ने भारतवर्ष के आत्म-निर्णय के अधिकार की विल्कुल उपेक्षा करते हुए, क़ानूनी कमीशन नियुक्त किया है (इसलिए) यह कांग्रेस निश्चय करती है, कि भारतवर्ष के लिए एकमात्र आत्म-

---

(१) इंडियन स्टेट्स कमेटी को साधारणतः वटलर कमेटी कहते हैं। इसे भारत-मंत्री ने १६ दिसंवर सन् १९२७ को नियुक्त किया था। संयुक्त प्रांत के भूतपूर्व गवर्नर सर हारकोर्ट वटलर इस कमेटी के अध्यक्ष थे।

(२) कन्हैयालाल : कांग्रेस के प्रस्ताव, पृष्ठ ४७६–४७७।

सम्मानपूर्ण मार्ग यही है कि वह कमीशन का प्रत्येक अवस्था में, और प्रत्येक प्रकार से बहिष्कार करे। विशेष करके—

(क) यह कांग्रेस भारतवर्ष की जनता और देश की समस्त कांग्रेस संस्थाओं से कहती है कि वे (१) कमीशन के भारतवर्ष में आने के दिन [उसके विरोध में] सार्वजनिक प्रदर्शन करें, और इस प्रकार का प्रदर्शन उन तमाम शहरों में भी किया जाय, जहाँ जहाँ कमीशन जावे। (२) ज़ोरों के साथ प्रचार-कार्य करके लोकमत को इस प्रकार संगठित करें, जिससे प्रत्येक प्रकार के राजनीतिक विचार रखनेवाले भारतीयों द्वारा कमीशन का पुर असर बहिष्कार कराया जा सके।

(ख) यह कांग्रेस भारतीय व्यवस्थापक सभाओं के ग़ैर-सरकारी सदस्यों और भारतवर्ष के राजनीतिक दलों तथा संप्रदायों के नेताओं से तथा अन्य लोगों से कहती है कि कमीशन के सामने गवाही न दें और सार्वजनिक तौर पर या खानगी तौर पर न तो उसके साथ किसी प्रकार का सहयोग करें और न उसके लिए होनेवाले सामाजिक दावतों या उत्सवों में शरीक़ हों।

(ग) यह कांग्रेस भारतीय व्यवस्थापक सभाओं के ग़ैर-सरकारी सदस्यों से कहती है कि वे (१) इस कमीशन के सिलसिले में जो 'सिलेक्ट कमेटियाँ' बनायी जायँ उनके लिए न तो मत दें, और न उनके सदस्य बनें। (२) कमीशन के काम के संबंध में, जो कुछ बात, प्रस्ताव या खर्च की मांग पेश की जाय, उसे अस्वीकार कर दें।

(घ) यह कांग्रेस भारतीय व्यवस्थापक सभाओं के सदस्यों से यह भी कहती है, कि वे इन सभाओं की बैठकों में न जायँ सिवाय [उन सूरतों में जब कि वहाँ] अपना स्थान रिक्त होने से बचाने के लिए, या बहिष्कार को पुर असर या सफल बनाने के लिए, या किसी मंत्रि-मंडल को गिराने के लिए, या किसी ऐसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव का विरोध करने लिए, जो कांग्रेस की कार्य-समिति की राय में, भारतवर्ष के हितों के विरुद्ध हो, [उनकी आवश्यकता हो]।

(ङ) यह कांग्रेस कार्य-समिति को अधिकार देती है कि वह वहि-ष्कार को पुर असर और पूर्ण करने के उद्देश्य से जहाँ कहीं संभव हो, अन्य संस्थाओं और दलों से सलाह करे, और उनका सहयोग प्राप्त करे।"

नेशनल लिवरल फेडेरेशन ने भी प्रायः इसी आशय का एक प्रस्ताव पास किया। अन्य संस्थाओं ने भी वहिष्कार पर ही जोर दिया। ऐसा मालूम होने लगा, कि भारतवर्ष पुनः एकता के सूत्र में वँध गया है। किंतु वास्तविक परिस्थिति ऐसी न थी। मुसल्मानों, हरिजनों, जमींदारों और तालुकेदारों ने, साइमन कमीशन के साथ सहयोग किया, जिसके कारण उसकी असफलता उतनी न हो सकी जितनी वह वास्तव में हो सकती थी और होनी चाहिये थी।

चौथा परिच्छेद

सुधारों का कार्यान्वित रूप

मांट-फोर्ड रिपोर्ट के मूल सिद्धांत—संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की सिफारिशें—इंगलैंड के वादों पर भारतवर्ष का अविश्वास—सुधारों के कार्यान्वित रूप की जाँच—भारत-मंत्री का निरीक्षण—केंद्रीय शासन—भारतीय व्यवस्थापक मंडल—विशेष अधिकारों का प्रयोग—भारत-सरकार द्वारा प्रांतीय सरकारों का निरीक्षण—अटल इक्जीक्यूटिव—प्रांतीय शासन—निर्वाचक मंडल—प्रांतीय व्यवस्थापक सभाएँ—हस्तांतरित और संरक्षित विषयों का भेद—मंत्री लोग न कि मंत्रि-मंडल—संयुक्त उत्तरदायित्व का अभाव—विचार विनिमय—सरकारी सदस्य और मंत्री—सिविल सर्विस और मंत्रियों का संबंध—अर्थ विभाग और मंत्री—द्वैध शासन-प्रणाली में गवर्नर का स्थान—नौकरियों का भारतीयकरण—स्थानीय स्वराज्य की वृद्धि—उपसंहार।

मांट-फोर्ड रिपोर्ट के मूल सिद्धांत—मांट-फोर्ड रिपोर्ट के निम्नलिखित चार मूल सिद्धांत थे[1]—

(१) "जहाँ तक हो सके स्थानिक संस्थाओं में जनता का पूर्ण अधिकार हो। उनका नियंत्रण उन्हीं के द्वारा हो और वाह्य नियंत्रण से उनको अधिकाधिक स्वाधीनता प्राप्त हो"।

(२) "प्रांत ही वह क्षेत्र है जहाँ से उत्तरदायी शासन की ओर क्रमशः पग रखना आरंभ किया जा सकता है। कुछ उत्तरदायित्व के काम जनता को सहसा ही दे दिये जाने चाहियें, और, हमारा उद्देश्य यह है कि राज्य-कार्य में शीघ्र ही जनता को पूर्ण उत्तरदायित्व दे दिया जाय। इसका अर्थ यह है कि भारत-सरकार प्रांतों को अपने धर्म-निर्माण[2] शासन, तथा अर्थ-संबंधी अधिकारों का उतना अंश दे दे जिससे कि इसको अपनी जिम्मेदारियों के पालन में किसी प्रकार की बाधा न पड़े"।

---

(१) देखिये पृष्ठ ४२ पूर्व।

(२) अर्थात् नियम-निर्माण।

(३) "भारत-सरकार पूर्णतया पार्लमेंट के सन्मुख उत्तरदायी रहेगी और इस प्रकार के उत्तरदायित्व के अतिरिक्त मुख्य मुख्य बातों में इसका प्रभुत्व तथा अधिकार तब तक अलंघ्य रहेगा जब तक कि प्रांतों में किये गये परिवर्तनों का क्या प्रभाव होता है, यह न मालूम हो। इस बीच भारतीय धर्म-परिषद्[1] परिवर्द्धित की जायगी और इसमें जनता के अधिक से अधिक प्रतिनिधि लाने का यत्न किया जायगा तथा शासन-प्रबंध पर प्रभाव डालने का इसको अधिक अवसर दिया जायगा"।

(४) "पूर्ववर्णित परिवर्तन ज्यों ज्यों अपना प्रभाव डालें, त्यों त्यों प्रांतीय तथा भारत-सरकार पर पार्लमेंट तथा भारत-मंत्री का निरीक्षण अवश्य ही शिथिल कर दिया जाय"।

संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की सिफारिशें—इन मूल सिद्धांतों में, संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी ने किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया, वरन् निरीक्षण शिथिल करने और उत्तरदायी शासन को सार्थक बनाने के लिए उसने कुछ नयी सिफारिशें भी कीं। वह यह न चाहती थी कि उन सिफारिशों को क़ानून का रूप दिया जाय किंतु वह इस बात के पक्ष में अवश्य थी कि वे सिफारिशें प्रथाओं के रूप में सर्वमान्य समझी जायँ और उन पर अमल किया जाय। उनमें से निम्नलिखित सिफारिशें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) यदि भारत-सरकार और भारतीय व्यवस्थापक सभाएँ किसी विशुद्ध भारतीय प्रश्न पर, विशेष रूप से आर्थिक नीति-संबंधी प्रश्न पर, एकमत हों तो भारत-मंत्री को साधारणतया उनके निर्णय में हस्तक्षेप न करना चाहिये। भारत-मंत्री का हस्तक्षेप उसी समय होना चाहिये जब इन प्रश्नों का साम्राज्य की नीति पर हानिकारी प्रभाव पड़ता हो अथवा सम्राट की सरकार के किसी इकरारनामे में खलल पड़ता हो।

(२) भारत-सरकार को प्रांतीय शासन में अधिक हस्तक्षेप न करना चाहिये। संरक्षित विषयों के शासन के लिए भारत-सरकार ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी अवश्य है किंतु इन विषयों के शासन में कुछ ऐसी प्रथाओं का बनना आवश्यक है जिनके कारण भारत-सरकार

---

(१) व्यवस्थापक सभा या Legislature.

प्रांतीय शासन में उसी प्रकार हस्तक्षेप न करे जिस प्रकार भारत-मंत्री भारतीय शासन में।

(३) हस्तांतरित विषयों के शासन में प्रांतीय गवर्नरों का स्थान प्रायः वैसा ही होना चाहिये जैसा इंगलैंड के शासन में वहाँ के सम्राट का है। यदि किसी हस्तांतरित विषय के संबंध में, मंत्री और व्यवस्थापक सभा एकमत हों तो गवर्नर को चाहिये कि वह मंत्रियों को अपने इच्छानुकूल काम करने दे। यदि ऐसा करने में कुछ गल्तियाँ भी हों तो भी गवर्नर को हस्तक्षेप न करना चाहिये। गल्तियाँ करके, अनुभव-सिद्ध-ज्ञान के आधार पर ही उत्तरदायी शासन सफलतापूर्वक स्थापित किया जा सकता है।

(४) गवर्नरों को चाहिये कि वे प्रांतीय सरकार की नीति निर्धारित करने के लिए इक्जीक्यूटिव कौंसिलरों और मंत्रियों की संयुक्त सभाएँ किया करें। ऐसा करने से मंत्रियों को इक्जीक्यूटिव कौंसिलरों के अनुभव से लाभ पहुँचेगा और इक्जीक्यूटिव कौंसिलरों को मंत्रियों के द्वारा व्यवस्थापक सभा के वास्तविक विचारों का हाल मिलता रहेगा।

(५) मंत्रियों को, इंगलैंड का अनुकरण करके, संयुक्त उत्तरदायित्व की प्रणाली के आधार पर काम करना चाहिये इत्यादि इत्यादि।

इंगलैंड के वादों पर भारतवर्ष का अविश्वास—

सुधारों के कार्यान्वित होने में इंगलैंड और भारतवर्ष की मनोवृत्तियों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। इंगलैंड के कुछ लोग, भारतवर्ष की स्वाधीनता के पक्ष में थे। उनका विश्वास था कि मित्रता और सहयोग से ही भारतवर्ष ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अंतर्गत रह सकता है। अतएव, ब्रिटिश सरकार के उत्तरदायित्व की अवहेलना किये विना, वे चाहते थे कि जितनी जल्दी संभव हो, भारतवर्ष को स्वशासन का अधिकार दिया जाय। उनके विपरीत कुछ लोग ऐसे थे जो पाशविक वल के सहारे ही भारतवर्ष को इंगलैंड के अधीन रखना चाहते थे। उनके विचार में इंगलैंड और भारतवर्ष का स्थायी संवंध वनाये रखने का एकमात्र साधन सैनिक वल था। उपर्युक्त दोनों मनोवृत्तियाँ आज भी इंगलैंड में विद्यमान हैं और उनका प्रतिविंव भारतवर्ष में। जो लोग भारतवर्ष के स्वाधीन वनानेवालों के मत में विश्वास करते हैं, वे इंगलैंड के वादों पर भी विश्वास

करते हैं। उनकी धारणा है कि इंगलैंड के वादे सच्चे हैं और अवश्य ही पूरे किये जायँगे। किंतु जो लोग पाशविक बल की धमकियों की ओर ध्यान देते हैं, उनके विचार में इंगलैंड के सारे वादे केवल दिखाने के लिए ही होते हैं। कपोल-कल्पित-बातों और शब्दों को तोड़-मरोड़ कर, ब्रिटिश सरकार तरह तरह की घोषणाएँ करती है; किंतु वास्तव में भारतीय शासन अधिकाधिक अनुदार होता जाता है और भारतवर्ष उत्तरदायी शासन की ओर न जाकर क्रमशः निरंकुश नौकरशाही के अधिकार में आता जाता है। भारतवासियों की ये मनोवृत्तियाँ सन् १९२० में भी विद्यमान थीं। दोनों देशों की उपर्युक्त मनोवृत्तियों का मांट-फोर्ड सुधारों के कार्यान्वित रूप में काफी प्रभाव पड़ा जिसके कारण वे उस वास्तविक रूप को धारण न कर सके, जिसे वे अन्यथा धारण कर सकते थे।

सुधारों के कार्यान्वित रूप की जाँच—उपर्युक्त मनोवृत्तियों के बोझ को गले में बाँध, और मूल सिद्धांतों और प्रथाओं की शुभ आशा से सन् १९२१ में मांट-फोर्ड सुधार कार्यरूप में परिणत किये गये। अब तक उनके कार्यान्वित रूप की दो बार जाँच की गयी है—

(१) मुडीमैन कमेटी द्वारा सन् १९२४ में, और

(२) साइमन कमीशन द्वारा सन् १९२८ में।

भारतीय व्यवस्थापक सभा में स्वराज्य पार्टी के नेतृत्व में, फरवरी सन् १९२४ में एक प्रस्ताव, शीघ्र ही उत्तरदायी शासन स्थापित करने के पक्ष में, पास किया गया था। प्रस्ताव का आशय निम्नलिखित था—

"यह व्यवस्थापक सभा स-कौंसिल गवर्नर-जनरल से सिफारिश करती है कि शीघ्र ही उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए, भारतीय शासन-विधान में परिवर्तन किये जायँ, और इस उद्देश्य से एक गोलमेज़ परिषद् बुलायी जाय, जो अल्प-संख्यक जातियों और वर्गों के अधिकारों और हितों को ध्यान में रख कर, भारतवर्ष के लिए एक नये शासन-विधान की सिफारिश करे, उसे नयी निर्वाचित व्यवस्थापक सभा के सामने स्वीकृति के लिए पेश करे और तत्पश्चात् उसे कानून का रूप देने के लिए ब्रिटिश पार्लमेंट के पास भेजे।

फल-स्वरूप सन् १९२४ में मुडीमैन कमेटी[1] यह पता लगाने के लिए नियुक्त की गयी कि मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों का कार्यान्वित रूप क्या है। स्वराजी सदस्यों ने न तो इस कमेटी में स्थान ही ग्रहण किया और न इससे किसी प्रकार का सहयोग ही किया। कमेटी ने दो[2] रिपोर्टें तैयार कीं, एक बहुसंख्यक[3] और दूसरी अल्पसंख्यक। बहुसंख्यक रिपोर्ट प्रधानतः सरकारी सदस्यों की थी और उसमें सुधारों को आसानी से चलाने के लिए छोटे-मोटे परिवर्तनों की सिफारिशें की गयी थीं। अल्पसंख्यक रिपोर्ट ग़ैर-सरकारी सदस्यों की थी। ग़ैर-सरकारी सदस्य, द्वैध शासन-प्रणाली के कार्यान्वित रूप की जाँच करके, इस नतीजे पर पहुँचे थे कि छोटे-मोटे परिवर्तनों द्वारा, उस प्रणाली के दोषों का दूर करना असंभव था। इन्हें मिटाने की केवल एक ही औषधि थी और वह थी द्वैध शासन-प्रणाली का अंत किया जाना।

साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा, ८ नवंबर सन् १९२७ को

---

(१) कमेटी के कुल ९ सदस्य थे, तीन सरकारी और ६ ग़ैर-सरकारी। सर एलेक्जेंडर मुडीमैन, सर मुहम्मद शफी और सर एच० मॉनक्रीफ स्मिथ, सरकारी सदस्य थे, और सर ऑर्थर फ्रूम, महाराजा वर्दवान, सर शिव स्वामी अय्यर, मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना, डाक्टर प्रांजपे, और सर तेज वहादुर सप्रू ग़ैर-सरकारी सदस्य। पं० मोतीलाल नेहरू भी कमेटी के सदस्य बनाये गये थे, परंतु उन्होंने कमेटी के कार्यक्षेत्र के संकुचित होने के कारण उसमें काम करने से इनकार कर दिया।

(२) वहुसंख्यक रिपोर्ट पर सर एलेक्जेंडर मुडीमैन, सर मुहम्मद शफी, सर हेनरी मॉनक्रीफ स्मिथ, महाराजा वर्दवान, और सर ऑर्थर फ्रूम के हस्ताक्षर थे, और अल्पसंख्यक रिपोर्ट पर सर शिव स्वामी अय्यर, मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना, सर तेज वहादुर सप्रू, और डाक्टर प्रांजपे के।

(३) तत्कालीन व्यवस्थापक सभा के कुछ सदस्यों का मत था, कि वास्तव में अल्पसंख्यक रिपोर्ट ही वहुसंख्यक रिपोर्ट थी। सर मुहम्मद शफी ने सरकारी चलन के अनुसार वहुसंख्यक रिपोर्ट पर हस्ताक्षर किये थे। यदि वे अपने हस्ताक्षर सरकारी चलन के अनुसार न करते तो अल्पसंख्यक रिपोर्ट ही वहुसंख्यक रिपोर्ट होती। देखिये सर शिव स्वामी अय्यर का भारतीय व्यवस्थापक सभा में भाषण—Indian Quarterly Register 1925, Vol II p. 178.

की गयी थी। इसका कार्यक्षेत्र था, ब्रिटिश भारत के शासन की, शिक्षा के वृद्धि की, और प्रतिनिधि-संस्थाओं के विकास और तत्संबंधी समस्याओं की जाँच करना और इस बात की सिफारिश करना कि भारतीय शासन में उत्तरदायी शासन का सिद्धांत लागू करना ठीक है या नहीं और यदि ठीक है तो कहाँ तक। साथ ही इस बात की भी जाँच करना कि अभी तक उत्तरदायी शासन जिस मात्रा में स्थापित किया गया है, वह बढ़ाया जाय या घटाया जाय, या उसमें किसी प्रकार के छोटे-मोटे परिवर्तन किये जायँ। कमीशन ने एकमत होकर अपनी रिपोर्ट तैयार की। उसके दो भाग हैं। पहले भाग में मांट-फोर्ड सुधारों के कार्यान्वित रूप की जाँच की गयी है और दूसरे भाग में भविष्य शासन-विधान की सिफारिशें की गयी हैं।

इन दोनों रिपोर्टों के अतिरिक्त, मांट-फोर्ड सुधारों के कार्यान्वित रूप का थोड़ा बहुत पता हमें उन सरकारी और गैर-सरकारी व्यक्तियों की वक्तृताओं से चलता है जो सार्वजनिक जीवन के अनेक अवसरों पर दी जाती हैं। इंगलैंड की पार्लमेंट के भारत-शासन-संबंधी वादविवादों से भी हमें, कुछ अंश में, सुधारों के कार्यान्वित रूप का पता चलता है, और पार्लमेंट के कुछ सदस्यों की भारतीय शासन-संबंधी मनोवृत्ति का भी।

भारत-मंत्री का निरीक्षण—मांट-फोर्ड सुधारों के अनुसार भारतीय शासन के निरीक्षण का अधिकार भारत-मंत्री को दिया गया था। वे ही पार्लमेंट के प्रति भारतीय सु-शासन के लिए जिम्मेदार थे। क़ानूनी दृष्टि से भारत-सरकार के लिए भारत-मंत्री की आज्ञाओं का पालन करना अनिवार्य था। किंतु संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी ने स्वशासन की नींव डालने और उत्तरदायी शासन सफल बनाने के लिए उपर्युक्त पहली प्रथा चलाने की सिफारिश की थी। मिस्टर मांटेग्यू ने इस प्रथा के चलाने का थोड़ा बहुत प्रयत्न किया; किंतु बड़ी कठिनाइयों के साथ। पार्लमेंट के बहुतेरे सदस्य, इस प्रथा के मूल सिद्धांत के ही विरोधी थे। इस बात का पता, हमें पार्लमेंट के कुछ सदस्यों द्वारा दी गयी वक्तृताओं से चलता है। दो विषयों के प्रश्न और वक्तृताएँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

पहला विषय है स्वर्गीय लाला हरकिशन लाल का मंत्री के पद पर

नियुक्त किया जाना[1]। पार्लमेंट में इस विषय पर कई प्रश्न पूछे गये। लाला हरकिशन लाल सुधारों के पूर्व, राजद्रोही समझे जाते थे। अतएव भारत-मंत्री से यह पूछा गया कि क्या उनके निरीक्षण में राजद्रोहियों का मंत्री के पद पर नियुक्त किया जाना नियम-संगत था। भारत-मंत्री ने उत्तर दिया कि मंत्रियों की नियुक्ति प्रांतीय गवर्नरों के अधिकार में थी। अतएव उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए, इस विषय में भारत-मंत्री का हस्तक्षेप अनावश्यक था। फिर भी पार्लमेंट के कुछ सदस्यों ने निरीक्षण शब्द का अर्थ इतना सविस्तर बनाया[2] कि उसके आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि वे हस्तांतरित विषयों के शासन के लिए मंत्रियों के पद पर उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त कराना चाहते थे जिनको वे चाहें; न कि उनको जिन पर प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं का विश्वास हो या जिनको प्रांतीय गवर्नर नियुक्त करना चाहें।

दूसरा विषय है आर्थिक स्वाधीनता का प्रश्न। भारतीय व्यवस्थापक सभा ने सन् १९२० में रूई के कपड़ों पर ११ सैकड़े आयात कर लगाया। इससे लंकाशायर के व्यापारियों को धक्का पहुँचा और उन्होंने इस कर का विरोध करना आरंभ कर दिया। उनके दो शिष्टमंडल भारत-मंत्री से मिले। पहला मिस्टर मांटेग्यू के शासन-काल में और दूसरा लॉर्ड पील के शासन-काल में। दूसरे शिष्टमंडल ने आर्थिक स्वाधीनता को नियम-विरुद्ध बतलाते[3] हुए कहा कि गवर्मेंट ऑफ इंडिया एक्ट में उसका जिक्र भी नहीं

---

(1) Indian Annual Register, 1922-23 Vol. II. pp. 14-29.

(2) "Sir W. Davidson :—Is the Rt. Hon, Gentleman aware and is it not a fact, that the action of the Governor is subject to the superintendence, direction and control of the Secretary of State ?

Mr. Montagu :—No, that is not quite true, It is subject to the superintendence, direction and control of the Secretary of State except—I am quoting from memory—as provided in this Act, and under this Act the question of the Ministers is laid by Statute on the Governor."—Indian Annual Register 1922-23. Vol. II. p. 15.

(3) "Under the Act there is no suggestion of granting fiscal autonomy. It seems to have been settled upon the

था। संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी ने उसकी सिफारिश अवश्य की थी किंतु उनकी राय में वह सिफारिश एक्ट की प्रस्तावना के विरुद्ध थी। इस शिष्ट-मंडल के मतानुकूल भारत-मंत्री भारतवर्ष को, एक्ट से अधिक स्वाधीनता देते जाते थे जिसके कारण इंगलैंड और भारतवर्ष दोनों देशों में भ्रमपूर्ण विचारों के फैलने का भय था।'

मिस्टर मांटेग्यू की भारत-नीति पार्लमेंट के अनुदार सदस्यों को इतनी खटकती थी कि १४ फरवरी सन् १९२२ को सम्राट की वक्तृता पर संशोधन पेश करते हुए, सर डब्ल्यू जायनसन हिक्स (Sir W. Joynson Hicks) ने कॉमन सभा में निम्नलिखित आशय की वक्तृता दी थी— "भारतवर्ष की वर्तमान अशांति और उत्पात भारत-मंत्री की भारतीय नीति का परिणाम हैं। भारत-मंत्री ने सम्मिलित मंत्रिमंडल में होते हुए भी, भारतवर्ष में उदार सिद्धांतों के अनुसार शासन करने का प्रयत्न किया है। सम्मिलित मंत्रिमंडल के भारत-मंत्री को ऐसा न करना चाहिये था।"[1] मिस्टर मांटेग्यू के प्रति अनुदार सदस्यों का विरोध उत्तरोत्तर बढ़ाता गया और अंत में तुर्की के साथ संधि-संबंधी एक तार[2] के प्रकाशित करने के कारण एक ऐसी परिस्थिति आ पहुँची जिसके कारण, उन्हें मंत्रिमंडल से अलग होना पड़ा।

Report of the Joint Committee which considered the Govt. of India Bill, and we suggest that the opinion of the Joint Committee is really contrary to the preamble of the Act and the general intention of the Act itself"— Indian Annual Register 1922-23, Vol. II. p. 185.

(1) Indian Annual Register 1922-23, Vol. II. pp. 185-200.

(२) यह तार भारत-सरकार ने तुर्की के साथ संधि की शर्तों के विषय में भेजा था और शीघ्र ही प्रकाशित कराने की आज्ञा मांगी थी। भारत-मंत्री ने इसकी सूचना मंत्रिमंडल के अन्य सदस्यों को दे दी और तार को प्रकाशित करवाने की भी आज्ञा दे दी। इस कारण उन पर यह दोष लगाया गया कि उन्होंने मंत्रिमंडल के परामर्श बिना एक ऐसी बात प्रकाशित करवा दी है जिसका संबंध वास्तव में पर-राष्ट्र-सचिव के विभाग से था। ऐसा करना मंत्रिमंडल की नीति के विरुद्ध था। इस कारण भारत-मंत्री को अपने पद से हटना पड़ा।

मिस्टर मांटेग्यू के त्यागपत्र के पश्चात् उपर्युक्त प्रथा के चलाने का कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं किया गया। मुडीमैन कमेटी की बहुसंख्यक रिपोर्ट ने इस प्रथा के चलाने की पुनः सिफारिश[1] की। किंतु अल्पसंख्यक सदस्यों को, प्रथा द्वारा, भारत-मंत्री के आधिपत्य और निरीक्षण के शिथिल होने में संदेह था[2]। उनका यह भी ख्याल था कि तत्कालीन शासन-विधान के अनुसार, प्रथाओं पर अधिक विश्वास करना अनुचित था। उनके मतानुसार यह बतलाना भी कठिन था कि अमुक विषय विशुद्ध भारतीय विषय है अथवा नहीं।

साइमन कमीशन के सामने गवाही देते हुए, सर ज्योफ्रे कॉरबेट (Sir Geoffrey Corbett) ने, जो व्यापार-विभाग के सचिव थे, यह बतलाया था कि भारत-सरकार और भारत-मंत्री दोनों ने आर्थिक स्वाधीनता की प्रथा चलाने का प्रयत्न किया था। टैरिफ के विषय में स्पष्ट प्रश्न पूछने पर, सर ज्योफ्रे कॉरबेट ने भारत-सरकार के काम करने का ढंग इस प्रकार बतलाया—जब हमें कोई रिपोर्ट मिलती है, हम उस पर विचार करके अपनी नीति निर्धारित करते हैं, और भारत-मंत्री के पास उसकी सूचना, परामर्श के लिए भेजते हैं। अधिकांश अवसरों पर

---

(1) "The control of the Secretary of State and of the Secretary of State in council over the official Governments in India in cases affecting purely Indian interests should be relaxed and efforts should be directed towards establishing a practice in this respect."—Indian Quarterly Register 1925. Vol. I, p. 41.

(2) "We venture to doubt whether such a convention (as recommended by the majority) would be of any permanent value or would effectively put a stop to the powers of control, particularly when it is realised, that it is extremely difficult to define the expression 'purely Indian interests'. Bearing in mind the present Indian constitution, we do not feel justified in building much hope on such a convention."—Indian Quarterly Register 1925, Vol. II p. 47.

भारत-मंत्री हमारी नीति को स्वीकार कर लेते हैं; किंतु यदि किसी समय वे कोई सलाह देते हैं तो हम उस पर विचार करके अपनी अंतिम नीति निर्धारित करते हैं। भारत-मंत्री की सलाह का मानना हमारे लिए अनिवार्य नहीं है। तत्पश्चात् हम अपने विचारों को भारतीय व्यवस्थापक सभा में पेश करते हैं। यदि व्यवस्थापक सभा हमारे मत को स्वीकार कर लेती है, तो हमारा निश्चय, संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी द्वारा सांकेतिक प्रथा के अनुसार हो जाता है[1]।

व्यापार-विभाग के सचिव द्वारा दी गयी उक्त गवाही के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारत-सरकार, भारत-मंत्री का पूर्व परामर्श लेकर, अपनी राय निर्धारित करती थी और इस प्रकार, भारत-मंत्री के हस्तक्षेप के भय से मुक्त हो कर, वह अपना मत भारतीय व्यवस्थापक सभा के सम्मुख पेश करती थी। संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की सिफारिश संभवतः इस प्रकार की न थी। वह आर्थिक नीति में भारतवर्ष को उसी प्रकार की स्वाधीनता देने के पक्ष में थी जैसी ग्रेट ब्रिटेन आस्ट्रेलिया, कैनाडा, न्यूज़ीलैंड और दक्षिणी अफ्रीका को प्राप्त थी[2]। इन देशों की सरकारें अपनी आर्थिक नीति, किसी बाह्य पदाधिकारी के परामर्श के बिना अपनी अपनी व्यवस्थापक सभाओं की ही राय से निश्चित करती हैं। जिस ढंग से भारत-सरकार ने अपना काम किया उससे न तो आर्थिक स्वाधीनता की प्रथा की नींव पड़ी और न भारत-मंत्री का आधिपत्य और निरीक्षण विशेषरूप से कम हुआ। उच्च पदाधिकारियों का परामर्श कार्यरूप में आज्ञा के समान होता है। अतएव क़ानूनी दृष्टि से सारे काम होते रहे और संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी द्वारा सांकेतिक प्रथा की सुदृढ़ नींव न पड़ सकी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि अब गवर्नर-जनरल भारत-मंत्री

---

(1) Indian Quarterly Register 1928, Vol. II pp. 152-54.

(2) "Whatever be the right fiscal policy for India, for the needs of her consumers as well as for her manufactures, it is clear that she should have the same liberty to consider her interest as Great Britain, Australia, New Zealand, Canada and South Africa."—Kale—Indian Administration p. 82.

के केवल एजेंट[1] मात्र न रह कर. कुछ हद तक भारतवर्ष के शासक हो गये और भारतवर्ष को भी, आर्थिक समस्याओं के हल करने के लिए, पहले से कुछ अधिक अधिकार मिले।

केंद्रीय शासन—मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड एक्ट के कार्यान्वित रूप में केंद्रीय शासन की निम्नलिखित बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(अ) भारतीय व्यवस्थापक मंडल—सन् १९१९ के एक्ट के अनुसार भारतीय व्यवस्थापक मंडल पहले की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधि हो गया, निर्वाचकों की संख्या बढ़ी और असेंबली में ग़ैर-सरकारी सदस्यों का आधिक्य हो गया। असेंबली और कौंसिल ऑफ स्टेट के लिए भारतवर्ष के योग्य और प्रतिष्ठित व्यक्ति चुने गये। उनमें से कांग्रेसवादियों ने असहयोग और अड़ंगा-नीति का सहारा लिया। उनकी संख्या कुछ कम न थी। कई बार उनके कारण फाइनेंस (Finance) बिल तक अस्वीकार हुआ। ऐसे प्रस्ताव भी पेश किये गये जो संभवतः सहयोग की अवस्था में पेश न किये जाते। भारत-सारकार ने भी कई बार असेंबली के निर्णय की अवहेलना की। अनेक बार सर्टीफिकेट और रिकमंडेशन[2] के विशेष अधिकार काम में लाये गये और बहुतेरे

(१) भारतवासियों की यह शिकायत थी कि गवर्नर जनरल ब्रिटिश सरकार के एजेंट की हैसियत से काम करते हैं।
"If resentment has been felt in India that there has been a tendency on occasions to treat Viceroys of India as agents of the British Government, it is fair to add that there have been periods when Viceroys have almost regarded Secretaries of State as the convenient mouthpiece of their policy in Parliament" —Sir Tej Bahadur Sapru —Indian Constitution P. 59.

(२) रिकमंडेशन और सर्टीफिकेट के अधिकारों में निम्नलिखित भेद है। यदि गवर्नर जनरल किसी प्रस्ताव की सिफ़ारिश करते हैं और व्यवस्थापक मंडल या उसकी कोई सभा उस प्रस्ताव को पास नहीं करती है, तो गवर्नर जनरल उस प्रस्ताव को सर्टीफाई करके व्यवस्थापक मंडल या उसकी किसी सभा के अस्वीकार करने पर भी कानून का रूप दे सकते हैं।

अवसरों पर व्यवस्थापक सभा द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों पर कुछ अमल न किया गया।

(व) विशेष अधिकारों का प्रयोग—मांट-फोर्ड सुधारों के अनुसार गवर्नर जनरल को कई विशेष अधिकार दिये गये थे। कार्यान्वित रूप में उनका भी अच्छा खासा प्रयोग हुआ। इस प्रयोग के लिए भारतीय परिस्थिति कुछ अंश तक जिम्मेदार थी और कुछ अंश तक नौकरशाही की मनोवृत्ति जो आसानी में कम समय में बदली न जा सकती थी। कई बार फाइनेंस बिल सर्टीफाइ किया गया। देशी राजाओं की रक्षा[1] के प्रस्ताव को भी इसी प्रकार कानून का रूप दिया गया। असेंबली के सदस्यों में क्रमशः ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न हो गयीं जिससे वे यह समझने लगे कि गवर्नर जनरल किसी भी महत्वपूर्ण अस्वीकृत प्रस्ताव को, विशेष अधिकारों द्वारा कानून का रूप दे देंगे। ऑर्डीनेंसों की भी भरमार रही। केवल सन् १९३१ में १५ ऑर्डीनेंसें जारी की गयीं। सार्वजनिक शांति की रक्षा के नाम पर ऐसी ऑर्डीनेंसें बनीं जिनके द्वारा शासन-विभाग और पुलिस-विभाग के अधिकार अपरिमित रूप से बढ़े और जिनको राष्ट्रवादियों ने "काले कानून" की उपाधि दी। इसमें संदेह नहीं कि गवर्नर जनरल और वाइसराय ने जो कुछ किया, कानूनी दृष्टि से ठीक था। देश की अशांतिमयी अवस्था के कारण विशेष नियमों की आवश्यकता थी। किंतु उत्तरदायी शासन के ध्येय को सम्मुख रखते हुए गवर्नर जनरल के लिए यह मुनासिब था कि जिन दिनों व्यवस्थापक मंडल की बैठकें होती हों, कम से कम उन दिनों, सार्वजनिक शांति की रक्षा के कानून उसी से पास कराते और उन ऑर्डीनेंसों को भी रद कर देते जिनका व्यवस्थापक मंडल, विशेष रूप से असेंबली बहु-

---

(१) Princes Protection Bill—इस प्रस्ताव को भारत-सरकार ने व्यवस्थापक मंडल की छोटी सभा में सन् १९२२ में पेश किया था। इसका उद्देश्य था देशी रियासतों की रक्षा करना। प्रेस एक्ट के रद किये जाने के कारण सरकार के विचार में यह आवश्यक था कि देशी रियासतों की, भड़काने वाले लेखों और वक्तृताओं से रक्षा की जाय। छोटी सभा ने उस प्रस्ताव को अस्वीकार किया; जिसके कारण गवर्नर जनरल को सर्टीफिकेट का अधिकार प्रयोग करके उस प्रस्ताव को कानून का रूप देना पड़ा।

मत से विरोध करती हो। किंतु कार्य रूप में ऐसा न किया गया। मांटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों के काल में कुछ दिनों तक भारतवर्ष का शासन भारत-मंत्री की सहकारिता से ऑर्डीनेंसों द्वारा होता रहा। इससे अनेक राष्ट्रवादी इस परिणाम पर पहुँचे कि सन् १९१९ के सुधारों के होते हुए भी, भारतवर्ष उत्तरदायी शासन और लोकतंत्र से बहुत दूर था।

(स) भारत-सरकार द्वारा प्रांतीय सरकारों का निरीक्षण—मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों ने भारत-सरकार के निरीक्षण के अधिकारों में विशेष परिवर्तन नहीं किया था। अकेंद्रीकरण नियमों[1] द्वारा हस्तांतरित विषयों के संबंध में यह निश्चय अवश्य किया गया था कि कुछ विशेष अवसरों को छोड़कर गवर्नर जनरल इन विषयों के शासन में हस्तक्षेप न करें। कार्यरूप में कुछ हद तक ऐसा हुआ भी। यदि किसी अवसर पर गवर्नर जनरल को हस्तक्षेप करना भी पड़ा तो उसका मुख्य कारण था दोषयुक्त द्वैध शासन-प्रणाली। संरक्षित विषयों की बाबत गवर्नर जनरल के अपरिमित अधिकार थे। वे उनका निरीक्षण कर सकते थे और सचांलन भी। संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी ने इन विषयों के शासन में भी यह प्रथा चलाने की सिफारिश की थी कि यदि किसी विशुद्ध प्रांतीय विषय के शासन में प्रांतीय सरकारें और प्रांतीय व्यवस्थापक सभाएँ एकमत हों, तो गवर्नर जनरल को चाहिये कि वे उन्हें साधारणतया अपने इच्छानुकूल काम करने दें। कार्यरूप में यह प्रथा कहाँ तक स्थापित हुई यह बतलाना कठिन है। किंतु जिस ढंग से प्रांतीय सरकारें प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं को चलाती रहीं, उसे देख कर यह कहना अनुचित न होगा कि भारत-सरकार प्रांतीय शासन और प्रांतीय

---

(1) "The control of the Central Government over the Provinces has been reduced by rule 49, to cases in which interference is necessary for safeguarding all India subjects, to secure uniformity to deal with subjects which effect more than one province and to safeguard the due exercise and performance of any powers and duties of Central Government provided by specific sections of the Government of India Act."—Kale : Indian Administration. P. 141.

पांचवाँ परिच्छेद

देशी रियासतों का वैधानिक स्थान

१७५७ से १९२८ तक

प्राक्कथन—देशी रियासतों का वर्गीकरण—देशी रियासतें और ब्रिटिश भारत—सन् १७५७ से १७९८ तक; सन् १७९९ से १८१३ तक; सन् १८१४ से १८४८ तक; सन् १८४९ से १८५८ तक; सिपाही-विद्रोह और महाराणी की घोषणा; सन् १८५९ से १८७६ तक; सन् १८७७ से १९१४ तक—सन् १९१४ में देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत का संबंध—यूरोपीय महासमर और परिवर्तन के लक्षण—देशी नरेशों के शासन पर दृष्टिपात—बटलर कमेटी की रिपोर्ट—बटलर कमेटी की रिपोर्ट और नरेंद्र मंडल—बटलर कमेटी की रिपोर्ट और देशी राज्य-प्रजा-सम्मेलन—बटलर कमेटी की रिपोर्ट और ब्रिटिश भारत।

प्राक्कथन—भौगोलिक दृष्टि से समस्त भारतवर्ष एक देश है, पर राजनीतिक दृष्टि से उसके दो [१]मुख्य भाग हैं—

(अ) ब्रिटिश इंडिया, और

(ब) देशी रियासतें।

देशी रियासतों का क्षेत्रफल समस्त भारतवर्ष का २/५ है और उनमें लगभग ७,००,००,००० मनुष्य रहते हैं। इनकी संख्या कुल मिला कर ५६३ है[२]। ये रियासतें एक दूसरे से प्रायः सभी बातों में भिन्न हैं। कोई तो जैसे हैदराबाद, काश्मीर, मैसूर आदि, हजारों वर्गमील बड़ी हैं और किसी का क्षेत्रफल केवल कुछ एकड़ ही है। किसी की आमदनी करोड़ों रुपये है और किसी की केवल कई सौ रुपये। कुछ रियासतों के शासकों

---

(१) राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष के चार भाग हैं, ब्रिटिश इंडिया, देशी रियासतें, फ्रेंच इंडिया, और पुर्तगीज़ इंडिया। फ्रेंच और पुर्तगीज़ इंडिया का क्षेत्रफल १८३४ वर्गमील है और उनमें लगभग ९,००,००० मनुष्य रहते हैं।

(२) बटलर कमेटी के अनुसार देशी रियासतें कुल मिलाकर केवल ५६२ ही हैं।

को तोपों की सलामी मिलती है और कुछ के शासकों के आने जाने पर कोई ध्यान तक नहीं देता। कुछ सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से ब्रिटिश भारतीय प्रांतों से भी आगे हैं और कुछ मध्य-कालीन रंग में इतनी रंगी हैं कि संसार की आधुनिक प्रगति का उनके सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर अब तक कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। कुछ को दूसरों की अपेक्षा अधिक स्वाधीनता प्राप्त है, यहाँ तक कि कई रियासतों को अपना सिक्का चलाने का भी अधिकार है। इस विभिन्नता के साथ साथ, एक बात में प्रायः सभी रियासतें एक सी हैं। उनमें केवल उन्हीं के राजाओं द्वारा बनाये गये क़ानूनों के अनुसार शासन होता है, पार्लमेंट अथवा ब्रिटिश भारत द्वारा बनाये गये क़ानूनों के अनुसार नहीं।

देशी रियासतों का वर्गीकरण—देशी रियासतों का वर्गीकरण करना आसान नहीं। वर्गीकरण के कई आधार हो सकते हैं। राजनीतिक और सामाजिक उन्नति के आधार पर कुछ रियासतें उन्नतिशील कही जा सकती हैं और कुछ स्थायी अथवा अवनति की ओर अग्रसर। क्षेत्रफल के आधार पर कुछ रियासतें बड़ी कही जा सकती हैं कुछ मध्यवर्ती और कुछ छोटी जैसे जागीर आदि। सांप्रदायिक आधार पर कुछ रियासतें हिंदू रियासतें कही जा सकती हैं और कुछ मुस्लिम[1]। बटलर कमेटी[2] ने नरेंद्र-मंडल की सदस्यता के आधार पर देशी रियासतों को निम्नलिखित तीन समूहों में विभक्त किया है—

(अ) वे रियासतें जिनके राजा स्वतः नरेंद्र-मंडल के सदस्य हैं। इनकी संख्या १०८ है, क्षेत्रफल लगभग ५,००,००० वर्गमील और आबादी लगभग ६,००,००,००० व्यक्ति। ये सारी रियासतें सलामी रियासतें हैं।

---

(१) हैदराबाद का क्षेत्रफल लगभग ८४,००० वर्गमील है, उसमें १,२५,००,००० मनुष्य रहते हैं और उसकी सालाना आमदनी लगभग ६⅓ करोड़ रुपये हैं। हैदराबाद की अधिकांश प्रजा हिंदू है किंतु राजा मुसलमान। काश्मीर की अधिकांश प्रजा मुसलमान है किंतु राजा हिंदू। हैदराबाद के राजा को निज़ाम कहते हैं। उन्हें हिज़ इक्ज़ाल्टेड हाईनेस की उपाधि प्राप्त है। हैदराबाद के उत्तराधिकारी को प्रिंस ऑफ़् बरार कहते हैं।

(२) यह कमेटी दिसंबर सन् १९२८ में सर हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में देशी रियासतों के वैधानिक स्थान की जांच करने के लिए नियुक्त की गयी थी।

(ब) वे रियासतें जिनके राजा अपने ही समुदाय के १२ प्रतिनिधियों को नरेंद्र-मंडल में भेजते हैं। इनकी संख्या १२७ है, क्षेत्रफल लगभग ८०,००० वर्गमील और आबादी लगभग ८०,००,००० व्यक्ति।

(स) वे रियासतें जिनके नरेंद्र-मंडल में प्रतिनिधि नहीं होते। इनकी संख्या ३२७ है, क्षेत्रफल ६४०६ वर्गमील और आबादी लगभग ८,००,००० व्यक्ति।

किसी एक आधार पर किया गया वर्गीकरण सब लोगों के लिए संतोषप्रद नहीं हो सकता किंतु व्यावहारिक दृष्टि से बटलर कमेटी के वर्गीकरण से देशी रियासतों की वास्तविक स्थिति का थोड़ा बहुत पता अवश्य चलता है।

देशी रियासतें और ब्रिटिश भारत—ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों का संबंध समयानुसार बदलता रहा है। १७ वीं शताब्दी में, जब ईस्ट इंडिया कंपनी केवल एक व्यापारी संस्था थी, वह मुग़ल सम्राट के प्रति श्रद्धा का व्यवहार करती थी और देशी नरेशों की आज्ञा से अपने व्यापारिक केंद्र और गोदाम स्थापित करती थी। औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात्, भारतीय राजनीतिक परिस्थिति के कारण, कंपनी को अपनी रक्षा के लिए दुर्ग बनाने पड़े और फ्रांसीसियों की प्रतिस्पर्धा के कारण, उसे देशी राजाओं की लड़ाइयों में भाग लेना पड़ा। फलस्वरूप प्लासी और बक्सर की लड़ाइयों के पश्चात्, कंपनी बंगाल की शासक बन गयी। तत्पश्चात् देशी रियासतों के संबंध के विषय में उसकी नीति क्रमशः बदलती रही। सन् १७५७ के पश्चात्, ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के संबंध का अध्ययन निम्नलिखित विभिन्न कालों में किया जा सकता है—

(क) सन् १७५७ से १७९८ तक—इस काल में कंपनी अनेक भारतीय शक्तियों में से केवल एक शक्ति थी। अभी वह महाशक्ति न हो पायी थी। इंगलैंड के संरक्षक (डाइरेक्टर) लोग भी कंपनी के शासनाधिकार के पक्षपाती न थे। उन्हें रुपये की ज़रूरत थी, राज्य की नहीं। अतएव वे बार बार कंपनी के भारतीय पदाधिकारियों को लिखा करते थे कि राज्य का बढ़ाना "हमारी नीति के विरुद्ध है"। ऐसी अवस्था में कंपनी, तत्कालीन स्वतंत्र देशी नरेशों के साथ अधिक से अधिक

बराबरी का वर्ताव कर सकती थी। इस काल की अधिकांश संधियों में बराबरी का ही भाव प्रधान है। उदाहरण के लिए सन् १७८४ की मंगलोर की संधि को लीजिये। यह कंपनी और टीपू सुल्तान के बीच में द्वितीय मैसूर युद्ध के पश्चात् हुई थी। इसकी मुख्य धाराएँ थीं दोनों ओर के जीते गये प्रदेशों का लौटाया जाना और दोनों ओर के जीवित बंदियों का छोड़ा जाना। सन् १७६० में पेशवा और निज़ाम के साथ की गयी संधियाँ भी इसी प्रकार की हैं। अतएव इस काल में ब्रिटिश भारत और प्रमुख देशी रियासतों में बराबरी का व्यवहार था और कंपनी की नीति, जहाँ तक संभव था, देशी रियासतों के साथ छेड़-छाड़ न करने की थी।

(ख) सन् १७६६ से १८१३ तक—सन् १७६८ से १८०५ तक मारकिस ऑफ़ वेलेज़ेली कंपनी के भारतीय प्रदेशों के गवर्नर जनरल थे[1]। वॅरेन हेस्टिंग्स के शासन काल में कंपनी की स्थिति काफी सुदृढ़ हो गयी थी। लॉर्ड कॉर्नवालिस ने तृतीय मैसूर युद्ध के पश्चात् कंपनी का राज्य और भी बढ़ा दिया था। अतएव मारकिस ऑफ़ वेलेज़ेली इस परिणाम पर पहुँचे कि कंपनी उन दिनों, भारतवर्ष की सब से अधिक शक्तिवान शक्ति थी और देश की शांति के लिए यह आवश्यक था कि देशी रियासतें कंपनी के साथ 'सहायक-प्रथा'[2] (Subsidiary Alliance) के अनुसार संधियाँ करें। इस परिपाटी की तीन मुख्य शर्तें थीं—

(अ) कंपनी की सेना को अपने खर्च से अपने राज्य में रखना।

---

(१) रेग्युलेटिंग एक्ट के अनुसार सन् १७७३ में गवर्नर जनरल का पद बना था। उस समय वे केवल बंगाल के गवर्नर जनरल कहे जाते थे। सन् १८३३ में पहले पहल वे भारतवर्ष के गवर्नर जनरल कहलाये।

(२) "सहायक प्रथा" की शर्तें कुछ अंश में युरोपीय परिस्थिति के अनुकूल थीं। इन दिनों युरुप में फ्रांस की राज्य-क्रांति-संबंधी युद्ध चल रहे थे। नैपोलियन ईजीप्ट तक पहुँच चुका था और टीपू सुल्तान, निज़ाम और मरहठे उससे पत्र-व्यवहार कर रहे थे। सहायक-प्रथा द्वारा ही, इन दिनों, भारतवर्ष में फ्रांस का प्रभाव मिटाया जा सकता था।

(ब) किसी अन्य युरोपीय जाति के निवासी को सैनिक अथवा राजनीतिक काम के लिए राज्य में न घुसने देना।

(स) दूसरी रियासतों के साथ स्वतंत्र व्यवहार न करके कंपनी की सरकार द्वारा व्यवहार करना।

पेशवा, निज़ाम आदि कई देशी राजाओं ने 'सहायक-प्रथा' के अनुसार कंपनी से नयी संधियाँ कीं। कंपनी का आधिपत्य देशी नरेशों पर क्रमशः बढ़ता गया, पर अब तक उसे इस बात का अधिकार न था कि वह उनके भीतरी मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप कर सके।

(ग) सन १८१४ से १८४८ तक—सन् १८१३ में लॉर्ड हेस्टिंग्स गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। वेलेज़ेली की नीति के कारण कंपनी भारतवर्ष की महाशक्ति बन चुकी थी। अतएव लॉर्ड हेस्टिंग्स ने देशी रियासतों के साथ ब्रिटिश आधिपत्य की नीति (Policy of Subordination) का प्रयोग किया। देशी रियासतें अब ब्रिटिश सरकार के अधीन समझी जाने लगीं और उनकी एक दूसरे के साथ स्वतंत्र व्यवहार करने की स्वाधीनता बिल्कुल छीन ली गयी। १३ जनवरी सन् १८१८ की उदयपुर की संधि[१] से हमें इस बात का पता चलता है। लॉर्ड हेस्टिंग्स की धारणा थी कि देशी रियासतों की भीतरी अशांति और उथल-पुथल का रोकना ब्रिटिश सरकार का कर्तव्य है। अतएव उन्होंने गायकवाड़ से संधि करके, काठियावाड़ की लगभग १४५ रियासतों को ब्रिटिश सरकार का आधिपत्य स्वीकार कराया। राजपूताना की २० रियासतों और मध्य-भारत की १४५ रियासतों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया गया। उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त लॉर्ड हेस्टिंग्स की नीति की एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। वे देशी रियासतों को ब्रिटिश सरकार

---

(१) इस संधि की शर्तों के लिए देखिये Singh : Indian States and British India—Their Future Relation pp. 28-29. संधि की तीसरी धारा इस प्रकार है—

"The Maharana of Udeypore will always act in subordinate co-operation with the British Government and acknowledges its supremacy and will not have any connection with any other chiefs or states."

के अधीन तो अवश्य करना चाहते थे किंतु उनके अस्तित्व के मिटाने के पक्ष में न थे। हाँ, वे उनको एक दूसरे से अलग अवश्य रखना चाहते थे।

(घ) सन् १८४० से १८५८ तक—सन् १८४८ में लॉर्ड डलहौज़ी भारतवर्ष के गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। वे लॉर्ड हेस्टिंग्स की उस नीति के विरुद्ध थे जिसके कारण उन्होंने छोटी-छोटी रियासतों का अस्तित्व कायम रखा था। उनके विचार में कुशासन रोकने का एक मात्र साधन था छोटी रियासतों का ब्रिटिश राज्य में मिला लिया जाना। अतएव उन्होंने अवसरानुकूल देशी रियासतों के मिलाने की नीति का अवलंबन[1] किया। उनकी नीति के अनुसार देशी नरेशों को, यदि वे संतानहीन होते थे, तो विशेष अवसरों को छोड़ कर, उन्हें उत्तराधिकारी के गोद लेने की आज्ञा न मिलती थी। यह सिद्धांत[2] पुराना था। सन् १८३४ में भी संरक्षकों (डाइरेक्टरों) ने इस पर जोर दिया था। लॉर्ड डलहौज़ी ने इस पर अमल करना आरंभ किया जिसके कारण सतारा, नागपुर, तंजोर, जैतपुर और झांसी की रियासतों का अंत हो गया। अवध का राज्य भी बहुत दिनों के कुशासन के कारण ब्रिटिश भारत में मिला लिया गया। लॉर्ड डलहौज़ी की इस नीति के कारण देशी राजे महाराजे कांप उठे। सिपाही-विद्रोह के अनेक कारणों में से, डलहौज़ी द्वारा देशी रियासतों का ब्रिटिश राज्य में मिलाया जाना एक प्रधान कारण था।

(ङ) सिपाही-विद्रोह और महाराणी की घोषणा—सिपाही-विद्रोह में कई देशी नरेशों ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध तलवार उठायी किंतु अधिकांश रियासतें पूर्ववत् राजभक्त बनी रहीं। विद्रोह शांत होने के पश्चात्, कंपनी का अंत हो गया और भारतीय शासन की बागडोर ब्रिटिश पार्लमेंट के हाथ में आ गयी। महाराणी विक्टोरिया भारतवर्ष की भी महाराणी बनीं और अपनी घोषणा में उन्होंने देशी नरेशों के संबंध में निम्नलिखित सान्त्वनादायिनी बातों पर जोर दिया—

"...हम इस बात की घोषणा करती हैं कि हम ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा की गयी देशी नरेशों की सारी संधियों और इक़रारनामों का आदर

(१) इस नीति को अंगरेज़ी में Doctrine of Lapse कहते हैं।

(2) V. A. Smith : The Oxford History of India p. 701.

करेंगी और हमारी आशा है कि वे भी ऐसा ही करेंगे। हम अपने वर्तमान राज्य को बढ़ाना नहीं चाहतीं और यदि हम अपने राज्य और अधिकारों पर बिना दंड दूसरे को हमला न करने देंगी, तो हम दूसरों के राज्य और अधिकारों पर आक्रमण करने की अनुमति भी देंगी। हम देशी नरेशों की शान, मान और अधिकारों का वैसा ही आदर करेंगी जैसा अपनी; और हम चाहती हैं कि वे और हमारी प्रजा दोनों, उस सुखमय जीवन और सामाजिक उत्थान से लाभ उठावें जो केवल आंतरिक शांति और सुशासन में ही मिल सकते हैं।"[१]

(च) सन् १८५९ से १८७६ तक—महाराणी विक्टोरिया की उपर्युक्त घोषणा के होते हुए भी ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों का संबंध समयानुकूल बदलता रहा। इंगलैंड के राजनीतिक दलों, गवर्नर जनरल के विचारों और रेजीडेंटों और एजेंटों के व्यवहारों का इस संबंध पर बड़ा प्रभाव पड़ा। महाराणी की घोषणा के पश्चात् ही, लॉर्ड कैनिंग ने इस बात पर जोर दिया था कि समस्त भारतवर्ष में इंगलैंड की महाराणी का राजैश्वर्य और आधिपत्य है और देशी नरेश उन्हीं की छत्रछाया में रहते हैं। देशी नरेशों को सनदें[२] देने के पूर्व उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया था कि उनके द्वारा भारत-सरकार के उस अधिकार में किसी प्रकार का परिवर्तन न होगा जिसकी वजह से वह कुशासन-परिणाम-स्वरूप अराजकता को रोक सकती है या समुचित कारण होने पर, किंचित काल के लिए देशी राज्य को अपने अधीन कर सकती है। "इन सनदों के अधार पर हमारे उस अधिकार में भी किसी प्रकार की कमी न होगी जिसके कारण राजद्रोही होने पर या संधि

---

(1) Keith : Speeches on Indian Policy. vol. I p. 383.

(२) महाराणी की घोषणा को सार्थक बनाने के लिए लगभग १६० सनदें दी गयी थीं जिनके अनुसार तत्कालीन रियासतों के उत्तराधिकारी निश्चित किये गये थे। उनमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि जब तक उन रियासतों के शासक राजभक्त बने रहेंगे, उन सनदों में किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जायगा। सनदों के दिये जाने के पूर्व लॉर्ड कैनिंग ने यह स्पष्ट कह दिया था कि कुशासन को रोकने के लिए भारत-सरकार को रियासतों की आंतरिक बातों में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा।

तोड़ने पर हम किसी रियासत को वड़ा से बड़ा दंड दे सकते हैं और उसको जब्त भी कर सकते हैं"। लॉर्ड कैनिंग की नीति[1] के कारण, देशी रियासतें एक प्रकार से ब्रिटिश साम्राज्य का भाग बना ली गयीं और इंगलैंड की महाराणी का आधिपत्य उन पर पूर्णतया स्थापित हो गया।

लॉर्ड कैनिंग के पश्चात्, पर-राष्ट्र-विभाग[2] देशी रियासतों के साथ मनमाना व्यवहार रहा। रेज़ीडेंटों, एजेंटों आदि में देशी रियासतों की स्वाधीनता का पक्ष ग्रहण करनेवाले विरले ही व्यक्ति थे। शासन करना उनका उद्देश था चाहे वह संधियों को भंग करके ही क्यों न होता हो। ये लोग रियासतों के भीतरी मामलों में भी हस्तक्षेप करते थे और देशी नरेशों के राजैश्वर्य को क्रमशः घटाते जाते थे। कालांतर में कुछ ऐसी प्रथाएँ चल पड़ीं जिनका माना जाना अनिवार्य समझा जाने लगा, पर जो देशी रियासतों के साथ की गयी संधियों के प्रतिकूल थीं। ब्रिटिश सरकार ने भी क्रमशः उन प्रथाओं को स्वीकार कर लिया। १ जनवरी सन् १८७७ को महाराणी विक्टोरिया भारतवर्ष की सम्राज्ञी[3] बनीं और दिल्ली में इसके लिए राजदरबार भी किया गया।

---

(1) Policy of Subordinate Union.

(२) पर-राष्ट्र-विभाग गवर्नर जनरल के अधीन था। इसका काम था भारतवर्ष के पर-राष्ट्र संबंधों और देशी रियासतों के संबंधों की देखभाल करना। गवर्नर जनरल के अधीन पर-राष्ट्र-मंत्री (Foreign Secretary) इन सब बातों का निरीक्षण किया करता था। रेजीडेंट, एजेंट आदि सब उसी के अधीन थे। कालांतर में सन् १९१५ में इस विभाग के दो हिस्से कर दिये गये, परराष्ट्र-विभाग, और पोलीटिकल विभाग। इसके बाद से पोलीटिकल विभाग ही, गवर्नर जनरल की अध्यक्षता में, देशी रियासतों की देखभाल करता है।

(३) महाराणी विक्टोरिया के सम्राज्ञी बनने के पूर्व भी, कार्यरूप में ब्रिटिश सरकार का आधिपत्य स्थापित हो चुका था। यह बात सन् १८७३-७५ के बड़ौदा वाले मामले से स्पष्ट है। बड़ौदा के कुशासन की जांच करने के लिए इन दिनों एक कमीशन नियुक्त किया गया था। गायकवाड़ ने उसका विरोध किया। पर तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड नॉर्थब्रुक ने कमीशन को आवश्यक बतलाते हुए इस प्रकार लिखा "गायकवाड़ अपने कर्तव्यों और जिम्मेदारियों के लिए ब्रिटिश सरकार और अपनी प्रजा दोनों के प्रति

कुछ देशी नरेश इसके प्रतिकूल थे, किंतु उन्हें ब्रिटिश शक्ति के सामने सिर झुकाना पड़ा[1]। इस प्रकार देशी नरेशों और ब्रिटिश सरकार के संधि और सनदों द्वारा संस्थापित संबंध की इतिश्री होने लगी।

(छ) सन् १८७७ से १९१४ तक—सन् १८७७ से १९१४ तक ब्रिटिश-भारत और देशी रियासतों के संबंध में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। पर-राष्ट्र-विभाग पूर्ववत् अपने इच्छानुकूल काम करता रहा। इस साल की मुख्य उल्लेखनीय घटना है मनीपूर का मामला। यह १८९१-९२ में हुआ था। आसाम के चीफ़ कमिश्नर चार और ब्रिटिश अफसरों के साथ मनीपूर के किसी झगड़े को निवटाने के लिए वहाँ गये थे। राजा के भाई और रियासत के प्रधान मंत्री ने उन सबको मरवा डाला। इस हत्याकांड का वदला लेने के लिए मनीपूर में सेना भेजी गयी, सारे अभियुक्त गिरफ्तार कर लिये गये और उनको प्राण-दंड दिया गया। भीतरी वातों में इस प्रकार का हस्तक्षेप होते हुए भी, सन् १९०३ में, सम्राट् एडवर्ड सप्तम ने और सन् १९११ में सम्राट् जॉर्ज पंचम ने, देशी रियासतों की स्वाधीनता वनाये रखने, उनके मान और अधिकारों की रक्षा करने और उनके हितों के वढ़ाने के संवंध में पुनः घोषणाएँ कीं। क़ानूनी और वास्तविक परिस्थिति का यह अंतर भारतवर्ष के लिए एक अपूर्व वात थी। पर अंगरेज़ लोग उससे परिचित थे। उनके शासन-विधान के क़ानूनी और वास्तविक रूप में ज़मीन आसमान का अंतर है।

इस काल में देशी रियासतों के विषय में कई महत्वपूर्ण ग्रंथ भी लिखे गये। उनमें से दो ग्रंथ विशेषतया उल्लेखनीय हैं—

उत्तरदायी है। यदि ये जिम्मेदारियां तोड़ी जाती हैं या कुशासन वढ़ता है या वड़ौदा की प्रजा के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार नहीं किया जाता या लोगों की जान और माल खतरे में रहते हैं तो ब्रिटिश सरकार इन वुराइयों को दूर करने और सुशासन स्थापित करने के लिए, जिस ढंग से उचित समझेगी, हस्तक्षेप करेगी। इस प्रकार का सामयिक हस्तक्षेप गायकवाड़ के प्रजा के प्रति कर्तव्यपालन के लिए जितना आवश्यक है उतना ही वह उनके लिए भी मित्रता का काम है।

(1) Singh : Indian States and British India : Their Future Relation. p. 36.

(१) सर लुई टपर का "अवर इंडियन प्रोटेक्टोरेट (Sir Luois Tupper : Our Indian Protectorate) और

(२) सर विलियम ली वॉर्नर का "प्रोटेक्टेड प्रिंसेज ऑफ् इंडिया" (Sir William Lee Warner : Protected Princes of India.)। कहा जाता है कि सर लुई टपर ने एक और ग्रंथ तैयार किया था जिसके अनुसार पर-राष्ट्र-विभाग के पदाधिकारी देशी रियासतों के साथ व्यवहार करते थे। पर वह ग्रंथ अब तक अलभ्य है। बटलर कमेटी के सामने गवाही देने के लिए देशी नरेशों के मागने पर भी यह ग्रंथ उनको न दिया गया था[1]। अपनी प्राप्य पुस्तक में सर लुई टपर से देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत का संबंध इस प्रकार लिखा है। देशी रियासतें अधीनस्थ राज्य (Fuedatory States) हैं। वे भारत-सरकार के अधीन हैं। ब्रिटिश-सरकार और भारत-सरकार दोनों ही उनके साथ जैसा चाहें, वैसा व्यवहार कर सकती हैं। देशी नरेश केवल एजेंट मात्र हैं। वे विभिन्न प्रदेशों के पुस्तैनी अफ़सर हैं। सर लुई टपर के इन विचारों के कारण देशी राजे महाराजे पुनः घबड़ाये। इसके एक बरस पश्चात् पोलीटिकल विभाग के पदाधिकारी, सर विलियम ली वॉर्नर, की पुस्तक प्रकाशित हुई। सनदों, संधियों, इक़रारनामों और शाही घोषणाओं के बंधन को मानते हुए भी सर विलियम ली वॉर्नर ने मनुष्य के प्रगतिशील स्वभाव पर जोर दिया और यह बतलाया कि संधियों आदि का वास्तविक अर्थ उनके अमल से ही पाया जा सकता है। कार्यरूप में जो प्रथाएँ चल पड़ी हैं, वे सब रियासतों पर लागू हैं; क्योंकि सारी रियासतें, एक ही परिवार की सदस्य हैं। अंत में सर विलियम ली वॉर्नर भी सर लुई टपर से मिलते जुलते इस नतीजे पर पहुँचे कि अधिपति-सरकार

---

(1) "This work on practice which is jealously guarded was issued to the Service confidentially and is still the basis of the Department's policy..........For when the Princes asked to see a copy of Tupper's book so that they might instruct their Counsel Sir Leslie Scott, on the vital issues submitted to the Harcourt Butler Committee, their request was refused by the India Office"—Nicholson : Scraps of Paper, p. 58.

(Paramount Power) कमोवेश प्रत्येक रियासत में अपने अधिकारों पर अमल कर सकती है।

इसी काल में भारत-सरकार और देशी रियासतों ने परस्पर सहयोग करके साम्राज्य के हित-साधन के अनेक कार्य किये। रेल, तार, डाकखाने, नहरों आदि के कारण समस्त भारतवर्ष बहुतेरी बातों में एकता के सूत्र में बँध गया। २९ रियासतों ने ब्रिटिश भारतीय सेना की भाँति अपनी सेनाओं का संगठन किया और सन् १९१५ में, जब युरोपीय महासमर आरंभ हुआ, देशी रियासतें और ब्रिटिश भारत दोनों ही इंगलैंड के साथ साथ रण-क्षेत्र में कूद पड़े।

सन् १९१४ में देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत का संबंध—देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के संबंध विषयी उपर्युक्त लगभग २०० बरस के इतिहास के अध्ययन करने के पश्चात् यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है कि सन् १९१४ में दोनों का संबंध वास्तव में किस प्रकार का था। सन् १९१४ में देशी रियासतों को पर-राष्ट्र-संबंधी सारी बातें ब्रिटिश सरकार के अधीन थीं। रियासतें न तो बाहरी शक्तियों से संधियाँ कर सकती थीं और न अन्य युरोपियनों को ब्रिटिश सरकार की आज्ञा बिना अपने राज्य में नौकरियाँ दे सकती थीं। दूसरे देशों से व्यापारिक संधियाँ करना भी उनके अधिकार से बाहर था। रियासतों की प्रजा को विदेशों में जाने के लिए पासपोर्ट भी ब्रिटिश सरकार से ही मिलते थे। अधिपति शक्ति की आज्ञा के बिना देशी नरेश किसी स्वतंत्र राज्य के खिताब या पदवी आदि को स्वीकार न कर सकते थे। देशी रियासतों का परस्पर संबंध भी ब्रिटिश सरकार के अधीन था। वे एक दूसरे से बिल्कुल अलग थीं और ब्रिटिश सरकार के बिना न तो वे एक दूसरे से सहयोग कर सकती थीं और न अपने झगड़ों को ही निबटा सकती थीं। ब्रिटिश सरकार उनको विदेशी आक्रमणों से बचाती थी और आवश्यकतानुसार भीतरी हलचल और उपद्रव से भी। इस अधिकार के बदले देशी रियासतें न तो अपने राज्य में बंदूकें आदि ही बनवा सकती थीं और न नियत सेना से अधिक सेना ही रख सकती थीं। अवसर पड़ने पर उन्हें ब्रिटिश सेना को अपनी छावनियों में टिकाना पड़ता था और अपने तारघरों, डाक-

खानों और रेलों में भारत-सरकार का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ता था। अधिपति-शक्ति उनकी भीतरी बातों में हस्तक्षेप कर सकती थी। उत्तराधिकारी निश्चित करना, रिजेंसी नियुक्त करना, नरेश को गद्दी से उतारना, संरक्षक की हैसियत से काम करना. आदि सभी बातें अधि-पति-शक्ति के अधीन थीं। नित्य-प्रति के शासन में भी ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप विद्यमान था। रेज़ीडेंटों के अतिरिक्त, ब्रिटिश सरकार कभी कभी रियासतों के मंत्रियों और दीवानों को अपने इच्छानुकूल नियुक्त कराती थी और उनके नियमों आदि का कड़ा निरीक्षण करती थी। ब्रिटिश सरकार की ओर से सन् १९१४ तक स-कौंसिल गवर्नर जनरल देशी रियासतों से व्यवहार करते थे, पर महत्वपूर्ण बातों की सूचना भारत-मंत्री को भेजी जाती थी। गवर्नर जनरल की ओर से कुछ रियासतों में रेज़ीडेंट रहते थे, कुछ में एजेंट और कुछ प्रांतीय सरकारों के अधीन थीं।

युरोपीय महासमर और परिवर्तन के लक्षण—युरोपीय महासमर में देशी रियासतों ने ब्रिटिश भारत के साथ साथ तन और धन दोनों से इंगलैंड की सहायता की। कुछ रियासतों के राजा स्वयं रण-क्षेत्र में लड़ने के लिए गये। इस राजभक्ति के कारण, ब्रिटिश सरकार की नीति में थोड़ा वहुत परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। युद्धकालीन साम्राज्य-मंत्रि-मंडल (Imperial War Cabinet) और साम्राज्य सम्मेलनों (Imperial Conferences) में देशी नरेश भी भारतवर्ष के प्रतिनिधि होकर शामिल होने लगे। युद्ध समाप्त होने पर, वरसाई के संधि-पत्र पर एक देशी नरेश ने भी भारतवर्ष की ओर से हस्ताक्षर किये। यही नहीं, संधि के पश्चात्, साम्राज्य-सम्मेलनों और राष्ट्र-संघ के अधिवेशनों में भारतवर्ष के प्रतिनिधियों में एक देशी नरेश भी होने लगा[1]। सन् १९२१ में नरेंद्र-मंडल स्थापित किया गया। इन घटनाओं के कारण देशी नरेशों का मान पहले से कुछ अधिक हो गया। अब वे अलग अलग न रह कर, अपने हित की बातों और अपने अधिकारों के लिए नरेंद्र-मंडल के अधिवेशनों में साथ साथ परामर्श करने

---

(१) आम तौर से राष्ट्र-संघ में भारतवर्ष के तीन प्रतिनिधि होते हैं; भारत-मंत्री, एक देशी नरेश और एक ब्रिटिश भारत का राजनीतिज्ञ।

लगे और अंतर्राष्ट्रीय जगत में भी उनका अस्तित्व परोक्ष रीति से स्वीकार किया जाने लगा।

किंतु पोलीटिकल विभाग के प्रतिकूल उनकी शिकायतें पूर्ववत् बनी रहीं। सन् १९१७ में उनकी परेशानी और भी बढ़ी। मिस्टर मांटेग्यू की घोषणा के कारण व अपने भविष्यत् के लिए भयभीत हुए। अभी तक भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन न था। भारत-सरकार अपनी नीति और कामों के लिए ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी थी। किंतु घोषणा के अनुसार उत्तरदायी शासन स्थापित होने पर वह भारतीय व्यवस्थापक मंडल के प्रति उत्तरदायी होने को थी। कार्यरूप में स-कौंसिल गवर्नर जनरल ही देशी रियासतों से व्यवहार करते थे। इसलिए देशी राजाओं को इस बात की आशंका हुई कि स-कौंसिल गवर्नर जनरल के भारतीय व्यवस्थापक मंडल के प्रति उत्तरदायी होने पर वे भी, एक प्रकार से, ब्रिटिश भारत के अधीन हो जायँगे। ऐसा होना उनके लिए हानिकारक था। देशी रियासतों की शासन-पद्धति और ब्रिटिश भारत की शासन-पद्धति में जमीन आसमान का अंतर था। नागरिकों के अधिकारों की भी यही अवस्था थी। ब्रिटिश भारत के अधीन होकर, संभवतः वे पूर्ववत् स्वेच्छाचारी न रह पायँगे। शायद उनकी परेशानी के अनेक कारणों में से यह एक प्रधान कारण था।

देशी नरेशों के शासन पर दृष्टिपात्—शासन-विकास की दृष्टि से समस्त देशी रियासतें एक सी नहीं हैं। उनमें से कुछ तो, जैसे मैसूर, ट्रावनकोर, बड़ौदा आदि उन्नत अवस्था में हैं। उनका सामाजिक जीवन ब्रिटिश भारत के सामाजिक जीवन से भी उच्चतर है और शिक्षा का प्रचार भी ब्रिटिश भारत की अपेक्षा अधिक है। पर अधिकांश रियासतों की अवस्था ऐसी नहीं। शिशुकाल में माता या विश्वस्त नौकरानी की गोद में पले हुए और कुमार अवस्था में राजकुमारों के कॉलेजों[1] या विलायत में शिक्षा पाये हुए राजकुमार ही अंत

---

(१) भारतवर्ष में राजकुमारों के चार कॉलेज हैं। राजकुमार कॉलेज, राजकोट, मेयो कॉलेज, अजमेर, डेली कॉलेज, इंदौर और ऐट्चिसन कॉलेज, लाहौर। इनके अतिरिक्त कुछ स्कूल भी हैं, जहाँ पर केवल जमींदारों के बालक शिक्षा पाते हैं। इन कॉलेजों में पढ़ायी तो होती है, पर कुमारों को शान

में इन रियासतों के स्वेच्छाचारी शासक होते हैं। बचपन में ही उनके हृदय में प्रजा के माता-पिता और देवता होने की भावना जागृत कर दी जाती है और युवावस्था में चापलूसी और नाना प्रकार के प्रलोभनों के ज़रिये से अवसरवादी मनुष्य उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा किया करते हैं। ऐसी अवस्था में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो नैतिक पतन से बच जाय। देशी राजाओं के नैतिक जीवन का जब कभी भंडाफोड़ हो जाता है तब लोग दांतों तले उंगली दबाते हैं और बहुतेरे यह पूछते भी हैं कि क्या यह बात सच हो सकती है।

राजनीतिक दृष्टि से अधिकांश देशी रियासतें ब्रिटिश भारत से बहुत पीछे हैं। लगभग ३० रियासतों ने व्यवस्थापक सभाएँ अवश्य स्थापित की हैं, किंतु उनके अधिकार परिमित हैं[1]। वे केवल परामर्श ही दे सकती हैं। उनके कुछ सदस्य निर्वाचित होते हैं और कुछ मनोनीत। गवर्नर जनरल की भांति देशी नरेश भी अपनी रियासतों के लिए ऑर्डी-नेंसें जारी कर सकते हैं और ख़ास अवसरों पर क़ानून भी बना सकते हैं। इन व्यवस्थापक सभाओं के सदस्य इनके कामों में अधिक दिल-चस्पी नहीं लेते। सन् १९२९ में बीकानेर की व्यवस्थापक सभा ने, केवल दो दिन के अधिवेशन में अपना सारा काम समाप्त कर दिया था। ४५ सदस्यों में केवल २३ उपस्थित थे[2]।

देशी रियासतों की कर-नीति भी दोषयुक्त है। प्रजा की सारी आम-दनी का लगभग ५० प्रतिशत, रियासतें कर के रूप में ले लेती हैं। विशेष

से रहने का भी अवसर मिलता है। ५० राजकुमारों की शिक्षा के लिए लगभग २०,००० पौंड, अर्थात् ३,९०,००० रुपया सालाना ख़र्च किया जाता है, देखिये, Chudgar: Indian Princes under British Protection pp. 12-13.

(1) "Of one hundred and eight princes in class I, thirty have established Legislative Councils, most of which are at present of a consultative nature only."—Butler Committee Report quoted by Chudgar: Indian Princes under British Protection, pp. 57-58.

(2) Proceedings of Bikaner Assembly quoted by Chudgar: Indian Princes under British Protection p. 57.

अवसरों के लिए, जो सर्वदा आया ही करते हैं, प्रजा को अलग से धन देना पड़ता है। इस धन के खर्च किये जाने का कोई नियम नहीं है। देशी रियासतों में राजा और राज्य की आमदनी में विशेष भेद नहीं होता। अतएव इस धन का बहुत बड़ा भाग, राजा लोग अपनी शान-शौकत में खर्च करते हैं। शिक्षा-विभाग आदि को बहुत कम धन मिलता है, पर नरेशों की युरुप-यात्रा और राज्य में ऐशोआराम से रहने के लिए धन की कमी नहीं होती। सरकारी कोष के रिक्त होने पर ऋण ले लिया जाता है। इसके कारण बहुतेरी रियासतें ऋण के बोझ से दबी हुई हैं। सन् १९२९ में बीकानेर सरकार ने अपनी सारी आमदनी का केवल ३.६ प्रतिशत् शिक्षा, स्वास्थ्य और सार्वजनिक कामों में खर्च किया था और २२.३ प्रतिशत्, राजा, राजवंश और राजमहल पर[1]। अन्य रियासतों की भी प्रायः यही अवस्था है। मैसूर, ट्रावनकोर आदि उन्नतिशील रियासतों के राजा भी अपने खर्च के लिए सरकारी कोष से काफी धन लेते हैं। मैसूर के राजा का भत्ता [अलाउंस] इटली के राजा के अलाउंस का ज्यादा है और हैदराबाद के निज़ाम सरकारी कोष से उतना ही धन लेते हैं जितना इंगलैंड और जापान के सम्राट[2]। भारतीय वाइसराय और गवर्नर जनरल की आमदनी देश की औसत आमदनी की ५००० गुनी है किंतु निज़ाम की तो इससे भी ज्यादा है।

सार्वजनिक न्याय के लिए कई रियासतों में हाईकोर्ट स्थापित किये गये हैं। कुछ रियासतों में शासन-विभाग और न्याय-विभाग एक प्रकार से अलग अलग कर दिये गये हैं। किंतु ऐसे बहुतेरे अवसर आते हैं जब स्वेच्छाचारी राजा मनमाना न्याय करते हैं, जिसको चाहते हैं स-कारण अथवा अकारण ही जेल में बंद कर देते हैं, जिसको जब चाहते हैं किसी पद पर नियुक्त करते हैं और जब चाहते हैं निकाल देते हैं। बेगार और दासत्व की प्रथाएँ, जन-सम्मति के विरोध करने पर भी देशी रियासतों में पायी जाती हैं। शासकों का अपने दासों पर पूर्ण अधिकार

---

(१) १०,००,००० पौंड की आमदनी में से बीकानेर असेंबली ने २५,००० पौंड शिक्षा के लिए, १२,००० पौंड स्वास्थ्य रक्षा के लिए और २००० पौंड सार्वजनिक भलाई के कामों के लिए मंजूर किया था।

(2) K. L. Gauba : H.H. or the Pathology of Princes pp. 73-74.

होता है। वे उनकी स्त्रियों और लड़कियों को भी राजकुमारों के ब्याह में दहेज में दे सकते हैं[1]। देशी राजाओं की प्रजा को न तो बोलने की स्वाधीनता है और न सभा आदि करने की। पुलिस का भी व्यवहार जनता के प्रति संतोषप्रद नहीं है। देशी रियासतों के शासन का यह चित्र वास्तव में शोचनीय है। अनुदारवादियों की राय में भारतीय जनता के लिए यही उपयुक्त है। पता नहीं कि इन लोगों का यह मत तर्क-संगत है अथवा कपोल-कल्पित।

बटलर कमेटी की रिपोर्ट—१६ दिसंबर सन् १९२८ को देशी रियासतों के संबंध की जाँच करने के लिए, लॉर्ड बर्केनहेड ने, सर हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में तीन आदमियों की एक कमेटी नियुक्त की[2]। इसका कार्यक्षेत्र था—

(अ) देशी रियासतों और अधिपति-शक्ति के मौजूदा संबंध की जाँच करना, विशेष कर उस संबंध की जो संधियों, संबंधों, सनदों, प्रथाओं आदि पर निर्भर था।

(ब) ब्रिटिश भारत और देशी रियसतों के आर्थिक संबंध की जाँच करना और ऐसी सिफ़ारिशें करना जो इस संबंध को अधिक संतोषप्रद बना सकें।

कमेटी ने १५ रियासतों का दौरा किया, कुल मिलाकर ८००० मील की यात्रा की, ४८ गवाहों के बयान लिये और १४ फरवरी सन् १९२९ को अपनी रिपोर्ट उपस्थित की जो १६ फरवरी सन् १९२९ को पार्लमेंट में पेश की गयी। इस कमेटी को साधारणतया बटलर कमेटी कहते हैं और रिपोर्ट को बटलर कमेटी की रिपोर्ट।

राजनीतिक दृष्टि से बटलर कमेटी की रिपोर्ट विशेष महत्व की न थी[3]। कमेटी ने गुप्त रूप से जाँच की थी, प्रगट रूप से नहीं। कमेटी

---

(1) Chudgar : Indian Princes under British Protection. p. 34.

(२) सर हारकोर्ट बटलर के अतिरिक्त इस कमेटी के दो और सदस्य थे। (१) मिस्टर सिडनी पील, जो आर्थिक बातों के विशेषज्ञ थे, और (२) मिस्टर डब्ल्यू. एस. होल्ड्सवर्थ जो वैधानिक नियमों के विशेषज्ञ थे।

(3) "In my humble opinion, gentlemen, the Butler Committee was bad in its origin, bad in the time chosen for its ap-

की सिफ़ारिशों से न तो देशी नरेशों को ही संतोष मिला था और न ब्रिटिश भारत को । यदि देशी नरेश कुछ अंश में उससे संतुष्ट थे तो ब्रिटिश भारत उससे अधिक असंतुष्ट था। कमेटी ने अपना कार्यक्षेत्र उल्लंघन करके भी कई सिफ़ारिशें कीं। उसे केवल मौजूदा संबंध की जाँच करने का अधिकार था, भविष्य संबंध की सिफ़ारिशें करने का नहीं, किंतु कमेटी ने भविष्य संबंध के विषय में भी कई सिफ़ारिशें की। देशी रियासतों को अपने पक्ष की सारी सामग्री भी न मिल सकी थीं। इस विषय में सर लुई टपर की अलभ्य पुस्तक विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

बटलर कमेटी के सामने प्रमुख देशी रियासतों, जैसे हैदराबाद, मैसूर बड़ौदा, ट्रावनकोर आदि ने अपने लिखित बयान पेश किये थे, किंतु नरेंद्र मंडल की कार्यसमिति की ओर से सर लेस्ली स्कॉट ने अन्य रियासतों की ओर से गवाही दी थी। देशी रियासतों की निम्नलिखित चार मुख्य मांगें थीं—

(अ) देशी नरेश स्वतंत्र शासक हैं और उनका अंतर्राष्ट्रीय नहीं तो कम से अर्द्ध-अंतर्राष्ट्रीय स्थान अवश्य है।

(ब) देशी रियासतों का सीधे इंगलैंड के सम्राट से संबंध है। सम्राट ही उनके अधिपति हैं भारत-सरकार नहीं। तत्कालीन निर्मित भारत सरकार भी उनकी अधिपति नहीं है।

(स) अधिपति के अधिकार संधियों, संबंधों, सनदों आदि से परिमित हैं। उनके अतिरिक्त अधिपति के अन्य अधिकार नहीं हैं।

(द) प्रथाओं पर अवलंबित अधिपति के वे अधिकार और हस्तक्षेप जो संधियों, संबंधों और सनदों के प्रतिकूल है निर्मूल, निराधार और अन्यायपूर्ण हैं।

बटलर कमेटी ने उपर्युक्त चारो मांगों की जाँच की। इस संबंध में उसकी रिपोर्ट का निष्कर्ष निम्नलिखित है—

---

pointment, bad in its terms of reference, bad in its personnel and bad in its line of inquiry, while its report was bad in its reasoning and bad in its conclusions"–C. Y. Chintamani.

कंपनी के शासन के पूर्व देशी नरेश स्वतंत्र शासक न थे। यह बात इतिहास से स्पष्ट है। ब्रिटिश सरकार के पूर्व देशी रियासतों के न तो अंतर्राष्ट्रीय अधिकार थे और न उनका अंतर्राष्ट्रीय स्थान ही था। वे किसी न किसी के आधिपत्य में थीं। कुछ मुग़ल सम्राट को अपना अधिपति मानती थीं, कुछ मरहठों को और कुछ सिक्खों को। कुछ की कंपनी ने रक्षा की थी और कुछ को उसने स्थापित भी किया था। इन बातों के देखते हुए यह कहना कि देशी रियासतें स्वतंत्र हैं और उनका अंतर्राष्ट्रीय अथवा अर्द्ध-अंतर्राष्ट्रीय स्थान है, अनुचित और निराधार है। पर उन्हें अपने आंतरिक शासन में कुछ हद तक स्वाधीनता प्राप्त थी, इसमें संदेह नहीं।

कमेटी ने यह स्वीकार किया कि देशी रियासतों का संबंध सीधे इंगलैंड के सम्राट के साथ है। संधियाँ सम्राट और देशी नरेशों के बीच में हैं और उनका बंधन हमेशा के लिए है। पर अधिपति शब्द की व्याख्या कमेटी ने इस प्रकार की—'सम्राट जो सर्वदा भारत-मंत्री और स-कौंसिल गवर्नर जनरल के ज़रिये से, जो ग्रेट ब्रिटेन की पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी है, काम करते हैं'। अधिपति शब्द की इस व्याख्या के कारण सीधे सम्राट के साथ संबंध का भाव कुछ अस्पष्ट सा हो जाता है। देशी नरेश अधिपति से सीधे संबंध स्थापित करके इस बात की आशा करते थे कि वे भारत-सरकार के साथ समानता का दावा कर सकेंगे और सीधे ब्रिटिश सरकार के व्यवहार कर सकेंगे। बटलर कमेटी ने उनकी इस आशा पर पानी फेर दिया।

कमेटी ने संधियों, सनदों और संबंधों के बंधन को स्वीकार किया, किंतु चलन और प्रथाओं के बंधन को भी आवश्यक बतलाया। इस विषय में उसके विचार वही थे जो भारत-सरकार के सन् १८७७ में थे। "ब्रिटिश सरकार का आधिपत्य क्रमशः बढ़ा है। कभी यह आधिपत्य विजय द्वारा स्थापित किया गया है, कभी संधि द्वारा और कभी प्रथाओं और चलन द्वारा। ब्रिटिश सरकार और देशी रियाशतों का ठीक ठीक संबंध जानने के लिए संधि और आज्ञापत्र अवलंबित अधिकारों और कर्तव्यों के अतिरिक्त उन घटनाओं का भी ज्ञान आवश्यक है जब वास्तविक आधिपत्य स्थापित किया गया था और उस परिस्थिति का भी जब वे संधियाँ की गयी थीं और आज्ञापत्र दिये गये थे। राज्य और

मनुष्य दोनों के जीवन में लिखित अधिकारों की अवहेलना प्रथाओं द्वारा की जा सकती है। यदि कुछ प्रथाएँ एक पार्टी को हानि पहुँचाते हुए भी बहुत दिनों तक चालू रही हैं तो ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों का वास्तविक संबंध इन्हीं पर अवलंबित समझना चाहिये"। इस आधार पर कमेटी ने अधिपति-शक्ति के उन अधिकारों को न्याययुक्त ठहराया जिनके कारण वह देशी रियासतों की पर-राष्ट्र-नीति और परस्पर संबंध का संचालन और भीतरी और बाहरी शत्रुओं से उनकी रक्षा करती थी। कमेटी ने देशी रियासतों के आंतरिक शासन में, प्रजा और राजा की भलाई, शांति स्थापन आदि बातों के लिए अधिपति का हस्तक्षेप आवश्यक बतलाया और यह भी स्पष्ट कर दिया कि भविष्य में संधियों की शर्तों का परिस्थिति के अनुकूल बदलना संभव था।

बटलर कमेटी ने देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के आर्थिक संबंध की भी जाँच की। इस विषय में देशी रियासतों की मुख्य दो शिकायतें थीं—

[अ] उनके आंतरिक शासक होते हुए भी भूत काल में, उनके बहुतेरे अधिकारों का प्रयोग ब्रिटिश भारत की ही भलाई के लिए किया गया था। और

[ब] मौजूदा भारत-सरकार से व्यवहार करके तत्कालीन प्रणाली के अनुसार न तो वे अपने अधिकारों को ही ठीक ठीक समझा सकते थे और न उनपर भली भाँति विचार ही करवा सकते थे।

रियासतों का कहना था कि आयात-निर्यात कर, रेल, खान और टकसाल, नमक, डाकखाना, तारघर, टेलीफून, अफीम आदि विषयों में उनके अधिकारों की अवहेलना की गयी थी। कमेटी ने उपर्युक्त अधिकांश माँगों को अनुचित ठहराया। केवल आयात-निर्यात कर के विषय में कमेटी ने रियासतों का हिस्सा इस शर्त पर स्वीकार किया कि वे भारतीय और प्रांतीय सरकारों के आर्थिक भार को घटावें। कमेटी ने इस विषय की अलग जाँच करने की सिफ़ारिश की और अन्य माँगों को, छोटी मोटी माँगों के अतिरिक्त, अनुचित बतलाया।

बटलर कमेटी ने ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के भविष्य संबंध पर भी विचार किया। ऐसा करना उसके कार्यक्षेत्र के बाहर था। इस

विषय में कमेटी की सिफ़ारिश थी कि ब्रिटिश भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित होने पर देशी रियासतें, बिना अपनी सम्मति के उत्तरदायी भारत-सरकार के अधीन न की जायँ। इसके विपरीत वे एक वाइसराय के अधीन रखी जायँ जो सम्राट के प्रतिनिधि की हैसियत से उनके साथ व्यवहार करे।

बटलर कमेटी की रिपोर्ट और नरेंद्र मंडल—जिन दिनों बटलर कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई नरेंद्र मंडल के अधिवेशन हो रहे थे। इस समय बिना विचार किये, नरेंद्र मंडल, बटलर कमेटी पर कोई महत्वपूर्ण प्रस्ताव न पास कर सका। हाँ. महाराजा पटियाला ने कमेटी के विषय में इतना अवश्य कहा कि जिस ढंग से कमेटी ने काम किया था वह देशी नरेशों के आशानुकूल न था। वे एक गोलमेज परिषद् के पक्ष में थे जिसके सामने वे अपने विचार साफ साफ प्रगट कर सकते। लगभग चार महीने के पश्चात्, जून में ६० देशी नरेशों की एक सभा बंबई में हुई। उस सभा के प्रस्ताव नरेंद्र मंडल की कार्य-समिति की ओर से वाइसराय के पास भेजे गये। प्रस्तावों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि देशी नरेश कमेटी के कुछ विचारों से संतुष्ट थे और कुछ से असंतुष्ट। देशी नरेशों का संबंध सीधे इंगलैंड के सम्राट से था; संधियों, सनदों आदि का बंधन हमेशा के लिए था; भविष्य में उनका संबंध वाइसराय से रहेगा न कि स-कौंसिल गवर्नर जनरल से; बिना अपनी अनुमति के वे ब्रिटिश भारतकी भावी उत्तरदायी सरकार के अधीन न किये जायँगे; ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के आर्थिक संबंध की जाँच की जायगी आदि संतोषप्रद बातें थीं। किंतु चलन और प्रथाओं के आधार पर, अधिपति शक्ति का संधि की शर्तों के प्रतिकूल, देशी रियासतों की भीतरी बातों में हस्तक्षेप करना, उन प्रथाओं को ठीक बतलाना, उनके भविष्य विकास और नयी प्रथाओं की संभावना होना आदि निराशाजनक बातें थीं[1]। आठ महीने पश्चात्, फरवरी सन् १९३० में नरेंद्र मंडल का नवाँ साधारण अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में बटलर कमेटी की रिपोर्ट पर भी विचार हुआ और तत्संबंधी कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास

(१) विशेष विवरण के लिए देखिए—Indian Quarterly Register, 1929, vol. I. p. 488.

किये गये[१]। देशी नरेशों की राय में वह कहना ठीक न था कि १९ वीं शताब्दी के आरंभ से भारतीय अधिपति-शक्ति, ब्रिटिश सरकार के सहयोग से, विना रोक टोक देशी रियासतों में अधिपति के अधिकारों का प्रयोग करती आयी है। नरेंद्र मंडल ने आर्थिक अधिकारों की जाँच करने के लिए विशेषज्ञों की कमेटी नियुक्त करने, आंतरिक हस्तक्षेप के मूल सिद्धांतों को निर्धारित करने और ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के सम्मिलित हितों पर विचार करने के लिए कुछ साधन प्रस्तुत करने के लिए विभिन्न प्रस्ताव पास किये। नरेंद्र मंडल ने एकमत हो कर उन प्रथाओं का विरोध किया जिनका प्रतिपादन बटलर कमेटी ने किया था। उसके मतानुसार वे प्रथाएँ सिद्धांत में दोषयुक्त और व्यवहार में अन्यायपूर्ण थीं। उनके आधार पर, देशी रियासतों की संधियों, संबंधों और सनदों द्वारा प्राप्त आंतरिक स्वाधीनता जबरदस्ती कम की गयी थी। भारत-सरकार के पोलीटिकल विभाग ने, विभिन्न अवसरों पर, विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल, विभिन्न रियासतों के साथ विभिन्न वर्ताव किया था। कुछ प्रथाएँ ऐसे समय चलायी गयी थीं जब कि शासक अल्प-वयस्क थे, या रियासत में देशी नरेश और भारत-सरकार का सम्मिलित शासन था, या किसी विशेष कारण से रियासत का शासन भारत-सरकार के अधीन कर दिया गया था। नरेंद्र मंडल की राय में इस प्रकार स्थापित प्रथाओं के आधार पर अधिपति-शक्ति को देशी रियासतों में हस्तक्षेप करने का अधिकार देना अनुचित था।

बटलर कमेटी की रिपोर्ट और देशी-राज्य-प्रजा-सम्मेलन—२५ मई सन् १९२९ को श्री चिंतामणि के सभापतित्व में देशी-राज्य-प्रजा-सम्मेलन का अधिवेशन आरंभ हुआ। सम्मेलन ने बटलर कमेटी की रिपोर्ट का पूर्ण विरोध किया[२]। उसके मतानुकूल कमेटी के काम करने का ढंग दोषयुक्त था। उसने देशी रियासतों की प्रजा की गवाही ही न ली थी। उसकी सिफ़ारिशें भी दोषयुक्त थीं। देशी रियासतों का, वज़रिये वाइसराय, सम्राट के साथ सीधे संबंध स्थापित करने की सिफ़ारिश करना, भारतवर्ष में फूट फैलाने की एक निंदनीय चाल

(१) देखिये Indian Quarterly Register, 1930. vol. I. pp. 488-500.
(२) देखिये Indian Quarterly Register, 1929, vol. I. p. 518.

थी, जिसके प्रभाव से ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों दोनों को हानि पहुँचने की आशंका थी। इस संबंध को ठीक मानने से भारतवर्ष को स्वाधीनता देर में मिलेगी और उत्तरदायित्वरहित नौकरशाही का कार्य-काल बढ़ेगा। रियासतों में भी उत्तरदायी शासन देर में स्थापित होगा और निरकुंश शासन कुछ दिनों के लिए बढ़ जायगा। सम्मेलन की राय में बटलर कमेटी की सिफ़ारिशें, ऐसे स्वतंत्र भारतीय संघ राज्य के प्रतिकूल थीं, जिसमें प्रांतों और रियासतों को स्वशासन का अधिकार प्राप्त हो।

बटलर कमेटी की रिपोर्ट और ब्रिटिश भारत—बटलर कमेटी की रिपोर्ट के पूर्व सर्वदल सम्मेलन द्वारा नियुक्त नेहरू कमेटी ने देशी रियासतों के वैधानिक स्थान पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला था। नेहरू रिपोर्ट का उद्देश्य था भारतवर्ष के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य की योजना तैयार करना। इस कमेटी ने देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के संबंध के विषय में निम्नलिखित सिफ़ारिशें की थीं—

[अ] देशी रियासतों और ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके बाद की की गयी उन संधियों का बंधन, जो एक्ट के आरंभ में लागू होंगी, भारतीय कॉमनवेल्थ पर होगा।

[ब] इस एक्ट के पास होने के पूर्व देशी रियासतों के संबंध में भारत-सरकार के जो अधिकार और कर्तव्य थे वे कॉमनवेल्थ पर भी लागू होंगे।

[स] भारतीय पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी भारत-सरकार देशी नरेशों के मान और अधिकारों की रक्षा उस भारत-सरकार से कम न करेगी जो ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी थी।

[द] यदि देशी रियासतों और कॉमनवेल्थ में संधि अथवा सनद संबंधी किसी बात में मतभेद होगा तो स-कौंसिल गवर्नर जनरल देशी नरेशों की अनुमति से, उस प्रश्न को प्रधान न्यायालय के पास निर्णय के लिए भेजेंगे।

[य] प्रधान न्यायालय के कारण देशी रियासतों के आंतरिक शासन में जबरदस्ती और निराधार हस्तक्षेप की आशंका न रहेगी।

नेहरू कमेटी की उपर्युक्त सिफ़ारिशें बटलर कमेटी की सभी महत्व-पूर्ण सिफ़ारिशों से भिन्न थीं।

बटलर कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित होने के पश्चात् ब्रिटिश भारत के बहुतेरे प्रमुख नेताओं ने उसकी सिफ़ारिशों पर अपना मत प्रगट किया और उन्हें दोषयुक्त बतलाया। इंगलैंड के सम्राट के साथ रियासतों का सीधा संबंध होना सबको दोषयुक्त प्रतीत होता था। ब्रिटिश भारत की यह आलोचना वास्तव में ठीक थी। देशी रियासतों की किसी भी संधि अथवा सनद पर सम्राट के हस्ताक्षर न थे। सम्राट की ओर से सन् १८५८ के पूर्व ईस्ट इंडिया कंपनी देशी रियासतों से व्यवहार करती थी और सन् १८५८ के बाद भारत-सरकार। बटलर कमेटी की सिफ़ा-रिशों के कारण सांप्रदायिक वैमनस्य द्वारा विभक्त भारतवर्ष के और भी अधिक विभक्त हो जाने की आशंका थी। आश्चर्य नहीं कि श्री चिंतामणि ने बटलर कमेटी, उसके काम करने के ढंग, उसकी सिफ़ा-रिशों आदि सभी को दोषयुक्त बतलाया। पर अंत में गोलमेज परि-षदों में बटलर कमेटी की ही सिफ़ारिशें ठीक समझी गयीं। इस बात की जिम्मेदारी जितनी बटलर कमेटी पर है उतनी ही देशी नरेशों पर भी है।

छठा परिच्छेद

शासन-सुधार की भिन्न भिन्न योजनाएँ

१९२७ से १९३० तक

प्राक्कथन—कॉमनवेल्थ ऑफ् इंडिया बिल—नेहरू कमेटी की योजना—साइमन कमीशन की योजना—मूल सिद्धांत; प्रांतीय स्वराज्य; केंद्रीय शासन; देश-रक्षा; भारत-मंत्री; देशी रियासतें; विविध सिफ़ारिशें; आलोचना—भारतीय कमेटी की योजना—प्रांतीय स्वराज्य; केंद्रीय शासन; भारत-मंत्री; आलोचना—भारत-सरकार और शासन-सुधार—प्रांतीय शासन; केंद्रीय शासन; विविध सिफ़ारिशें—उपसंहार।

प्राक्कथन—सन् १९२७ से १९३० तक के तीन वरस भारतीय इतिहास में बड़े महत्व के हैं। इन दिनों शासन-सुधार की कई योजनाएँ तैयार की गयीं, जिनमें से कॉमनवेल्थ ऑफ् इंडिया बिल[1], नेहरू कमेटी की योजना, साइमन कमीशन और भारतीय कमेटी की सिफ़ारिशें, भारत-सरकार की योजना आदि विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्हीं दिनों समस्त देश में हिंदू-मुसलमानों में कई भीपण दंगे हुए और क्रांतिवादी कई सरकारी कर्मचारियों की हत्या करने में सफल हुए और कुछ की हत्या करने में असफल। भारतीय व्यवस्थापक मंडल में इन्हीं दिनों कई सनसनीदार घटनाएँ हुईं और गांधीजी ने वाइसराय को "अंतिम चेतावनी[2]" देने के पश्चात् पुनः राष्ट्रीय आंदोलन आरंभ किया जिसके कारण अनेक कांग्रेसवादी नेताओं को कारावास का दंड मिला[3]।

---

(१) कॉमनवेल्थ ऑफ् इंडिया बिल वास्तव में सन् १९२४ में तैयार किया गया था। प्रसङ्गवश उसका वर्णन अन्य योजनाओं के साथ इसी स्थान पर किया जाता है।

(२) आंदोलन चलाने के पूर्व, २ मार्च सन् १९३० को गांधीजी ने एक पत्र लॉर्ड अर्विन के पास भेजा था। इस पत्र को "अंतिम चेतावनी" का शीर्षक दिया गया है।

(३) इन सब बातों के विवरण के लिए देखिये सातवां परिच्छेद।

कॉमनवेल्थ ऑफ् इंडिया विल—कॉमनवेल्थ ऑफ् इंडिया विल दिसंबर सन् १९२४ में तैयार किया गया था और जनवरी सन् १९२५ में सर्व-दल-सम्मेलन के सामने पेश किया गया था। सम्मेलन द्वारा नियुक्त समिति ने, विल का सारा काम एक उप-समिति को सौंप दिया। कुछ दिनों बाद इस उप-समिति ने अपने को दो भागों में विभक्त करके, विल पर विचार किया। एक का काम था राजनीतिक सुधारों की जाँच करना और दूसरी का काम था सांप्रदायिक समस्या पर विचार करना। राजनीतिक सुधार संबंधी काम में उप-समिति को थोड़ी बहुत सफलता मिली, किंतु सांप्रदायिक समस्या को हल करने वाली कमेटी अपना काम संतोषपूर्वक न कर सकी। अतएव डाक्टर एनी वेसेंट ने सब दलों के कुछ मनुष्यों के सहयोग से, विल को अपने हाथ में लिया और ३ जुलाई सन् १९२५ को उसे लेकर इस आशा से इंगलैंड को रवाना हुई कि पार्लमेंट उसे पास करके भारतवर्ष को स्वराज्य प्रदान करे।

कॉमनवेल्थ ऑफ् इंडिया विल का संबंध केवल ब्रिटिश भारत से था और उसका उद्देश्य था ब्रिटिश भारत में डोमीनियनों का सा स्वराज्य स्थापित करना। नागरिकों के जन्म-सिद्ध अधिकारों[1] के गिनाने के पश्चात्, विल में भारतीय पार्लमेंट की योजना थी, जिसकी दो सभाओं में से एक का नाम लेजिस्लेटिव असेंबली था और दूसरी का सेनेट। असेंबली के कुल ३०० सदस्य सीधे जनता द्वारा चुने जाने को थे और सेनेट के १५० सदस्य जनता द्वारा परोक्ष रीति से[2]। सेनेट और असेंबली दोनों के अधिकार समान थे, परंतु आर्थिक प्रस्ताव केवल असेंबली में ही पेश किये जा सकते थे। दोनों सभाओं में मतभेद होने पर संयुक्त

---

(१) शरीर, घर और संपत्ति की स्वाधीनता, धार्मिक स्वाधीनता, विचार प्रगट करने और सभा आदि करने की स्वाधीनता, निःशुल्क आरंभिक शिक्षा, सड़कों, सार्वजनिक स्थानों, न्यायालयों आदि पर सबका समान अधिकार, सबके लिए समान कानून और स्त्रियों और पुरुषों की समानता। नेहरू कमेटी, की योजना के अनुसार भी उपर्युक्त अधिकार मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार थे।

(२) सेनेट के उम्मीदवारों का पहले एक पेनेल बनाया जाने को था और जनता इन्हीं उम्मीदवारों में से सेनेट के सदस्यों को चुनने को थी।

अधिवेशन का प्रबंध किया गया था और इस अधिवेशन के बहुमत का निर्णय दोनों सभाओं के लिए मान्य समझा गया था।

शासन-विभाग गवर्नर जनरल और मंत्रि-मंडल के अधीन रखा गया था। गवर्नर जनरल सम्राट के प्रतिनिधि-स्वरूप थे और उनके लिए मंत्रियों के परामर्श से शासन करना अनिवार्य था। मंत्रि-मंडल अपने कामों और नीति के लिए, संयुक्त रूप से भारतीय पार्लमेंट के प्रति उत्तर-दायी था। देश-रक्षा और पर-राष्ट्र-संबंध के विषय एक कमीशन के अधीन किये गये थे जिसके सदस्यों को वाइसराय, मंत्रि-मंडल के परामर्श से पाँच वरस के लिए नियुक्त करने को थे। इन सदस्यों में से अधिकांश हिंदुस्तानी होने को थे। कमीशन की सिफ़ारिश पर, भारतीय पार्लमेंट इन विषयों की भी जिम्मेदारी किसी समय अपने ऊपर ले सकती थी।

समस्त देश के लिए एक प्रधान न्यायालय बनने को था जिसका निर्णय सर्वमान्य था। इस न्यायालय की विशेष आज्ञा से, कुछ अपीलें प्रिवी कौंसिल तक पहुँच सकती थीं।

द्वैध शासन-प्रणाली को मिटा कर, प्रांतों को प्रांतीय विषयों के शासन में पूर्ण स्वराज्य मिलने को था। सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली मिटायी जाने को थी, पर मुसल्मानों और युरोपियनों के लिए पाँच वरस के लिए उतने स्थान रिज़र्व किये गये थे जितने उनको उस समय प्राप्त थे। धर्म विषयी सारे प्रस्ताव एक कमेटी के पास भेजे जाने को थे, जिसमें उस संप्रदाय का प्राधान्य होने को था, जिस पर उस बिल का कुप्रभाव पड़ता हो और उसके विरोध करने पर वह बिल एक वरस के लिए स्थगित कर दिया जाने को था।

कॉमनवेल्थ ऑफ़ इंडिया बिल पर इंगलैंड की पार्लमेंट ने कुछ कार्र-वाई न की। भारतवर्ष में भी वह केवल एक ऐतिहासिक घटना हो कर रह गयी। बिल में भी कई दोष थे। उसका संबंध केवल ब्रिटिश भारत से था और औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित होने पर देशी रियासतों और ब्रिटश भारत का क्या संबंध होगा, इस विषय की एक भी धारा न थी। औपनिवेशिक स्वराज्य भी देश-रक्षा और पर-राष्ट्र विषयी वातों के कारण परिमित था। सांप्रदायिक समस्या पर, जो अंत में इतनी कठिन सिद्ध हुई, विशेष ध्यान न दिया गया था। फिर भी इस आशा से कि बिल के स्वीकार होने पर भारतवर्ष का स्थान ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अन्य डोमीनि-

यनों का सा हो जायगा, देश के बहुतेरे नेता उससे कमोवेश संतुष्ट थे। इस बिल के स्वीकार कर लिये जाने पर यह संभव था कि ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीय हलचल कुछ दिनों के लिए कम हो जाती।

नेहरू कमेटी की योजना—नेहरू कमेटी, साइमन कमीशन के नियुक्ति की घोषणा के पश्चात् १९ मई, सन् १९२८ को सर्व-दल-सम्मेलन द्वारा नियुक्त की गयी थी। इसका काम था भारतीय शासन-विधान के मूल सिद्धांतों का निर्धारित करना। कमेटी ने, भारतवर्ष की प्रमुख राजनीतिक संस्थाओं के सहयोग से, अपनी रिपोर्ट तैयार की जो २८ अगस्त, सन् १९२८ को सर्वदल-सम्मेलन में पेश की गयी। इस रिपोर्ट में भारतीय शासन-विधान की भी एक योजना थी जिसे कांग्रेस तक ने यह कह कर स्वीकार किया था कि यदि ब्रिटिश पार्लमेंट भारतवर्ष को वैसा विधान ३१ दिसंबर, सन् १९२९ तक दे देगी, तो कांग्रेस उसे अपना लेगी। पर ब्रिटिश पार्लमेंट ने ऐसा न किया और इसलिए लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पुनः पास किया और नेहरू कमेटी की योजना समाप्त समझी गयी।

नेहरू कमेटी की योजना में भारतवर्ष का वही वैधानिक स्थान रखा गया था जो केनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, दक्षिणी अफ्रीका और आयरिश फ्री स्टेट को प्राप्त था और ऑस्ट्रेलिया की भाँति भारतवर्ष का नाम कॉमनवेल्थ ऑफ् इंडिया रखा गया था। नेहरू कमेटी का विधान, और इसके अंतरगत् पार्लमेंट द्वारा निर्मित नियम, कॉमनवेल्थ के समस्त प्रदेशों और भारतीय तटस्थ जल पर लागू होने को थे और इसमें न तो भारतीय पार्लमेंट द्वारा बनाये गये नियम किसी प्रकार की बाधा डाल सकते थे और न इंगलैंड की पार्लमेंट द्वारा बनाये गये वे नियम जो भारतवर्ष पर लागू थे। इस योजना में भी कॉमनवेल्थ ऑफ् इंडिया बिल की भाँति नागरिकों के जन्मसिद्ध अधिकारों की व्याख्या की गयी थी। मुख्य मुख्य अधिकार प्रायः वे ही थे, जो कॉमनवेल्थ ऑफ् इंडिया बिल में थे किंतु कुछ नये अधिकार भी शामिल किये गये थे। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

कोई मनुष्य उस अपराध के लिए दंडनीय न समझा जायगा, जो अपराध किये जाने के समय नियमानुकूल दंडनीय न था। राज्य का

कोई अपना धर्म न होगा और न तो यह किसी धर्म को अपनी नीति द्वारा प्रोत्साहित करेगा और न किसी को हतोत्साह इत्यादि, इत्यादि।

नेहरू कमेटी की योजना के अनुसार कॉमनवेल्थ पार्लमेंट के सम्राट, सेनेट और हाउस ऑफ् रेप्रेज़ेंटेटिव्स आदि तीन अंग होने को थे। सम्राट गवर्नर जनरल को नियुक्त करने को थे और शासन-विधान के अंतर्गत् गवर्नर जनरल के वे ही अधिकार और कर्तव्य थे, जो उन्हें सम्राट से प्राप्त थे। सेनेट के कुल २०० सदस्य भिन्न भिन्न प्रांतों की व्यवस्थापक सभाओं द्वारा अनुपातीय प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) के सिद्धांत के अनुसार चुने जाने को थे। प्रत्येक प्रांत के प्रतिनिधियों की संख्या जन-संख्या के आधार पर निश्चित की गयी थी पर जन-संख्या के कम होने पर प्रत्येक प्रांत के कम से कम कुछ प्रतिनिधियों का होना अनिवार्य था। हाउस ऑफ् रेप्रेज़ेंटेटिव्स के सदस्यों की संख्या ५०० निश्चित की गयी थी। वे प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली द्वारा चुने जाने को थे। वोट देने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को था चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष, यदि उसकी अवस्था २१ बरस की हो और वह क़ानून द्वारा वोट देने को अधिकार से वंचित न किया गया हो। सेनेट का कार्यकाल सात बरस था और हाउस ऑफ रेप्रेज़ेंटेटिव्स का पांच साल। गवर्नर जनरल को इन सभाओं को इस काल के पहले भंग करने और इनके कार्यकाल बढ़ाने का अधिकार दिया गया था। प्रत्येक सभा का उसीके द्वारा चुना गया एक सदस्य सभापति और दूसरा उप-सभापति होने को था। रुपये-पैसे संबंधी सारे प्रस्ताव हाउस ऑफ् रेप्रेज़ेंटेटिव्स में ही पेश हो सकते थे। वहाँ पास होने के पश्चात् वे सेनेट में भेजे जाने को थे। यदि सेनेट उन प्रस्तावों में कोई संशोधन पेश करता था तो हाउस ऑफ् रेप्रेज़ेंटेटिव्स उन पर पुनः विचार करके अपना अंतिम फैसला देने को था और वह फैसला दोनों सभाओं का फैसला समझा जाने को था। पार्लमेंट को देशी रियासतों के अतिरिक्त पर-राष्ट्र-संबंधी बातों में वे ही अधिकार दिये गये थे जो स्वराज्य प्राप्त डोमीनियनों को प्राप्त थे। कॉमनवेल्थ पार्लमेंट द्वारा पास किया गया कोई प्रस्ताव गवर्नर जनरल की अनुमति बिना क़ानून नहीं बन सकता था। गवर्नर जनरल अनुमति देने से इनकार कर सकते थे। वे किसी बिल को सम्राट की अनुमति के

लिए रिज़र्व कर सकते थे या इसे कॉमनवेल्थ पार्लमेंट में पुनर्विचार के लिए भेज सकते थे।

नेहरू योजना के अनुसार कॉमनवेल्थ का शासन सम्राट के अधीन था और उसका संचालन सम्राट के प्रतिनिधि, गवर्नर जनरल के अधीन। कॉमनवेल्थ के शासन-विधान और उसके क़ानूनों के अंतर्गत, गवर्नर जनरल के लिए, इक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल के परामर्श से शासन करना आवश्यक था। इक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल में प्रधान मंत्री के अतिरिक्त अधिक से अधिक छः और मंत्री हो सकते थे। मंत्रियों की संख्या का बढ़ाना या घटाना पार्लमेंट के अधीन था। प्रधान मंत्री को गवर्नर जनरल स्वयं नियुक्त करने को थे और अन्य मंत्रियों को प्रधान मंत्री की सिफ़ारिश पर। मंत्रि-मंडल संयुक्त रूप से पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी होने को था। कॉमनवेल्थ की जल, थल और नभ सेनाएँ, सम्राट के प्रतिनिधि-स्वरूप गवर्नर जनरल के अधीन रखी गयी थीं। स-कौंसिल गवर्नर जनरल को हाई कमिश्नर और कॉमनवेल्थ प्रतिनिधियों आदि के नियुक्त करने का अधिकार दिया गया था और इन पदाधिकारियों के वे ही अधिकार रखे गये थे जो कैनाडा आदि अन्य डोमीनियनों के प्रतिनिधियों को प्राप्त थे।

प्रांतीय शासन, प्रांतीय व्यवस्थापक सभा, प्रांतीय गवर्नर और प्रांतीय इक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल के अधीन था। प्रांतीय व्यवस्थापक सभा के सम्राट और कौंसिल दो अंग थे। प्रत्येक प्रांत के लिए एक गवर्नर की योजना की गयी थी। वह अपने प्रांत में सम्राट के प्रतिनिधि की हैसियत से काम करने को था। कौंसिल के सदस्यों का चुनाव जन-संख्या के आधार पर होने को था। प्रत्येक १,००,००० आबादी का एक प्रतिनिधि रखा गया था, पर यह स्पष्ट कर दिया था कि किसी व्यवस्थापक सभा के सदस्यों की संख्या सौ से कम न होगी। कौंसिल का कार्यकाल पाँच बरस था, पर गवर्नर इस कार्यकाल को परिस्थिति के अनुकूल घटा बढ़ा सकते थे। प्रत्येक व्यवस्थापक सभा के लिए एक सभापति और एक उप-सभापति की योजना की गयी थी। ये व्यवस्थापक सभाओं द्वारा उन्हीं के सदस्यों में से चुने जाने को थे। व्यवस्थापक सभाएँ अपने अपने प्रांत की रक्षा और सुशासन के लिए प्रांतीय विषयों के क़ानून बना

सकती थीं। व्यवस्थापक सभा द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के क़ानून बनने के लिए गवर्नर की अनुमति आवश्यक थी। गवर्नर की अनुमति प्राप्त करके भी स्वीकृत प्रस्ताव गवर्नर जनरल के पास भेजा जाने को था और उनकी अनुमति प्राप्त करके ही वह क़ानून का रूप धारण कर सकता था। गवर्नर और गवर्नर जनरल दोनों अनुमति देने से इनकार कर सकते थे और इस प्रकार व्यवस्थापक सभा द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव को रद कर सकते थे। प्रांतीय शासन गवर्नरों के अधीन रखा गया था। वे अपनी अपनी कौंसिलों के परामर्श से प्रांत पर शासन करने को थे। प्रांतीय मंत्रि-मंडल में अधिक से अधिक पांच मंत्री हो सकते थे। प्रधान मंत्री को गवर्नर स्वयं नियुक्त करने को थे और अन्य मंत्रियों को प्रधान मंत्री की सिफ़ारिश पर।

नेहरू रिपोर्ट ने कॉमनवेल्थ के लिए एक प्रधान न्यायालय[1] की भी योजना की थी। इसमें लॉर्ड प्रेसीडेंट के अतिरिक्त कुछ और न्यायाधीश होने को थे जिनकी संख्या भारतीय पार्लमेंट द्वारा निश्चित की जाने को थी। लॉर्ड प्रेसीडेंट और अन्य न्यायाधीशों के नियुक्त करने का अधिकार स-कौंसिल गवर्नर जनरल को दिया गया था। कॉमनवेल्थ पार्लमेंट की दोनों सभाओं की प्रार्थना पर ही स-कौंसिल गवर्नर जनरल उनको अपने पदों से हटा सकते थे। प्रधान न्यायालय में निम्न-लिखित मुक़दमों का फैसला होने को था —

(१) जिनको स-कौंसिल गवर्नर जनरल उसके पास भेजें,

(२) जिनमें कॉमनवेल्थ या कॉमनवेल्थ की ओर से कोई मनुष्य वादी अथवा प्रतिवादी हो,

(३) जिनका संबंध अन्य देशों के कॉसल आदि प्रतिनिधियों से हो,

(४) जो दो या अधिक प्रांतों से संबंध रखते हों, और

(५) जिनका संबंध शासन-विधान के अर्थ से हो।

प्रधान न्यायालय का फैसला अंतिम तथा सर्वमान्य होने को था, पर कुछ अवसरों पर प्रधान न्यायालय के यह कहने पर कि अमुक मुक़दमें का निर्णय स-कौंसिल सम्राट द्वारा किया जाय, प्रिवी कौंसिल में अपील

---

(1) Supreme Court of India.

की जा सकती थी। प्रधान न्यायालय के अतिरिक्त नेहरू कमेटी की योजना ने भारतवर्ष की तत्कालीन हाईकोर्टों का बना रहना आवश्यक समझा, पर उसने उनके अधिकारों, स्थिति और कर्तव्यों में परिवर्तन करने की कई सिफ़ारिशें कीं।

नेहरू कमेटी की योजना ने देश-रक्षा का काम एक कमेटी को सौंपा था जिसका नाम रक्षा-समिति (Committee of Defence) था। नेहरू कमेटी ने सिफ़ारिश की थी, कि प्रधान मंत्री के अतिरिक्त, इस कमेटी के आठ और सदस्य हों[1]। प्रधान मंत्री इस कमेटी के सभापति हों और कमेटी के अन्य सदस्य स-कौंसिल गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त किये जायँ। कमेटी के नियुक्त होने के पश्चात् स-कौंसिल गवर्नर जनरल देश-रक्षा का ध्यान रखते हुए, सैनिक व्यय में कमी करने के लिए उसका परामर्श लेने को थे। इसी कमेटी के परामर्श के अनुसार रक्षा के ख़र्च का वह व्योरा तैयार किये जाने को था जो हाउस ऑफ़् रेप्रेज़ेंटेटिव्स में स्वीकृति के लिए पेश किया जाता। इन बातों के अतिरिक्त स-कौंसिल गवर्नर जनरल किसी विशेष परिस्थिति में देश-रक्षा के लिए स्वयं रुपया ख़र्च कर सकते थे। किंतु कॉमनवेल्थ पार्लमेंट को इसकी सूचना कर देना अनिवार्य था[2]। कमेटी की सिफ़ारिश के बिना, कॉमनवेल्थ पार्लमेंट सेना के अनुशासन एवं रक्षा संबंधी नियम नहीं बना सकती थी।

नेहरू कमेटी ने देशी रियासतों की स्थिति पर भी काफ़ी ध्यान दिया। उसके अनुसार कॉमनवेल्थ की सरकार देशी रियासतों के प्रति उन्हीं अधिकारों और कर्तव्यों का पालन करने को थी जो भारत-सरकार उस समय तक करती आयी थी। कॉमनवेल्थ और देशी रियासतों में किसी संधि-सनद अथवा इक़रारनामे के विषय में मतभेद होने पर उसका निर्णय

---

(१) कमेटी के निम्नलिखित सदस्य निर्धारित किये गये थे—Prime Minister, The Minister of Defence, The Minister for Foreign Affairs, The Commander-in-Chief, The Commander of Air Forces, The Commander of Naval Forces, The Chief of the General Staff, and two other experts.

(२) यदि पार्लमेंट के अधिवेशन होते हों तो यह सूचना तुरंत ही दी जाने को थी। किंतु यदि पार्लमेंट की बैठक न होती हो तो शीघ्र से शीघ्र विशेष अधिवेशन कराने की सिफ़ारिश की गयी थी।

प्रधान न्यायालय द्वारा किये जाने को था। शासन-विधान में संशोधन करने के लिए नेहरू कमेटी की योजना के अनुसार यह आवश्यक था कि पार्लमेंट की दोनों सभाएं संयुक्त अधिवेशन में उस संशोधन को पास करें और तीसरे रीडिंग में कम से कम समस्त सदस्यों के दो तिहाई उसके पक्ष में हों।

सांप्रदायिक समस्या के विषय में नेहरू योजना की निम्नलिखित बातें विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं। हाउस ऑफ़ रेप्रेज़ेंटेटिव्स और प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं के चुनाव के लिए संयुक्त निर्वाचन-संघ हों। जन-संख्या के आधार पर मुसल्मानों के लिए उन प्रांतों में हाउस ऑफ़् रेप्रेज़ेंटेटिव्स के लिए स्थान रिज़र्व किये जायँ जहां वे अल्प-संख्यक हों। यही अधिकार हिंदुओं को भी सीमांत प्रदेश में दिया जाय। ये अल्प-संख्यक जातियाँ अन्य स्थानों के लिए भी चुनाव लड़ सकें। प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं के चुनाव के लिए बंगाल और पंजाब में किसी संप्रदाय के लिए स्थान रिज़र्व न किये जायँ। अन्य प्रांतों में जन-संख्या के आधार पर मुसल्मानों के लिए स्थान रिज़र्व किये जायँ और सीमांत प्रदेश में हिंदुओं के लिए। अल्प-संख्यक जातियाँ अन्य स्थानों के लिए भी चुनाव लड़ सकें। अल्प-संख्यक जातियों के स्थान केवल दस बरस के लिए रिज़र्व किये जाने को थे।

नेहरू कमेटी की योजना अपने समय की ऐसी योजना थी जिसके विषय में भारतवर्ष के भिन्न भिन्न दल अधिक से अधिक सहमत थे। वह पं० मोतीलाल नेहरू, सैयद अली इमाम, सर तेज बहादुर सप्रू, मिस्टर अणे आदि भारतवर्ष के प्रमुख राजनीतिज्ञों और नेताओं द्वारा तैयार की गयी थी। कॉमनवेल्थ ऑफ़् इंडिया बिल की अपेक्षा वह श्रेष्ठतर थी। उसमें भारतवर्ष की समस्त जटिल समस्याओं पर प्रकाश डाला गया था और उनके हल करने का प्रयत्न किया गया था। किंतु इतना होने पर भी यह योजना केवल समझौते के रूप में थी। कांग्रेस उसे इसी शर्त पर अपनाने को तैयार थी कि ३१ दिसंबर, सन् १९२९ तक उसे क़ानून का रूप दे दिया जाय। भिन्न भिन्न अल्प-संख्यक जातियाँ उसके सांप्रदायिक निर्णय से असंतुष्ट थीं। उसकी देशी रियासतों-संबंधी धाराओं से देशी नरेश सहमत न थे। उसके विचार में सन् १९१९ के शासन-विधान के पश्चात्, औपनिवेशिक स्वराज्य ही भारतीय शासन-विकास की दूसरी

सीढ़ी थी। वह निर्वाचकों की संख्या यकायक ६५,००,००० से बढ़ा कर १०,००,००,००० करना चाहती थी। ऐसा होने में केवल निर्वाचकों की संख्या ही नहीं बढ़ती, वरन् प्रत्येक निर्वाचक-संघ में लगभग २,४०,००० निर्वाचक होते, और हाउस ऑफ् रेप्रेज़ेंटेटिव्स में उनका केवल एक ही प्रतिनिधि होता। सीमांत प्रदेश की स्थिति पर समुचित ध्यान दिये बिना नेहरू कमेटी की योजना वहाँ पर भी उत्तरदायी शासन के स्थापित करने के पक्ष में थी। परंतु इन दोषों के होते हुए भी यह योजना विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि सन् १९२८ में यह सर्व-दल-सम्मेलन की आशाओं का मूर्तिमान स्वरूप थी।

साइमन कमीशन की योजना—इस काल की तीसरी शासन-सुधार-संबंधी उल्लेखनीय योजना साइमन कमीशन की योजना थी। जैसा ऊपर बतलाया गया है, साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा नवंबर सन् १९२७ में की गयी थी। इसमें किसी भारतवासी को स्थान न मिला था। अतएव राष्ट्रीय अपमान के कारण भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रमुख दल उसके बहिष्कार पर तुल गये थे। ३ फरवरी, सन् १९२९ को कमीशन ने बंबई में पदार्पण किया। उस दिन सारे देश में हड़ताल मनायी गयी। तत्पश्चात् कमीशन जहाँ गया, वहीं उसे 'साइमन गो बैक' के नारे सुनने पड़े। कई स्थानों में पुलिस और जनता में मुठभेड़ भी हुई, जिसके कारण पुलिस ने जनता पर लाठियाँ चलायीं, और भारतवर्ष के कई प्रमुख नेताओं को लाठियों के प्रहार सहने पड़े। कई स्थानों में गोलियाँ भी चलीं। विरोध को कम करने के लिए सर जॉन साइमन ने भारतवर्ष में आने के पश्चात् वाइसराय को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने यह आश्वासन दिया कि कार्यरूप में कमीशन एक स्वतंत्र संयुक्त सम्मेलन का रूप धारण करेगा जिसमें भारतीय विषयों पर विचार करते समय, एक ओर कमीशन के सातों अंगरेज़ सदस्य होंगे और दूसरी ओर भारतीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा चुने गये सातों भारतीय सदस्य। प्रांतीय विषयों पर विचार करते समय स्वतंत्र संयुक्त सम्मेलन में सातों अंगरेज़ सदस्यों के अतिरिक्त, प्रत्येक प्रांतीय व्यवस्थापक सभा के द्वारा चुने गये सात भारतीय सदस्य होंगे[1]। स्वतंत्र संयुक्त

---

(१) कमीशन की इच्छा थी कि प्रांतीय विषयों पर विचार करते समय कमीशन और प्रांतीय कमेटी के सदस्यों के अतिरिक्त, यदि संभव हो, तो भार-

सम्मेलन के अंगरेज़ और भारतीय सदस्य बराबर समझे जायँगे, और उनको सारे कागज़ात देखने का अधिकार होगा। किंतु इस आश्वासन पर भी कमीशन के विरोध में किसी प्रकार की कमी न हुई। हाँ मध्य-प्रदेश को छोड़ कर अन्य प्रांतों ने सहयोगी कमेटियाँ अवश्य नियुक्त कीं। भारतीय व्यवस्थापक सभा ने अपने प्रतिनिधि चुनने से इनकार किया। पर कौंसिल ऑफ़ स्टेट ने अपने तीन प्रतिनिधि चुने और व्यवस्थापक सभा के छः सदस्यों को गवर्नर जनरल ने स्वयं मनोनीत किया। इस प्रकार भारतीय कमेटी भी नियुक्त हो गयी। अब स्वतंत्र संयुक्त सम्मेलन के रूप में कमीशन ने अपना काम आरंभ किया। यद्यपि भारतवर्ष के सभी प्रमुख राजनीतिक दल कमीशन का विरोध करते रहे, तो भी सहयोगी व्यक्तियों, दलों और संस्थाओं ने उसके सामने समुचित सामग्री उपस्थित की जिसके आधार पर कमीशन ने जून सन् १९३० में अपनी एकमत रिपोर्ट प्रकाशित की। कुछ लोगों की राय में यह रिपोर्ट योग्यता और रचनात्मक कार्यशीलता की उदाहरण स्वरूप थी, किंतु भारतीय राष्ट्रवादियों की दृष्टि में वह अपर्याप्त, असंतोपजनक और अपमानसूचक थी।

साइमन कमीशन की योजना के निम्नलिखित तीन मूल सिद्धांत थे—

(अ) केंद्रीय और प्रांतीय शासन-विधानों को प्रगतिशील एवं लचकदार होना चाहिये, जिससे समयानुकूल उनमें आसानी से परिवर्तन और संशोधन किये जा सकें। कमीशन की दृष्टि में किसी निर्दिष्ट काल के पश्चात् शासन-विधान की जाँच करना दोपयुक्त था। अतएव शासन-विधान में ही विकास का बीच उपस्थित रहना चाहिये।

(ब) समस्त भारतवर्ष की राजनीतिक एकता का भाव सम्मुख रखना चाहिये। राष्ट्रीय जागृति और आंदोलन के कारण समस्त भारतवर्ष क्रमशः एकता के सूत्र में बंध गया है। भारतीय राष्ट्रीयता के इस

तीय कमेटी के सारे या कुछ सदस्य भाग लें। कार्यरूप में ऐसा हुआ भी। २९ मार्च को सर जॉन साइमन ने वाइसराय के पास एक और पत्र भेजा जिसमें उन्होंने यह लिखा था कि भारतवर्ष से जाने के पूर्व कमीशन के सदस्यों और भारतीय कमेटी का आख़िरी संयुक्त सम्मेलन होगा और उसमें प्रांतीय कमेटियों के भी कुछ प्रतिनिधि शामिल किये जायँगे।

मूल सिद्धांत को निर्जीव समझना भारी भूल है। इसके सजीव बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि अंत में समस्त भारतवर्ष का एक संघ राज्य स्थापित किया जाय।

(स) संक्रमण काल में देश की शांति और सुव्यवस्था का समुचित प्रबंध करना चाहिये। जिन दिनों प्रांतीय स्वराज्य का विकास होता हो, देश की शांति भंग होने की आशंका न होनी चाहिये। अतएव कमीशन ने केंद्रीय शासन के सुदृढ़ और शक्तिशाली बनाये रखने का सिद्धांत सर्वदा अपने सन्मुख रक्खा।

इन मूल सिद्धांतों को सामने रखकर, कमीशन ने भारतवर्ष के भविष्य शासन-विधान के लिए निम्नलिखित सिफ़ारिशें कीं—

(अ) प्रांतीय स्वराज्य—द्वैध शासन-प्रणाली को मिटा कर प्रांतों में स्वराज्य स्थापित करना चाहिये, जिससे, गवर्नर के कुछ विशेष अधिकारों को छोड़ कर, प्रांतीय मंत्रि-मंडल अपनी नीति और कामों के लिए प्रांतीय व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदायी हो जायँ। प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल की दो सभाएँ हों अथवा एक ही, इस विषय में कमीशन ने कोई ख़ास सिफ़ारिश नहीं की। पर विशेषज्ञों की एक ऐसी कमेटी पर अवश्य ज़ोर दिया जो व्यवस्थापक सभा के प्रस्तावों को, क़ानून बनने के पूर्व, भली भांति देखरेख कर लिया करे। कमीशन ने प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं के आकार बढ़ाने की सिफ़ारिश की[1] और निर्वाचकों की संख्या के बढ़ाने पर भी ज़ोर दिया। कमीशन की राय में सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली का जारी रखना आवश्यक था। उसने जन-संख्या के आधार पर दलित जातियों के लिए व्यवस्थापक सभाओं में स्थान रिज़र्व करने और स्त्री-निर्वाचकों की संख्या बढ़ाने पर भी ज़ोर दिया। कमीशन ने इस बात की भी सिफ़ारिश की कि दस बरस के पश्चात् कुछ निर्दिष्ट विषयों में प्रांतीय व्यवस्थापक सभाएँ स्वयं प्रांतीय शासन-विधान में परिवर्तन कर सकें[2]। प्रांत की शांति और सुव्यवस्था के

---

(१) कमीशन की सिफ़ारिश थी कि प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं के २०० से २५० तक सदस्य हों और निर्वाचकों की संख्या समस्त जन-संख्या की २.८ प्रतिशत् से बढ़ाकर १० प्रतिशत् कर दी जाय।

(२) प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं का यह अधिकार बड़ा परिमित था। प्रांतीय व्यवस्थापक सभाएँ १० बरस के पश्चात् केवल निम्नलिखित विषयों

लिए गवर्नर को कई विशेष अधिकार दिये गये थे और यह ......
की गयी थी कि यदि भारतीय राजनीतिज्ञ अड़ंगा की नीति का प्रयोग करें तो गवर्नर स्वयं प्रांत का शासन कर सके।

(ब) केंद्रीय शासन—साइमन कमीशन ने केंद्रीय शासन में विशेष परिवर्तन करने की सिफ़ारिश नहीं की। उसके विचार में द्वैध शासन-प्रणाली केंद्रीय शासन के लिए उतनी ही अनुपयुक्त थी जितनी प्रांतीय शासन के लिए। किंतु उसकी यह धारणा अवश्य थी कि शासन-विभाग और नियम-विभाग में अधिक संपर्क स्थापित हो। अतएव कमीशन ने सिफ़ारिश की कि केंद्रीय इक्जीक्यूटिव के सारे सदस्यों को स्वयं गवर्नर जनरल नियुक्त किया करें और केंद्रीय व्यवस्थापक मंडल के कुछ प्रभावशाली सदस्य भी इक्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य बनाये जायँ। कमीशन ने केंद्रीय शासन-विभाग को केंद्रीय व्यवस्थापक मंडल के प्रति निरुत्तरदायी रखा किंतु उसको यह आशा थी कि कालांतर में कुछ ऐसी प्रथाएं चल पड़ेंगी जिनके कारण केंद्रीय शासन-विभाग व्यवस्थापक मंडल के इच्छानुकूल काम करने लगेगा। कमीशन ने लेजिस्लेटिव असेंबली का नाम बदल कर फेडेरल असेंबली रखने और उसके आकार बढ़ाने की सिफ़ारिश की। किंतु निर्वाचक-क्षेत्रों के बहुत बड़े हो जाने के भय से प्रत्यक्ष निर्वाचन के स्थान पर, अनुपातीय प्रतिनिधित्व के आधार पर परोक्ष निर्वाचन-प्रणाली को अधिक उपयुक्त बतलाया। कमीशन ने सिफ़ारिश की कि केंद्रीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं के सदस्य प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं द्वारा चुने जायँ। सांप्रदायिक निर्वाचन को स्वीकार करते हुए कमीशन ने फेडेरल असेंबली के चुनाव के लिए भिन्न भिन्न संप्रदायों का निम्नलिखित अनुपात निश्चित किया—ग़ैर-मुस्लिम ५०%, दलित जातियाँ ८%, सिक्ख २%, मुसल्मान २८%, भारतीय ईसाई और एंग्लो इंडियन ३% और युरोपियन १०%। कमीशन ने कौंसिल ऑफ़ स्टेट का कार्यकाल सात बरस कर देने

पर वैधानिक प्रस्ताव पास कर सकती थीं। (अ) निर्वाचन-संघों की सीमा, संख्या और प्रतिनिधियों का बदलना, (ब) चुनाव के ढंग में परिवर्तन करना, (स) किसी विशेष जन-समुदाय के प्रतिनिधित्व में परिवर्तन करना इत्यादि इत्यादि।

की सिफ़ारिश की और गवर्नर जनरल को फेडेरल असेंबली में अधिक से अधिक बारह और कौंसिल ऑफ़् स्टेट में अधिक से अधिक बीस सरकारी सदस्यों के मनोनीत करने का अधिकार दिया। कमीशन ने केंद्रीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं को, आर्थिक विषयों को छोड़ कर समान अधिकार दिये। आर्थिक विषयों में फेडेरल असेंबली के अधिकार कौंसिल ऑफ़् स्टेट के अधिकारों से कुछ अधिक थे।

(स) देश-रक्षा—कमीशन ने देश-रक्षा के प्रश्न पर विचार करके इस बात की सिफ़ारिश की कि भविष्य में भारतवर्ष की सेना वाइसराय और कमांडर-इन-चीफ़ के अधीन रहे और उसका ख़र्च फेडेरल असेंबली द्वारा पास न किया जाकर गवर्नर जनरल द्वारा सर्टीफाई किया जाय। कमीशन ने सेना के भारतीयकरण पर भी जोर दिया और केंद्रीय व्यवस्थापक मंडल और देशी रियासतों के प्रतिनिधियों की ऐसी कमेटी स्थापित करने की सिफ़ारिश की जो सेना-संबंधी सारी बातों की देखरेख किया करे। देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के शामिल करने का मुख्य उद्देश्य भविष्य के संघ राज्य की कल्पना थी।

(द) भारत-मंत्री—भारत-मंत्री और उनकी कौंसिल के विषय में भी कमीशन ने कई सिफ़ारिशें कीं। उसकी सिफ़ारिश थी कि गवर्नर के विशेष अधिकारों को छोड़कर प्रांतीय विषयों में, भारत-मंत्री का निरीक्षण बंद कर दिया जाय किंतु उन्हें यह अधिकार अवश्य दिया जाय कि वे प्रांतीय शासन संबंधी कोई भी सूचना मांग सकें, जिससे अड़ंगा-नीति के प्रयोग होने पर प्रांतीय शासन आसानी से पार्लमेंट के अधीन किया जा सके। केंद्रीय शासन के निरुत्तरदायी होने के कारण, कमीशन की राय में, भारत-मंत्री का पूर्ववत् निरीक्षण आवश्यक था, पर वह कुछ ऐसी प्रथाओं के पक्ष में अवश्य था जिनसे भारत-सरकार को अधिकाधिक स्वतंत्रता प्राप्त हो सके। कमीशन ने इंडिया कौंसिल को तोड़ कर, उसके स्थान पर विशेषज्ञों की एक कमेटी स्थापित करने की सिफ़ारिश की। इसका काम भारत-मंत्री को भारतीय विषयों पर परामर्श देना था।

(य) देशी रियासतें—भविष्य में देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के संघ राज्य स्थापित होने की कल्पना के कारण, कमीशन ने देशी रियासतों के संबंध में निम्नलिखित सिफ़ारिशें कीं—

(क) परामर्श और सहयोग से ऐसे विषयों की एक सूची तैयार की जाय जिनका संबंध ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों दोनों से हो।

(ख) नये गवर्मेंट ऑफ् इंडिया एक्ट के प्राक्कथन में, देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के अधिक संपर्क की आवश्यकता स्पष्ट कर दी जाय ताकि अंत में दोनों का संघ राज्य स्थापित हो सके।

(ग) देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों की एक परामर्श-कौंसिल स्थापित की जाय जो ऐसे विषयों पर विचार किया करे जिनका संबंध दोनों से हो। कौंसिल के कुल तीस सदस्य हों और सिर्फ देशी रियासतों के दस।

(फ) विविध सिफ़ारिशें—आर्थिक विषय में कमीशन ने मिस्टर (आजकल सर) वाल्टर लेटन की सिफ़ारिशों को मानते हुए, केंद्रीय सरकार की आमदनी बढ़ाने और उस आमदनी के वितरण करने की सिफ़ारिशें की। कमीशन की राय में बर्मा का भारतवर्ष से अलग किया जाना आवश्यक था। इसके दो कारण थे—(१) बर्मा वाले स्वयं इस पृथक्करण के पक्ष में थे और (२) भारतवर्ष के एक रूप राज्य में बर्मा का संतोषजनक स्थान होना असंभव था। कमीशन ने असभ्य प्रदेशों (Backward Tracts) का शासन केंद्रीय सरकार के अधीन रखने की सिफ़ारिश की पर यह भी स्पष्ट कर दिया कि प्रांतीय गवर्नर, केंद्रीय सरकार के प्रतिनिधि होकर, इन प्रदेशों पर शासन किया करेंगे।

आलोचना—साइमन कमीशन की योजना से भारतवर्ष के प्रायः[1] सभी राजनीतिक दल असंतुष्ट थे। गरम दल वाले उसे अपमान सूचक और निंदनीय कहते थे और नरम दल वाले अपर्याप्त। विलायत वाले और सरकारी पक्ष वाले, उसे योग्यता और रचनात्मक कार्यकुशलता का आदर्श समझते थे। भारतीय दृष्टि-कोण को देखते हुए साइमन योजना वास्तव में अपर्याप्त थी। केंद्रीय शासन में उत्तरदायी शासन स्थापित न करके उसको पहले से भी अधिक निरुत्तरदायी

(१) कुछ ऐसे भारतीय दल, जिनको अपनी जन-संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व मिल गया था, साइमन योजना से असंतुष्ट नहीं थे जैसे मुसल्मान, हरिजन आदि।

बनाना[1] एक ऐसी भूल थी जिसके कारण साइमन योजना निरादर की दृष्टि से देखी गयी। उग्र राजनीतिज्ञों के लिए यह योजना एक प्रकार से मनोवांछित थी। उनको अब दृढ़ विश्वास हो गया कि कमीशन की योजना के आधार पर भारतवर्ष के राजीनीतिक उत्थान की आशा करना एक निराधार बात थी। अतएव वे पूर्ण स्वराज्य के पथ पर अग्रसर होने लगे। इंगलैंड में भी साइमन रिपोर्ट और योजना पर उस ढंग से विचार न किया गया जिस ढंग से ऐसी अन्य रिपोर्टों पर किया जाता है। भारतीय परिस्थिति के कारण सर जॉन साइमन ने स्वयं ही प्रधान मंत्री को गोलमेज़ परिषद् करने का परामर्श दिया था। इन्हीं गोलमेज़ परिषदों में वह योजना तैयार की गयी जो अंत में पार्लमेंट में बिल के रूप में पेश की गयी। अतएव साइमन कमीशन की रिपोर्ट पार्लमेंट में इस आशय से न पेश की गयी कि उसके आधार पर भविष्य का गवर्मेंट ऑफ् इंडिया बिल बनाया जाय। पर यह बात निर्विवाद है कि गोलमेज़ परिषदों की योजना में उसका प्रभाव प्रायः सभी महत्वपूर्ण धाराओं में विद्यमान है।

भारतीय कमेटी की योजना—इस काल की चौथी उल्लेखनीय योजना भारतीय कमेटी (Indian Central Committee) की है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, यह कमेटी सितंबर सन् १९२८ में साइमन कमीशन से सहयोग करने के लिए नियुक्त की गयी थी। इसके कुल नव सदस्य थे और सर शंकरन नायर इसके सभापति थे। २३ दिसंबर, सन् १९२९ को कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। रिपोर्ट का मूल भाग तो लगभग ७२ पृष्ठों का ही था किंतु अल्प-संख्यक रिपोर्ट और व्यक्तगत् मतों के कारण वह लगभग ४०० पृष्ठों की हो गयी थी। सर शंकरन नायर ने वाइसराय से प्रार्थना की थी कि उनकी रिपोर्ट के पार्लमेंट में भेजे जाने का समुचित प्रबंध किया जाय और वह साइमन रिपोर्ट की परिशिष्टमात्र न समझी जाय।

---

(१) साइमन कमीशन की योजना के अनुसार गवर्नर जनरल के अधिकार शाहजहाँ से भी अधिक हो जाते और उनका उत्तरदायित्व शाह आलम से भी कम। देखिये Sir Shafa'at Ahmad Khan: The Indian Federation, p. 11.

भारतीय कमेटी ने सन् १९२९ के सुधारों के कार्यान्वित रूप की जाँच करने के पश्चात् भावी भारतीय शासन-विधान के संबंध में निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण सिफ़ारिशें कीं—

(अ) प्रांतीय स्वराज्य,

(ब) औपनिवेशिक स्वराज्य की स्पष्ट घोषणा, और

(स) केंद्रीय शासन में द्वैध शासन-प्रणाली।

(अ) प्रांतीय स्वराज्य—प्रांतों के पुनः निर्माण के संबंध में कमेटी ने सिंध को बंबई प्रांत से अलग करने की सिफ़ारिश की, किंतु बर्मा के पृथक्करण का विरोध किया। प्रांतीय स्वराज्य स्थापित करने के उद्देश्य से कमेटी ने हस्तांतरित और संरक्षित विषयों का भेदभाव मिटा कर केवल प्रांतीय और केंद्रीय विषयों के भेदभाव बनाये रखने पर जोर दिया और यह सिफ़ारिश की कि बंगाल में शांति और सुव्यवस्था[1] के विषय को छोड़ कर, सारे प्रांतीय विषय प्रांतीय सरकारों के अधीन कर दिये जायँ। कमेटी ने विभिन्न प्रांतों के मंत्रियों की संख्या[2] निश्चित की और उनकी नियुक्ति, वेतन, उत्तरदायित्व आदि के वे ही सिद्धांत रखे जो इंगलैंड में प्रचलित थे। कमेटी ने सिफ़ारिश की कि प्रांत की शांति और सुव्यवस्था के लिए गवर्नर मंत्रि-मंडल के विरोध करने पर भी आर्डिर निकाल सकें और धार्मिक बातों और केंद्रीय और अंतर्प्रांतीय विषयों में गवर्नर और मंत्रि-मंडल में मतभेद होने पर, गवर्नर जनरल का निर्णय सर्वमान्य समझा जाय। प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं के संबंध में कमेटी ने सिफ़ारिश की कि निर्वाचकों की संख्या शीघ्र ही दूनी कर दी जाय और उनकी संख्या क्रमशः इस प्रकार बढ़ायी जाय कि

---

(१) सांप्रदायिक वैमनस्य के कारण, कमेटी ने बंगाल के लिए शांति और सुव्यवस्था का विषय, केंद्रीय विषय रखा था। उसके प्रबंध के लिए गवर्नर द्वारा नियुक्त एक सरकारी मंत्री का प्रबंध किया गया था जो अपनी नीति और कामों के लिए प्रांतीय व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदायी न था।

(२) मद्रास ८, संयुक्त प्रांत ६, बंबई, बंगाल, पंजाब और बर्मा ५, बिहार, उड़ीसा और आसाम ४, और मध्यप्रांत और बरार ३।

भारत-सरकार और शासन-सुधार—इस काल की पांचवीं उल्लेखनीय योजना भारत-सरकार[1] की योजना थी। यह १३ नवंबर, सन् १९३० को प्रकाशित की गयी थी। भारत-सरकार ने तत्कालीन सारी योजनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन करके यह योजना तैयार की थी। भारतवर्ष की राष्ट्रीय मांग के महत्व को स्वीकार करते हुए, भारत-सरकार ने प्रांतीय शासन के वे ही मूल सिद्धांत रखे थे जो साइमन योजना के थे, किंतु केंद्रीय शासन सुधार में दोनों में कुछ मतभेद था। संभवतः केंद्रीय शासन-सुधार में भारत-सरकार की योजना, भारतीय कमेटी की योजना से वहुत कुछ प्रभावित हुई थी।

(अ) प्रांतीय शासन—साइमन कमीशन की भांति भारत-सरकार चाहती थी कि प्रांतीय स्वराज्य शीघ्र ही स्थापित किया जाय, सिंध और उड़ीसा के नये प्रांत वनाये जायँ, प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं का आकार और कार्यकाल वढ़ाया जाय और सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली क़ायम रखी जाय। भारत-सरकार, वंगाल, संयुक्त प्रांत और विहार में दो सभाओं के व्यवस्थापक मंडल के स्थापित करने के पक्ष में थी और उसने भिन्न भिन्न संप्रदायों को सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली के मिटाने का अधिकार भी दिया था[2]। साइमन कमीशन की भांति भारत-सरकार भी निर्वाचकों की संख्या वढ़ाना चाहती थी किंतु स्त्रियों के मताधिकार के विषय में उसके विचार साइमन योजना से भिन्न थे। वह चाहती थी कि स्त्रियों को मताधिकार देना प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं पर छोड़ दिया जाय और पंद्रह वरस के पश्चात् समस्त निर्वाचन अधिकार की जाँच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की जाय जो निर्वाचकों की संख्या वढ़ाने के विषय में सिफ़ारिशें करे। प्रांतीय शासन

---

(१) इस योजना को अंगरेजी में Government of India Despatch कहते हैं। इसके अंत में लॉर्ड अर्विन, सर विलियम वर्डवुड, सर जेम्स क्रेरार, सर जॉर्ज शुस्टर, सर वी. एल. मित्र, सर फजले हुसेन, और मिस्टर जे. डब्ल्यू. भोर के हस्ताक्षर थे।

(२) सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली तभी मिटायी जा सकती थी जव व्यवस्थापक सभा में उस संप्रदाय के जितने सदस्य हों उनके दो तिहाई उसके मिटाने के पक्ष में हों।

के विषय में, भारत-सरकार, सरकारी मंत्रियों के भी पक्ष में थी किंतु उसका विचार था कि ऐसे मंत्री शायद ही कभी नियुक्त किये जायँ। ऐसे मंत्रियों के नियुक्त किये जाने के लिए भारत-सरकार मंत्रि-मंडल की अनुमति आवश्यक समझती थी। भारत-सरकार, मंत्रि-मंडल-निर्माण के सांप्रदायिक आधार के विषय में क़ानून बनाने के प्रतिकूल थी, किंतु उसका विश्वास था कि गवर्नर प्रभावशाली अल्प-संख्यक जन-समुदायों के प्रतिनिधियों को मंत्रि-मंडल में अवश्य स्थान देंगे। प्रांतीय शासन की अन्य बातों के विषय में भारत-सरकार के प्रायः वे ही विचार थे जो साइमन कमीशन के।

(ब) केंद्रीय शासन—केंद्रीय शासन के विषय में भारत-सरकार और साइमन कमीशन में कुछ मतभेद था। केंद्रीय शासन के सुदृढ़ और शक्तिशाली होने के सिद्धांत को मानते हुए, भारत-सरकार ने उन तीन बातों पर ज़ोर दिया जिन पर केंद्रीय सरकार का शक्तिशाली होना निर्भर था। वे निम्नलिखित थीं—

(क) शासन-विभाग की एकता,

(ख) शासन-विभाग और नियम-विभाग में सहयोग, और

(ग) जन-सम्मति का सहयोग।

भारत-सरकार के विचार में, शासन-विभाग की समुचित एकता स्थापित हो चुकी थी किंतु शेष दो बातों के विषय में उसे कुछ संदेह था। अतएव उसने सिफ़ारिश की कि कार्यरूप में केंद्रीय सरकार का काम दो भागों में विभक्त किया जाय, जिनमें से एक विशेषतया ब्रिटिश पार्लमेंट के अधीन हो और दूसरा भारतीय व्यवस्थापक मंडल के। केंद्रीय शासन-संचालन के लिए एक मंत्रि-मंडल[1] स्थापित किया जाय जो

---

(१) मंत्रि-मंडल में कुछ सरकारी सदस्यों का होना अनिवार्य था। उनका काम था उन विषयों की देखभाल करना जो पार्लमेंट के अधीन थे। इस प्रकार मंत्रि-मंडल में कुछ सरकारी सदस्य होते और कुछ ग़ैर-सरकारी। साधारणतया व्यवस्थापक मंडल के प्रभावशाली सदस्य ही ग़ैर-सरकारी मंत्री नियुक्त किये जाते। भारत-सरकार को विश्वास था कि मंत्रि-मंडल के उपर्युक्त दोनों प्रकार के सदस्य एकमत होकर शासन कर सकेंगे। किंतु यदि किसी विषय में मतभेद हो और गवर्नर जनरल

साधारणतया भारतीय व्यवस्थापक मंडल के प्रति उत्तरदायी हो, पर उन विषयों में जिनकी जिम्मेदारी पार्लमेंट पर है, गवर्नर जनरल मंत्रि-मंडल और व्यवस्थापक मंडल के निर्णय को रद करके, उनकी मर्ज़ी के प्रतिकूल भी जो चाहें, कर सकें। ऐसा करने से केंद्रीय शासन सुदृढ़ और शक्तिशाली बना रहेगा और उसे व्यवस्थापक मंडल और जन-सम्मति का सहयोग मिल जायगा। भारत-सरकार की योजना के अनु-सार मंत्रि-मंडल के ग़ैर-सरकारी सदस्य न तो अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा ही हटाये जा सकते थे और न उनका वेतन ही व्यवस्थापक मंडल की स्वीकृति पर निर्भर था। किंतु गवर्नर जनरल स्वयं उस मंत्री को मंत्रि-मंडल से निकाल सकते थे जिसका प्रभाव, व्यवस्थापक मंडल में कम हो जाय और उसके स्थान पर नये मंत्री को नियुक्त कर सकते थे। भारत-सरकार लेजिस्लेटिव असेंबली के परोक्ष निर्वाचन से सहमत न थी। उसकी इच्छा थी कि असेंबली और कौंसिल ऑफ़् स्टेट दोनों के आकार बढ़ाये जायँ और उनका कार्यकाल क्रमशः पाँच और सात साल कर दिया जाय। असेंबली के २०० सदस्यों में से १६२ साधारण और विशेष निर्वाचन-संघों द्वारा चुने जायँ और ३८ सरकार द्वारा मनोनीत किये जायँ। भारत-सरकार कौंसिल ऑफ़् स्टेट के परोक्ष निर्वाचन से कुछ हद तक सहमत थी और निर्वाचित और मनोनीत सदस्यों के सन् १९१९ के अनुपात के पक्ष में थी।

(स) विविध सिफ़ारिशें—भारत-मंत्री और पार्लमेंट के हस्तक्षेप के विषय में भी भारत-सरकार ने कुछ सिफ़ारिशें की थीं। उसने ग्यारह ऐसे विषयों की सूची बनायी थी जिनमें आवश्यकतानुसार पार्लमेंट का हस्तक्षेप अनिवार्य था[1]। उसका विचार था कि भारत-सरकार

उनमें से एक का साथ दें, तो ग़ैर-सरकारी सदस्य अपना त्यागपत्र दे सकते थे और सरकारी सदस्य अपने विरोध की सूचना भारत-मंत्री के पास भेज सकते थे। भारत-सरकार को आशा थी कि त्यागपत्र स्वीकार करने के पश्चात् दूसरे मंत्री आसानी से मिल जायँगे। वह भारतीय राजनीतिज्ञों की अड़ंगा-नीति से परिचित थी, पर उसे विश्वास था कि अंत में अड़ंगा के स्थान पर विवेक की विजय होगी और मंत्रि-मंडल आसानी से बनाये जा सकेंगे।

(१) सूची इस प्रकार थी—(१) भारत-मंत्री के अधीन विषय (२) बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा (३) साम्राज्य और विदेशों के अधिकारों

भविष्य में, भारत-मंत्री की केवल एजेंटमात्र न रह जायगी और आवश्यकतानुसार भारत-मंत्री का निरीक्षण भी पूर्ववत् होता रहेगा। भारत-सरकार इंडिया कौंसिल के तोड़ने के पक्ष में थी किंतु वह भारत-मंत्री को कुछ ऐसे सलाहकार अवश्य देना चाहती थी जो उसे कोष, नौकरियों, फौजी समस्याओं आदि के विषय में सलाह देते रहें।

उपसंहार—उपर्युक्त पांच योजनाएँ इस काल की महत्त्वपूर्ण योजनाएँ थी। इनके अतिरिक्त सैकड़ों और भी योजनाएँ थीं जो साइमन कमीशन के सामने किसी विशेष दृष्टिकोण से पेश की गयी थीं। इस स्थान पर उन सबकी विवेचना करना संभव नहीं। उपर्युक्त पांचों योजनाओं में किसी से भी भारतवर्ष के सब दल संतुष्ट न थे। साइमन कमीशन, भारतीय कमेटी और भारत-सरकार की योजनाएँ, राष्ट्रवादी और उदारवादी राजनीतिज्ञों की दृष्टि में अपर्याप्त, निराशाजनक और अपमानसूचक थीं। उनमें भारतीय स्वराज्य की मांग का एक अंश भी न था। सरकारी सदस्य और भारतीय और विदेशी अनुदार राजनीतिज्ञ, उन्हें पर्याप्त, आशाजनक और उन्नतिशील समझते थे। उनकी धारणा थी कि साइमन-योजना भारतवर्ष को क्रमशः औपनिवेशिक स्वराज्य की ओर लिये जा रही थी और कुछ दिनों में भारतवर्ष को ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अन्य सदस्यों का सा स्थान मिल जायगा। नेहरू-योजना ही एक ऐसी योजना थी जिससे भारतवर्ष के सारे राजनीतिक दल अधिक से अधिक सहमत थे। पर अंत में कांग्रेसवादियों ने उसको समाप्त समझा और मुसलमान भी उसके सांप्रदायिक निर्णय का विरोध करने लगे। अतएव इन योजनाओं में से एक भी पूर्णतया स्वीकार न की गयी। पर इसमें संदेह नहीं कि भारतवर्ष के भावी शासन-विधान के निर्मित करने में इन योजनाओं का परोक्ष रीति से बहुत कुछ प्रभाव पड़ा।

की रक्षा, (४) साम्राज्य और भारतवर्ष के बीच के मामले, (५) भारत-मंत्री के अंतर्राष्ट्रीय कर्तव्य, (६) देश की आंतरिक सुव्यवस्था, (७) आर्थिक स्थिरता, (८) अल्प-संख्यक जन-समुदायों की रक्षा, (९) अन्यायपूर्ण आर्थिक और व्यापारिक भेदभाव, (१०) भारत-मंत्री द्वारा भरती की गयी नौकरियों की रक्षा और (११) शासन-विधान की रक्षा।

सातवाँ परिच्छेद

संघ राज्य की ओर

१९२८-१९३५

संघ राज्य की कल्पना—भारतीय परिस्थिति—भारतीय व्यवस्थापक सभा (असेंबली) में चहल पहल—सांप्रदायिक वैमनस्य—आतंकवादियों के कारनामे—पूर्ण स्वतंत्रता की ओर—सविनय अवज्ञा आंदोलन—सरकार की दमन-नीति—सुलह के प्रयत्न—प्रथम गोलमेज़ परिषद—प्रथम गोलमेज़ परिषद और भारतीय लोकमत—अर्विन-गांधी समझौता—इंगलैंड रवाना होने के पहले—द्वितीय गोलमेज़ परिषद—भारतवर्ष में भयानक परिस्थिति—आंदोलन और दमन—सांप्रदायिक निर्णय और पूना-पैक्ट—तृतीय गोलमेज परिषद—कांग्रेस की नीति में परिवर्तन—सन् १९३५ का भारतीय शासन-विधान।

संघ राज्य की कल्पना—यद्यपि भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से समस्त भारतवर्ष एक ही देश है, पर इसकी राजनीतिक एकता एक प्रकार से हमेशा ही स्वप्नवत् रही है। इसमें संदेह नहीं कि भूत काल में अशोक, अलाउद्दीन खिलजी, औरंगजेब आदि महान सम्राट समस्त भारतवर्ष को अपने अधीन कर सके थे, पर उनकी सफलता वास्तव में क्षणिक थी और उनकी मृत्यु के पश्चात भारतीय राजनीतिक एकता पुनः स्वप्नवत् हो गयी थी। संभवतः उनके शासन-काल में भी राजनीतिक एकता केवल संदिग्ध रूप से ही स्थापित हो सकी थी। आधुनिक काल में आने जाने के सुभीतों के कारण समस्त भारतवर्ष बहुतेरी बातों में एक हो गया है, पर राजनीतिक दृष्टि से अब भी उसके दो हिस्से हैं, देशी रियासतें और ब्रिटिश भारत। दोनों को मिला कर संघ राज्य स्थापित करने से यह भेदभाव भी मिट जायगा और समस्त भारतवर्ष की राजनीतिक एकता स्थापित हो जायगी।

महासमर के पूर्व इस देश में भारतीय संघ राज्य की विशेष चर्चा न थी। किंतु महासमर के पश्चात् यह परिस्थिति बिल्कुल बदल गयी

और देशी नरेश और उनकी प्रजा, ब्रिटिश भारतीय राजनीतिज्ञ और सरकारी कर्मचारी, सभी भारतीय संघ राज्य का स्वप्न देखने लगे। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट और नेहरू-योजना में यह कल्पना विद्यमान थी। नरेंद्र-मंडल में इसकी चर्चा होती थी और देशी नरेश भी इसके पक्षपाती हो गये थे[1]। पर किसी को यह आशा न थी कि निकट भविष्य में यह कल्पना मूर्तिमान स्वरूप धारण कर सकेगी। ब्रिटिश भारत की राजनीतिक प्रगति इस ओर अवश्य थी। प्रांतीय स्वराज्य स्थापित होने पर भारतीय संघ राज्य द्वारा ही भारतवर्ष की राजनीतिक एकता क़ायम रखी जा सकती थी। पर देशी रियासतों का राजनीतिक विकास इस ओर न था। वे मध्यकालीन रंग में रंगी थी और उनमें वह राजनीतिक जागृति न थी जो संघ राज्य स्थापित करने के लिए आवश्यक थी। प्रथम गोलमेज़ परिषद में, देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के डेलीगेटों ने संघ राज्य की कल्पना को कार्यान्वित करने के पक्ष में अपने विचार प्रकट किये। तब से औपनिवेशिक स्वराज्य, केंद्रीय उत्तरदायी शासन आदि के स्थान में भारतीय राजनीतिक वातावरण में संघ राज्य की चर्चा का ही प्राधान्य हो गया और सन् १९३५ में ब्रिटिश पार्लमेंट में भारतीय संघ राज्य का शासन-विधान पास भी कर दिया।

भारतीय परिस्थिति—सन् १९२८ से लेकर १९३५ तक के आठ बरस भारतीय इतिहास में बड़े महत्व के हैं। इस काल में एक ओर तो भारत-सरकार द्वारा मनोनीत भारतीय डेलीगेट, गोलमेज़ परिषदों में भारतवर्ष का भावी शासन-विधान तैयार कर रहे थे और दूसरी ओर भारतवर्ष में कांग्रेस, गांधी जी के नेतृत्व में, सविनय अवज्ञा आंदोलन द्वारा, पूर्ण स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर थी। उग्र राजनीतिज्ञों का सहयोग प्राप्त करने के लिए इसी काल में कई महत्वपूर्ण सरकारी घोषणाएँ की गयीं जिनके आधार पर अर्विन-गांधी समझौता हुआ और गांधी जी दूसरी गोलमेज़ परिषद में कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि हो कर शरीक हुए। इसी काल में भारतीय व्यवस्थापक सभा में कई सनसनीदार घटनाएँ हुईं और आंतकवादी कई सरकारी पदाधिकारियों के वध करने में

---

(१) देखिये G. N. Singh: Indian States and British India—Their Future Relation. pp. 73-75.

सफल हुऐ। इस अपूर्व परिस्थिति का सामना करने के लिए भारत-सरकार को असाधारण ढंग से काम करना पड़ा। साधारण क़ानूनों के स्थान पर ऑर्डीनेंसों का शासन स्थापित हुआ जिसके कारण हजारों कांग्रेसवादियों को कारावास का दंड मिला और फलस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन भी कुछ कमज़ोर पड़ गया। इसी काल में कई स्थानों में हिंदू-मुसल्मानों के भीषण दंगे हुए और सांप्रदायिक वैमनस्य और उस पर निर्भर सांप्रदायिक मांगों की यहाँ तक वृद्धि हुई कि भारतीय डेलीगेट गोलमेज़ परिषदों में सांप्रदायिक समस्या को स्वयं न हल कर सके और भारतवर्ष को प्रधान मंत्री का निर्णय स्वीकार करना पड़ा। इस परिच्छेद में हम उपर्युक्त सारी बातों पर थोड़ा बहुत प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

भारतीय व्यवस्थापक सभा (असेंबली) में चहल पहल—१९२८ से लेकर १९३५ तक भारतीय व्यवस्थापक सभा में काफ़ी चहल पहल रही। इसका मुख्य कारण था असेंबली में कांग्रेसी सदस्यों की उपस्थिति। पं० मोतीलाल नेहरू, पं० मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपत राय आदि की उपस्थिति के कारण असेंबली के वादविवादों में एक ऐसी स्फूर्ति आ गयी थी जो इसके पहले कभी न पायी गयी थी। कांग्रेसी और राष्ट्रीय दल के सदस्य सरकारी नीति की तीव्र आलोचना करते थे और महत्वपूर्ण सरकारी प्रस्तावों को भी गिराने में सफल होते थे। असेंबली द्वारा पास किये गये अथवा रद किये गये सब प्रस्तावों पर प्रकाश डालना इस स्थान पर संभव नहीं। पर असेंबली के कुछ महत्वपूर्ण प्रस्तावों पर प्रकाश डालना, भारतीय राष्ट्रीय जागृति के वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए, आवश्यक प्रतीत होता है।

कांग्रेस का कौंसिल मोर्चा स्वराज्य पार्टी के जन्म के साथ साथ आरंभ हुआ था। स्वराज्य पार्टी अड़ंगा-नीति से काम करती थी। बजट का रद करना, सरकारी प्रस्तावों का गिराना, सरकारी नीति की तीव्र आलोचना करना, असेंबली भवन से एक साथ बाहर निकल आना आदि उसकी नीति के कार्यान्वित करने के मुख्य साधन थे। सन् १९२७ के आरंभ में असेंबली के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि रुपये की दर १६ पेंस हो अथवा १८ पेंस। सरकार १८ पेंस के पक्ष में थी और राष्ट्रवादी १६ पेंस के। राष्ट्रवादियों का कहना था कि यदि रुपये की दर १८ पेंस

नियत की जायगी तो विदेशी माल भारतवर्ष में सस्ता विकेगा और विदेशी बाजारों में भारतवर्ष के कच्चे माल का मूल्य कम हो जायगा। अतएव १८ पेंस की दर भारतीय दस्तकारी और कृषि दोनों के लिए अहितकर सिद्ध होगी। वोट लिए जाने पर तीन अधिक मतों से असेंवली ने सरकारी दर को ही अपनाया और राष्ट्रवादियों को हार खानी पड़ी[1]।

१ फरवरी, सन् १९२८ को रिज़र्व बैंक संबंधी दूसरा बिल असेंवली में पेश हुआ। इस विषय का पहला बिल जनवरी सन् १९२७ में पेश किया गया था और वह अब भी असेंवली के विचाराधीन था। सरकार के कथनानुसार रिज़र्व बैंक स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य था, देश की मुद्रा-संबंधी नीति को भारत-मंत्री के नियंत्रण से हटा कर देश के एक बैंक के नियंत्रण में कर देना। उस समय सरकार का विचार था कि बैंक के १६ संरक्षकों (डाइरेक्टरों) में से ९ चुने हुए हों और बैंक की पूँजी स्टॉकहोल्डरों की हो। फरवरी सन् १९२८ में अर्थ-सचिव ने, पहले बिल के विचाराधीन होते हुए भी, रिज़र्व बैंक संबंधी एक दूसरा बिल असेंवली के सम्मुख रखा। कुछ सदस्यों के आपत्ति करने पर अध्यक्ष पटेल ने इस विषय में अपना यह निर्णय दिया—"जब किसी ऐसे बिल में, जो सभा के सामने पेश हो चुका हो, आवश्यक परिवर्तन करने हों तो उचित मार्ग यह है कि मूल बिल को पहले वापस लिया जाय और फिर उसमें परिवर्तन करके, उसे परिवर्तित रूप में दुबारा पेश किया जाय"[2]। अध्यक्ष के इस निर्णय के कारण, सरकार ने पुराना बिल ही क़ायम रखा पर उसका विचार अनिश्चित काल के लिए स्थगित करा दिया।

---

(१) १८ पेंस की दर के पक्ष में ६८ वोट थे और विपक्ष में ६५। १८ पेंस की दर के कारण भारतवर्ष में विदेशी माल कुछ सस्ता अवश्य बिकता और इससे देश को लाभ पहुँचता; पर भारतीय दस्तकारियों को ठेस लगने की भी आशंका थी। साथ ही भारतीय माल भी विदेशों में सस्ता बिकता और इस कारण भारतवर्ष को हानि पहुँचती। अनुमान किया जाता है कि इस दर के कारण, भारतवर्ष को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचती है और देश को लगभग आठ करोड़ रुपये सालाना का नुकसान बरदाश्त करना पड़ता है।

(२) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ २८५।

१६ फरवरी, सन् १९२८ को लाला लाजपत राय ने केंद्रीय सहयोगी कमेटी की नियुक्ति के विषय में निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किया—"यह असेंबली स-कौंसिल गवर्नर जनरल से सम्राट को सरकार को यह सूचना देने की सिफ़ारिश करती है कि उस पार्लमेंटरी कमीशन में, जो भारतीय शासन-विधान की जाँच करने के लिए नियुक्त किया गया है उसका लेश-मात्र भी विश्वास नहीं है"। इस प्रस्ताव पर बड़े ज़ोर की बहस हुई और अंत में वह ६ अधिक मतों से पास भी हो गया जिसके कारण सरकार को केंद्रीय कमेटी के असेंबली के सदस्यों को मनोनीत करना पड़ा[1]।

६ दिसंबर, सन् १९२८ को सार्वजनिक-रक्षा-बिल पेश हुआ। सरकार का कहना था कि यह बिल केवल विदेशियों के विरुद्ध काम में लाया जायगा, पर राष्ट्रवादियों का ख़्याल था कि बिल भारतीय राष्ट्रवादियों और समाजवादियों के विरुद्ध भी काम में लाया जायगा। बिल पर अच्छी खासी बहस हुई और जब वोट लिये गये तब दोनों ओर बराबर वोट आये। अंत में अध्यक्ष ने अपने निर्णायक (कास्टिंग) वोट द्वारा बिल को गिरा दिया। जनवरी सन् १९२९ को दूसरा सार्वजनिक-रक्षा-बिल सरकार की ओर से असेंबली में पेश हुआ। वह कमेटी के सिपुर्द कर दिया गया और कमेटी की रिपोर्ट भी तैयार हो गयी। २ अप्रैल को अध्यक्ष पटेल ने मेरठ-षड्यंत्र-केस[2] के कारण, जो उस समय न्यायालय के विचाराधीन था, सरकार को यह सलाह दी कि मुक़दमे के तय होने तक बिल का विचार स्थगित कर दिया जाय और यदि उस क़ानून का बनाना परमावश्यक हो तो मेरठ-षड्यंत्र-केस उठा लिया जाय। सरकार ने उनकी एक भी बात न मानी और इस कारण अध्यक्ष महोदय ने ११ अप्रैल, सन् १९२९ को बिल पर विचार करने की मनाही कर दी। इस निर्णय के तीन दिन पहले असेंबली का बम-कांड हुआ था। ८ अप्रैल को दर्शकों की गैलरी से दो बम सरकारी बेंचों के पास गिरे थे जिनके कारण

(१) प्रस्ताव के पक्ष में ६८ वोट थे और विपक्ष में ६२।

(२) यह केस कुछ वर्गवादियों के प्रतिकूल चलाया गया था, जो नियमानुकूल स्थापित सरकार के मिटाने का प्रयत्न कर रहे थे। इस केस में कांग्रेस-महासमिति के आठ सदस्य फँसे हुए थे और "न्यू स्पार्क" के संपादक मिस्टर हचिंसन भी।

कुछ सदस्यों को चोट आयी थी[1]। १२ तारीख़ को वाइसराय की वक्तृता के पश्चात् असेंबली स्थगित हुई। वाइसराय ने अपनी वक्तृता में सार्वजनिक-रक्षा-बिल को आॅर्डीनेंस के रूप में देश पर लागू कर दिया और अध्यक्ष के निर्णय पर भी कुछ विचार प्रगट किये जिसके कारण अध्यक्ष महोदय और वाइसराय में पत्र-व्यवहार हुआ और वाइसराय ने अध्यक्ष पटेल द्वारा निर्धारित. असेंबली और अध्यक्ष के अधिकार संबंधी सिद्धांत को स्वीकार किया और स्पष्ट रूप से कहा कि उनकी यह मंशा न थी कि वे असेंबली और उसके अध्यक्ष के अधिकारों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करें।

सन् १९३० के आरंभ से असेंबली की चहल पहल कुछ कम हो गयी। लाहौर कांग्रेस के आज्ञानुसार स्वराजियों ने असेंबली से इस्तीफ़े दे दिये। अप्रैल में महामना पं० मदनमोहन मालवीय और नैशनलिस्ट पार्टी के सदस्य सरकार की साम्राज्य के साथ रिआयत करने की नीति (The Policy of Imperial Preference) के कारण, असेंबली से अलग हो गये। दिल्ली अधिवेशन के पश्चात्, अध्यक्ष पटेल भी. इस्तीफ़ा देकर असेंबली से अलहिदा हो गये[2]। अब असेंबली के काम साधारण रीति से होने लगे। केवल नरमदल के और सरकारी सदस्यों के कारण, असेंबली में कभी कभी चहल पहल तो होती थी पर वैसी नहीं जैसी स्वराज्य पार्टी, नैशनलिस्ट पार्टी और अध्यक्ष पटेल की उपस्थिति में।

सन् १९३४ के निर्वाचन के पश्चात् स्वराज्य और नैशनलिस्ट पार्टियाँ पुनः असेंबली में पहुँचीं, परंतु बिना अध्यक्ष पटेल के[3]। श्री भूला भाई

---

(१) बम फेंकनेवाले भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त थे। वे शीघ्र ही गिरफ़्तार कर लिये गये थे। बम-कांड के पश्चात् दिल्ली के चीफ़ कमिश्नर ने असेंबली की रक्षा के लिए कुछ पोशाक पहने सिपाहियों को गैलरी में भेजा था। पर अध्यक्ष पटेल ने असेंबली के अधिकारों की रक्षा के बहाने उन सबको गैलरी के बाहर निकाल कर गैलरी में ताला बंद करा दिया था।

(२) नौकरशाही की असहानुभूति के कारण अध्यक्ष पटेल ने २५ अप्रैल, सन् १९३० को असेंबली की अध्यक्षता और सदस्यता दोनों से इस्तीफ़ा दे दिया था।

(३) असेंबली से इस्तीफ़ा देने के पश्चात् अध्यक्ष पटेल राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने लगे। पेशावर गोली-कांड की रिपोर्ट पर विचार करते समय

देसाई के नेतृत्व में, कांग्रेस-वादियों ने पुनः ज़ोर पकड़ा और इंगलैंड और भारतवर्ष के व्यापारिक समझौते के विषय में सरकार की प्रथम महत्त्व-पूर्ण पराजय हुई। ९ जनवरी, सन् १९३५ को इस समझौते पर हस्ताक्षर किये गये थे। इसका उद्देश्य था ओटावा के समझौते की पूर्ति।

समझौते की मुख्य शर्तों का भावार्थ निम्नलिखित[2] था—

(अ) भारतीय व्यवसायों को केवल उतना ही संरक्षण दिया जायगा, जितने से विदेशी माल भारतवर्ष में लगभग उसी दाम पर बिक सके जिस दाम पर उसी प्रकार का देशी माल और जहाँ तक हो सकेगा इंगलैंड के माल पर कम महसूल लगाया जायगा।

(ब) इंगलैंड के तथा अन्य बाहरी देशों के माल पर जो भेदभाव-पूर्ण महसूल लगाये गये हैं या लगाये जायँगे वे इस प्रकार न बदले जायँगे कि इंगलैंड को हानि पहुँचे।

(स) जब कभी किसी भारतीय व्यवसाय को संरक्षण देने का प्रश्न, टैरिफ बोर्ड के सिपुर्द किया जायगा, तो भारत-सरकार उस व्यवसाय से संबंध रखनेवाले ब्रिटेन के हर व्यवसाय को, यह अवसर देगी कि वह अपना पक्ष पेश करे और दूसरों की दलीलों का जवाब दे सके।

१५ जनवरी को असेंबली ने ५८ के विरुद्ध ६६ मतों से इस समझौते के अंत करने के पक्ष में एक प्रस्ताव पास किया। एक बरस के पश्चात्, ३० मार्च, सन् १९३६ को असेंबली ने ओटावा के समझौते के भी अंत करने की सिफ़ारिश की। इस प्रकार इंगलैंड और भारतवर्ष के

कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्यों के साथ वे भी पकड़े गये और उनको ६ महीने की सज़ा मिली। जेल में वे बीमार हो गये और छोड़े जाने के पश्चात् उनको अपनी दवा कराने के लिए यूरप जाना पड़ा। वहीं पर २२ अक्टूबर को उनका प्राणांत हुआ।

(१) ओटावा का समझौता इंगलैंड और भारतवर्ष के व्यापार के विषय में २० अगस्त, सन् १९३२ को किया गया था। इसके अनुसार इंगलैंड के माल पर भारतवर्ष में और भारतवर्ष के माल पर इंगलैंड में रिआयती महसूल लगाने का सिद्धांत स्वीकार किया गया था।

(२) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ५२१।

व्यापारिक समझौते के विषय में असेंबली ने सरकारी नीति का पूर्ण रूप से विरोध किया।

कांग्रेस का दूसरा महत्वपूर्ण प्रस्ताव, संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की रिपोर्ट के विषय में था। वह तो पास न हो सका, परंतु मिस्टर जिन्नाह का संशोधन[1], जो सांप्रदायिक निर्णय को छोड़ कर, उसी आशय का था जिस आशय का कांग्रेस का प्रस्ताव, ५८ के विरुद्ध ७४ मतों से पास हुआ।

भारतीय व्यवस्थापक सभा के उपर्युक्त कार्यों का विवरण, उसके सारे कार्यों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं। किंतु उससे यह अवश्य मालूम होता है कि उग्र राजनीतिज्ञों के अतिरिक्त, भारतवर्ष के

---

(१) मिस्टर जिन्नाह का संशोधन निम्नलिखित था—

"यह कौंसिल सांप्रदायिक निर्णय को जैसा कुछ भी हो, उस समय तक के लिए स्वीकार करती है, जब तक विभिन्न जातियों का आपस में समझौता तैयार न हो जाय।

"प्रांतीय सरकारों की योजना के संबंध में इस कौंसिल की राय है कि वह अत्यंत असंतोषजनक और निराशापूर्ण है, क्योंकि इसमें अनेक आपत्तिजनक बातें रखी गयी हैं—जैसे दुहरी कौंसिलों का कायम करना, गवर्नर को साधारण और विशेष अधिकार प्रदान करना, पुलिस के नियमों, गुप्त-चर विभाग और खुफ़िया पुलिस संबंधी धाराएँ। इसके कारण इक्जीक्यूटिव का नियंत्रण और उत्तरदायित्व वास्तविक न होगा। जब तक इन आपत्तिजनक बातों को हटाया न जायगा, भारतीय लोकमत का कोई अंग संतुष्ट न होगा।

"अखिल भारतीय संघ कहलाने वाली केंद्रीय सरकार की योजना के संबंध में कौंसिल की यह स्पष्ट राय है कि यह योजना जड़ से दोषपूर्ण है और ब्रिटिश भारत की जनता के लिए अस्वीकार्य है। इसलिए यह कौंसिल भारत-सरकार से सिफ़ारिश करती है कि वह सम्राट की सरकार को सलाह दे कि इस योजना के आधार पर कोई क़ानून न बनावे। यह कौंसिल इस बात पर ज़ोर देती है कि यह स्थिर करने के लिए कि सिर्फ़ ब्रिटिश भारत में वास्तविक और पूर्ण उत्तरदायी सरकार किस प्रकार स्थापित की जाय, तत्काल ही चेष्टा करे और इस उद्देश्य को सामने रख कर बिना विलंब भारतीय लोकमत के परामर्श से स्थिति में परिवर्तन करे"।

पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ५२२।

नरम और स्वतंत्र दलों के सदस्य भी सरकारी नीति को अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। उनमें राष्ट्रीयता का भाव बढ़ता जाता था। यदि असेंबली के सारे निर्णय उसके निर्वाचित सदस्यों के ही वोट पर किये जाते तो सरकार को प्रायः सभी महत्वपूर्ण प्रस्तावों पर पराजय का सामना करना पड़ता। असेंबली ने तो इतना किया ही, अध्यक्ष पटेल भी अपनी योग्यता और स्वतंत्र विचारों के कारण, असेंबली और अध्यक्ष का स्थान संसार की दृष्टि में बहुत ऊँचा करने में सफल हुए। उनके निर्णय इतने महत्वपूर्ण और सनसनीदार होते थे कि जनता का ध्यान तो असेंबली की ओर आकर्षित होता ही था पर उनके निर्णयों को दोषयुक्त ठहरा कर कोई उन्हें गलत सिद्ध करने का साहस तक न कर सकता था। वास्तव में अध्यक्ष पटेल संसार के महान अध्यक्षों में से एक थे।

सांप्रदायिक वैमनस्य—इस पुस्तक के तीसरे अध्याय में[1] हम सांप्रदायिक वैमनस्य और उसके कारणों पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। इस काल में भी सांप्रदायिक दंगे पूर्ववत् होते रहे। १८ अगस्त, सन् १९२७ को असेंबली में भाषण देते हुए, वाइसराय महोदय ने बतलाया था कि गत् १८ महीनों में सांप्रदायिक झगड़ों के कारण २५० व्यक्ति मारे गये थे और २५०० घायल हुए थे। इन झगड़ों के कारण कितनी संपत्ति नष्ट हुई थी, यह बतलाना कठिन है। सन् १९२८ में सांप्रदायिक झगड़ों में कुछ कमी रही। सन् १९२९ में बंबई का दंगा हुआ जिसमें लगभग २०० आदमी मारे गये और ९०० घायल हुए। इस झगड़े का मुख्य कारण जीविका का प्रश्न था। हिंदू हड़तालियों के स्थान पर पठानों का नियुक्त किया जाना इस झगड़े का मुख्य कारण था। सन् १९३१ में कानपुर का भयंकर रक्तपात हुआ[2]। कितने मरे, उनकी ठीक ठीक संख्या का पता लगाना कठिन है। कहा जाता है कि लगभग ४००-५०० मनुष्य मौत के घाट उतरे और हजारों घायल हुए। मंदिरों और मस्जिदों में आग लगायी गयी, सैकड़ों घर जला दिये गये और अनेक निरपराध स्त्री,

---

(१) देखिये तीसरा परिच्छेद, पृष्ठ ७३ से ७५ तक।

(२) कानपूर के रक्तपात का तत्कालीन कारण राजनीतिक था। हड़ताल कराने के प्रयत्न में मुसल्मान दूकानदारों और हिंदू हड़तालियों में मुठ-भेड़ हुई थी जिसके कारण कानपूर का भयंकर सांप्रदायिक दंगा हुआ था।

पुरुष, बालक और बालिकाएँ गुंडों के अत्याचारों के शिकार बने। सन् १९३२ में बंबई में पुनः झगड़ा हुआ जिसके कारण लगभग २०० मनुष्य मरे और ३००० घायल हुए। इस झगड़े में सांप्रदायिक वैमनस्य की मात्रा सन् १९२९ के झगड़े से कुछ अधिक थी। अगस्त सन् १९३२ में प्रधान-मंत्री का सांप्रदायिक निर्णय प्रकाशित हुआ। इस निर्णय के अनुसार मुसल्मानों को जन-संख्या के अनुपात से कुछ अधिक प्रतिनिधि दिये गये थे। अतएव प्रस्तावित शासन-विधान की अन्य बातों को न मानते हुए भी वे इस निर्णय से संतुष्ट थे। सन् १९३२-३३ में सांप्रदायिक झगड़े कुछ कम हुए, पर सन् १९३३-३४ में उनकी संख्या पुनः बढ़ी। अयोध्या में बकरीद के अवसर पर भीषण दंगा हुआ। गाजीपुर में हिंदू मुसल्मानों ने एक दूसरे को हलाल किया। तत्पश्चात् ये झगड़े न्यूनाधिक होते ही जाते हैं और यद्यपि ये पहले ब्रिटिश भारत में ही हुआ करते थे, पर अब देशी रियासतें भी इनसे मुक्त नहीं हैं।

सांप्रदायिक वैमनस्य भारतवर्ष की एक सोचनीय समस्या है। धार्मिक एवं व्यावहारिक कारणों के अतिरिक्त, आर्थिक और राजनीतिक कारण भी, अब उसकी ज्वाला को प्रज्ज्वलित करने लगे हैं। भारतवर्ष की सभी उत्तरदायी संस्थाएँ इसके मिटाने के पक्ष में हैं। हिंदू और मुसल्मान नेता इसके पक्षपाती नहीं हैं। सरकार भी इसके मिटाने का भरसक प्रयत्न करती है। फिर भी सांप्रदायिक झगड़े होते ही चले आते हैं। क्या ये सर्वदा होते रहेंगे? संभवतः नहीं। राष्ट्रीयता की लहर दिन पर दिन बढ़ती जाती है। हिंदुओं और मुसल्मानों के दृष्टिकोण में नित्य प्रति परिवर्तन होते जाते हैं। देश के नवयुवक अपने बुज़ुर्गों के अपरिवर्तनवादी विचारों का विरोध करने लगे हैं। कहा जाता है कि स्वतंत्र भारत में सांप्रदायिक वैमनस्य का नामोनिशान तक न रहेगा। शायद इसके पहले भी सांप्रदायिक समस्या सुलझ जाय। पर यदि कुछ कारणों से सांप्रदायिक ऐक्य शीघ्र ही स्थापित न हो सके तो भी यह बात निर्विवाद है कि सर-कार अपनी अधिक सतर्कता से सांप्रदायिक दंगों की संख्या घटा सकती है, उनकी भयंकरता में कमी कर सकती है और उनके कुप्रभावों और दुष्परिणामों को मिटा सकती है।

आंतकवादियों के कारनामे—पूर्व काल की भाँति इस काल में भी आतंकवादी अपने काम में लगे रहे। उनके उद्देश्य की पूर्ति के

दो मुख्य साधन थे—(१) सरकारी अधिकारियों की हत्या करना और (२) डकैतियाँ डालना। उनके मुख्य केंद्र पंजाब, संयुक्त प्रांत, बंगाल और बंबई में थे। उनके सभी कामों का विवरण देना यहाँ संभव नहीं किंतु इस संबंध की निम्नलिखित घटनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

सन् १९२९ में मेरठ का षड्यंत्र पकड़ा गया, असेंबली भवन में बम गिरे और दिल्ली से एक मील की दूरी पर वाइसराय की ट्रेन के नीचे बम फटा। सन् १९३० में लगभग सौ बंगाली नवयुवकों ने चटगाँव के तोपखाने पर आक्रमण किया। सन् १९३२ में पंजाब के और बंबई के स्थानापन्न गवर्नरों पर गोली चलायी गयी और इसी साल में बंगाल के गवर्नर पर एक महिला विद्यार्थी ने गोली चलायी। सन् १९३४ में बंगाल के गवर्नर पर पुनः वार किया गया, पर उपर्युक्त वारों की भाँति यह भी खाली गया। सन् १९२९ से लेकर सन् १९३२ तक आंतकवादी दुर्घटनाएँ बढ़ती रहीं। उनकी संख्या सन् १९२९ में ८ थी, सन् १९३० में ५३, सन् १९३१ में ८१ और सन् १९३२ में ९७। सन् १९३१ और १९३२ में आंतकवादी आठ सरकारी पदाधिकारियों की जान लेने में सफल हुए और ९८ डकैतियाँ डालने में[1]। सन् १९३२ के पश्चात् उनकी संख्या क्रमशः कम होती जाती है, किंतु फिर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारतवर्ष से आंतकवादियों का नामोनिशान मिट गया है।

आंतकवादी भारतवर्ष के उन मनुष्यों में से हैं जो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भयंकर से भयंकर काम करने में नहीं हिचकते। वे अपने सारे काम गुप्त रीति से करते हैं। देश की कोई भी उत्तरदायी संस्था उनके कामों की सराहना नहीं करती। अहिंसा का ध्येय सामने रखकर कांग्रेस ने कई बार उनके कामों को निंदनीय ठहराया है। गांधी जी के कथनानुसार हिंसा से भारतवर्ष का उद्धार नहीं हो सकता। उससे तो भारतवर्ष का पक्ष अधिकाधिक निर्बल होता जायगा। अन्य उत्तरदायी संस्थाओं का भी ऐसा ही ख्याल है। अपने दुस्साहस से आतंकवादी अपने प्राणों को व्यर्थ ही खोते जाते हैं। यदि वे अपने आतंकवादी कामों को छोड़ कर किसी दूसरे ढंग से देश-सेवा में लग जायँ तो अपने

---

(१) India 1931-32, page 71.

प्राण खोये विना वे भारतवर्ष के उत्थान में बहुत कुछ सहायता पहुँचा सकते हैं।

पूर्ण स्वतंत्रता की ओर—इस काल की सबसे अधिक महत्व की बातें थीं राष्ट्रीय आंदोलन और भारतीय शासन-विधान का निर्माण। हम साइमन कमीशन संबंधी कांग्रेस की नीति की विवेचना तीसरे परिच्छेद में कर चुके हैं[1]। भारतवर्ष के सभी प्रमुख राजनीतिक दलों ने उसके बहिष्कार का निश्चय किया था। अतएव कांग्रेस का भी उससे कोई सरोकार न था। मद्रास कांग्रेस ने कमीशन के हर हालत से और हर प्रकार से बहिष्कार करने का प्रस्ताव पास किया था। फिर भी कमीशन को, परोक्ष रीति से, कांग्रेस के विचारों का पता नेहरू-योजना से मिल गया था। कांग्रेस ने यह योजना इस शर्त पर अपनायी थी कि ब्रिटिश पार्लमेंट ३१ दिसंबर, सन् १९२९ तक उसे क़ानून का रूप दे दे। पर पार्लमेंट ने ऐसा न किया। इसी बीच में लॉर्ड अर्विन विलायत से लौटे और उन्होंने ३१ अक्टूबर, सन् १९२९ को निम्नलिखित महत्व-पूर्ण घोषणा की—

"साइमन कमीशन के अध्यक्ष ने प्रधान मंत्री के साथ अपने पत्र-व्यवहार में कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। पहली बात तो यह है कि आगे चल कर ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के पारस्परिक संबंध कैसे होंगे। अध्यक्ष महोदय की राय में इस बात की पूरी जाँच होना आवश्यक है। दूसरी सूचना यह दी है कि यदि कमीशन की रिपोर्ट और उस पर सरकार द्वारा बननेवाली योजना में यह वृहत् समस्या शामिल करनी हो तो फिर अभी से कार्य-पद्धति में परिवर्तन कर लेना जरूरी मालूम होता है। उनका प्रस्ताव है कि साइमन कमीशन और सेंट्रल कमेटी की रिपोर्टों पर विचार हो कर जब वे प्रकाशित कर दी जायँ और पार्लमेंट की दोनों सभाओं की सम्मिलित समिति नियुक्त हो उससे पहले ब्रिटिश सरकार को ब्रिटिश भारत और देशी राज्य दोनों के प्रतिनिधियों से विचार विनिमय करना चाहिये, जिससे सरकार की ओर से पार्लमेंट के सम्मुख पेश होने वाली अंतिम सुधार-योजना के पक्ष में अधिक से अधिक सहमति प्राप्त हो सके। भारतीय धारा-सभाओं एवं अन्य संस्थाओं

---

(१) देखिये तीसरा परिच्छेद, पृष्ठ ८४ से ८६ तक।

की सलाह लेना तो ज्वाइंट पार्लमेंटरी कमेटी के लिए फिर भी लाभदायक होगा ही। परंतु इसका अवसर तब आवेगा जब यह योजना आगे चल कर बिल के रूप में पार्लमेंट के सन्मुख आवेगी। किंतु कमीशन की राय में इससे पहले पूर्वोक्त ढंग की परिषद् बुलानी पड़ेगी। मैं समझता हूँ कि ब्रिटिश सरकार इन विचारों से पूर्णतः सहमत है।......अगस्त सन् १९१७ की घोषणा में ब्रिटिश नीति का ध्येय यह बताया गया था कि स्व-शासन-संस्थाओं का क्रमशः विकास किया जाय जिससे ब्रिटिश साम्राज्य का अंग रह कर भारत धीरे धीरे दायित्वपूर्ण शासन प्राप्त कर सके। परंतु सन् १९१९ के सुधार-क़ानून का अर्थ लगाने में विलायत और भारत दोनों ही देशों में ब्रिटिश सरकार की इच्छाओं पर संदेह किया गया है। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने मुझे यह स्पष्ट घोषित कर देने का अधिकार दिया है कि सन् १९१७ की घोषणा का यह अभिप्राय असंदिग्ध रूप से है कि भारत को अंत में उपनिवेश का दर्जा मिले"।[१]

इस घोषणा से भारतवर्ष के मॉडरेट राजनीतिज्ञ तो कुछ संतुष्ट हो गये और उन्होंने गोलमेज़ परिषदों में शामिल होने का निश्चय किया। पर कांग्रेस अब भी संतुष्ट न थी। १ नवंबर, सन् १९२९ को कांग्रेस-कार्य-समिति और महासभा पं० मदनमोहन मालवीय, सर तेज बहादुर सप्रू, डाक्टर ऐनी बेसेंट आदि प्रमुख नेताओं की सम्मिलित सभा हुई जिसके निर्णय के आधार पर, एक वक्तव्य प्रकाशित किया गया। उसका मूल मंत्र था भारत-सरकार की नीति का इस प्रकार बदला जाना, जिससे देश की प्रमुख राजनीतिक संस्थाएँ उस पर विश्वास करने लगें। इसके लिए यह आवश्यक था कि समझौते की नीति अख्तियार की जाय: राजनीतिक क़ैदी छोड़ दिये जायँ; प्रगतिशील राजनीतिक संस्थाओं को काफ़ी प्रतिनिधित्व दिया जाय और सबसे बड़ी संस्था होने के कारण कांग्रेस के प्रतिनिधि सबसे अधिक लिये जायँ: परिषद् शीघ्र ही बुलायी जाय और उसमें भारतवर्ष का औपनिवेशिक शासन-विधान तैयार किया जाय[२]।

२३ दिसंबर को लॉर्ड अर्विन और भारतीय नेताओं की मुलाकात हुई। कांग्रेस की ओर से गांधी जी और पं० मोती लाल जी नेहरू आमंत्रित

(१) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ३०३-३०४।
(२) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ, ३०४।

किये गये थे। कुछ इधर उधर की बातों[1] के पश्चात्, लॉर्ड अर्विन ने समझौते की बातचीत आरंभ की। सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों पर थोड़ा बहुत विचार किया गया। गांधी जी चाहते थे कि वाइसराय उन्हें यह आश्वासन दें कि गोलमेज़ परिषद् की कार्रवाई औपनिवेशिक स्वराज्य को आधार मान कर होगी। पर वाइसराय महोदय यह आश्वासन देने को तैयार न थे। वे अपने उत्तर में केवल इतना ही कहते थे कि सरकार ने अपने विचार अपने वक्तव्य में स्पष्ट कर दिये हैं। इसके आगे मैं कोई वचन नहीं दे सकता। "मेरी ऐसी स्थिति नहीं है कि औपनिवेशिक स्वराज्य का वादा करके गोलमेज़ परिषद् में आप लोगों को बुला सकूँ"[2]। वाइसराय के इस उत्तर से कांग्रेस का भ्रम दूर हो गया। सरकार और कांग्रेस का समझौता न हो सका और लाहौर कांग्रेस में नेहरू-योजना समाप्त समझी गयी। कांग्रेस का ध्येय पुनर्वार पूर्ण स्वाधीनता हो गया। २६ जनवरी, सन् १९३० को देश भर में स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया और स्वाधीनता का घोषणा-पत्र प्रायः सभी स्थानों में पढ़ा गया[3]।

सविनय अवज्ञा आंदोलन—फरवरी सन् १९३० को कांग्रेस-कार्य-समिति की बैठक साबरमती में हुई। उसने गांधी जी और

---

(१) इसी दिन वाइसराय की गाड़ी के नीचे बम फटा था जिसके कारण उनका एक कर्मचारी घायल हुआ था। वे स्वयं बाल बाल बच गये थे। नेताओं ने वाइसराय से इस दुर्घटना के विषय में लगभग ४५ मिनट तक बातें कीं। उसके पश्चात् वास्तविक प्रश्नों पर बातचीत आरंभ हुई।

(२) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ३०७।

(३) स्वाधीनता दिवस के एक दिन पहले, २५ जनवरी को, वाइसराय ने अपने असेंबली के भाषण में गोलमेज़ परिषद संबंधी निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—"परिषद भिन्न भिन्न मतों को स्पष्ट और एक करने और सरकार को रास्ता दिखाने के लिए की जायगी। योजना बना कर पार्लमेंट के सम्मुख उसे रखने की जिम्मेदारी तो सरकार पर ही रहेगी"। वाइसराय के इस भाषण ने कांग्रेस को ठीक ठीक बतला दिया कि गोलमेज़ परिषद क्या कर सकेगी जिसके कारण कांग्रेसवादियों के विचार उस ओर से और भी हट गये। पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ३१६।

अहिंसा में विश्वास रखने वाले उनके साथियों को, जब, जहाँ तक और जिस प्रकार उचित समझे, सविनय अवज्ञा करने की आज्ञा दे दी। कुछ दिनों के पश्चात् गांधी जी को आंदोलन चलाने की भी सत्ता दे दी गयी[1]। गांधी जी ने नमक-क़ानून भंग करके सविनय अवज्ञा करने का निश्चय किया। आंदोलन चलाने के पूर्व २ मार्च, सन् १९३० को उन्होंने लॉर्ड अर्विन के पास एक पत्र भेजा[2], जिसमें इंगलैंड और अंगरेज़ जाति के मित्र होते हुए भी उन्होंने भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की बुराइयों पर प्रकाश डाला और वाइसराय से आदरपूर्वक उन बुराइयों के दूर करने का अनुरोध किया। पत्र के अंत में उन्होंने वाइसराय को यह चेतावनी दी कि 'यदि इन बुराइयों को दूर करने का उपाय आप नहीं कर सकेंगे और मेरे पत्र का आप के हृदय पर असर नहीं होगा तो इस मास की ११ तारीख़ को मैं आश्रम से उपलब्ध साथियों को लेकर नमक-क़ानून तोड़ने के लिए चल पड़ूंगा'।[3] वाइसराय ने अपने उत्तर में गांधी जी के उपर्युक्त विचारों पर खेद प्रगट किया और कहा कि ऐसा करने से सार्वजनिक शांत के भंग होने की आशंका थी।

फलस्वरूप १२ मार्च को गांधी जी अपने ७९ साथियों के साथ नमक-क़ानून तोड़ने के लिए चल पड़े। २४ दिन पैदल चलकर और लगभग २०० मील की यात्रा समाप्त कर, ५ अप्रैल को प्रातःकाल सब लोग डाँडी पहुँचे और प्रार्थना करने के पश्चात् वहीं पर, समुद्र तट से नमक बीन कर नमक-क़ानून तोड़ने के लिए निकल पड़े। आख़िरकार नमक-क़ानून भंग हो गया। तत्पश्चात् गांधी जी ने उन सब लोगों को नमक बनाने का अधिकार प्रदान किया जो कारावास भोगने के लिए तैयार थे। अपने इस समय के वक्तव्य में उन्होंने यह सलाह दी कि कांग्रेस कार्यकर्ता सर्वत्र नमक बनावें और जहाँ शुद्ध नमक बन सके वहाँ उसका प्रयोग भी करें। वे ग्रामवासियों को भी नमक बनाना सिखा दें और उन्हें यह भी जता दें कि नमक बनाने में कारावास मिलने का भय था[4]।

---

(१) महासमिति ने अहमदाबाद के अधिवेशन में गांधी जी को यह सत्ता दी थी।
(२) पत्रवाहक रेजीनॉल्ड रेनॉल्ड नाम के अंगरेज़ युवक थे।
(३) इस पत्र का शीर्षक 'अंतिम चेतावनी' रखा गया था। पत्र के लिए देखिये पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, पृष्ठ ३२१ से ३२६ तक।
(४) गांधी जी के वक्तव्य के लिए देखिये पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ३३५ से ३३७ तक।

५ मई की रात को गांधी जी गिरफ़्तार कर लिये गये। सरदार वल्लभभाई पटेल को इसके पहले ही चार महीने की सज़ा मिल चुकी थी। पं० जवाहर लाल नेहरू, पं० मोतीलाल नेहरू आदि अन्य नेता भी गांधी जी की गिरफ़्तारी के बाद गिरफ़्तार कर लिये गये। सारे देश में सविनय अवज्ञा की लहर फैल गयी। जगह जगह नमक बनाया जाने लगा, नमक के गोदामों पर आक्रमण होने लगे, ताड़ी के वृक्ष काटे जाने लगे, जंगलात क़ानून तोड़ने के लिए जनता को प्रोत्साहित किया गया, करबंदी आंदोलन चलाया गया, विदेशी वस्तुओं और वस्त्रों का बहिष्कार किया गया और विशेषकर अंगरेजी माल और अंगरेज़ी बीमा कंपनियों, बंकों और जहाज़ों के बहिष्कार पर ज़ोर दिया गया। जनता का उत्साह सराहनीय था। स्वयंसेवकों ने भी अद्भुत अनुशासन का परिचय दिया। मालूम होता था कि कोई गुप्त आध्यात्मिक शक्ति, कष्टों के होते हुए भी, उन्हें अपने निर्दिष्ट ध्येय की ओर बहाये लिये जा रही थी।

सरकार की दमन-नीति—भारत-सरकार ने सविनय अवज्ञा आंदोलन का उत्तर दमन-नीति से दिया। नमक-क़ानून तोड़ने वाले स्वयंसेवकों के जत्थों पर लाठियों के प्रहार होने लगे। सार्वजनिक सभाएँ ग़ैर-क़ानूनी क़रार दी गयीं और सरकारी आज्ञा न मानने पर उन पर लाठियाँ बरसायी गयीं। कहीं कहीं पर गोलियाँ भी चलीं। इन लाठी और गोली प्रकरणों के कारण कुछ लोग मौत के शिकार हुए और बहुतेरे घायल हुए। कांग्रेस-नेता और उनके हज़ारों अनुयायी गिरफ़्तार करके जेल में बंद कर दिये गये। उन्होंने अपने मुक़दमों की पैरवी तक न की। कई स्थानों में अधिक गड़बड़ी के कारण फ़ौजी शासन तक स्थापित किया गया। एक साल में, इस अपूर्व परिस्थिति का मुक़ाबला करने के लिए, गवर्नर जनरल को १२ ऑर्डिनेंसें जारी करनी पड़ीं, जिनके कारण पुलिस और शासन-विभाग के कर्मचारियों के अधिकार बहुत ज़्यादा बढ़ गये। अख़बारों से जमानतें मांगी गयीं और जिन्होंने जमानतें देने से इनकार किया उनका प्रकाशन बंद कर दिया गया। कांग्रेस आदि कई राजनीतिक संस्थाएँ ग़ैर-क़ानूनी क़रार दी गयीं। अभियुक्तों पर लंबे लंबे जुर्माने किये गये। लगान और जुर्माना न देने वालों का माल कुड़क किया गया और आधे तिहाई दाम पर बेंचा गया। इतना होने पर भी आंदोलन के उत्साह में विशेष कमी न हुई। हाँ, नेताओं के जेल में बंद होने के कारण, उसका

कोई योग्य कर्णधार न रह गया जिसके कारण कई भूलें हुई और सरकार को अधिक दमन करने का अवसर मिला।

सुलह के प्रयत्न—सन् १९३० में भारत-सरकार और कांग्रेस में सुलह कराने के कई असफल प्रयत्न किये गये। साल के आरंभ में ही श्री वोमन जी ने समझौता कराने का बीड़ा उठाया था। गांधी जी उस समय भी अपनी ११ शर्तों[1] पर समझौता करने को तैयार थे। पर वोमन जी विफल-मनोरथ हुए और सरकार और कांग्रेस का समझौता न हो सका।

---

(१) गांधी जी की ११ शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) संपूर्ण मदिरा-निषेध (२) विनिमय की दर घटा कर एक शिलिंग चार पेंस कर दी जाय (३) ज़मीन का लगान आधा कर दिया जाय और उस पर कौंसिलों का नियंत्रण रहे (४) नमक-कर उठा लिया जाय (५) सैनिक व्यय में आरंभ में ही कम से कम ५० फ़ी सदी की कमी कर दी जाय (६) लगान की कमी को देखते हुए बड़ी बड़ी नौकरियों के वेतन कम से कम आधे कर दिये जायें (७) विदेशी कपड़े की आयात पर निषेध-कर लगा दिया जाय (८) भारतीय समुद्र-तट को केवल भारतीय जहाज़ों के लिए सुरक्षित रखने का प्रस्तावित क़ानून पास कर दिया जाय (९) हत्या या हत्या के प्रयत्न में साधारण ट्रिब्यूनलों (अदालतों) द्वारा सज़ा पाये हुओं के सिवा समस्त राजनीतिक क़ैदी छोड़ दिये जायें, सारे राजनीतिक मुक़दमें वापस ले लिये जायें, १२४ (अ) धारा और १८१८ का तीसरा रेग्यूलेशन उठा दिया जाय और सारे निर्वासित भारतवासियों को देश में वापस आ जाने दिया जाय (१०) ख़ुफ़िया पुलिस उठा दी जाय अथवा उस पर जनता का नियंत्रण कर दिया जाय (११) आत्म-रक्षा के लिए हथियार रखने के परवाने दिये जायें और उन पर जनता का नियंत्रण रहे। इन शर्तों के साथ साथ गांधी जी ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि उपर्युक्त ११ बुराइयों के निवारण से ही भारतीय मांगों की सूची पूरी नहीं हो जाती। पर यदि वाइसराय उनकी ही पूर्ति कर देंगे तो वे सविनय अवज्ञा की चर्चा तक न सुनेंगे और बातचीत की आज़ादी के आश्वासन पर कांग्रेस किसी भी परिषद में हृदय से भाग लेगी। देखिये पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ३१६–१७।

२० मई को जॉर्ज स्लोकोंब[1] साहब ने यरवदा जेल में गांधी जी से मुलाक़ात की और सुलह-संबंधी चर्चा छेड़ी। इस बातचीत का सारांश उन्होंने अपने पत्र में इस प्रकार छपवाया—

"गांधी जी क़ानून-भंग स्थगित करने और गोलमेज़ परिषद् के साथ सहयोग करने को तैयार हैं यदि उनकी निम्नलिखित चार शर्तें[2] मान ली जायँ—

(अ) गोलमेज़ परिषद् को ऐसा विधान बनाने का अधिकार दिया जाय जिससे भारतवर्ष को स्वाधीनता का सार मिल जाय।

(ब) नमक-कर उठा देने और शराब और विदेशी वस्त्रों की मनाही करने के संबंध में गांधी जी को संतोष दिलाया जाय।

(स) क़ानून-भंग बंद होने के साथ साथ राजनीतिक क़ैदी छोड़ दिये जायँ। और

(द) वाइसराय के नाम गांधी जी ने अपने पत्र में जो और बातें लिखी हैं उनकी चर्चा बाद पर छोड़ दी जाय।

स्लोकोंब साहब के लेख के कारण इंगलैंड में थोड़ी बहुत सनसनी तो अवश्य हुई पर सरकार और कांग्रेस का समझौता न हो सका। २० जून को स्लोकोंब साहब ने इस काम में पुनः हाथ डाला। इस बार उन्हें सर तेज बहादुर सप्रू और श्री जयकर का भी सहयोग मिला। वे मध्यस्थ बनने के लिए राज़ी हो गये। पं० मोतीलाल जी भी सुलह करने के पक्ष में थे। उन्होंने मध्यस्थों को यह आश्वासन दिया कि यदि भारत-सरकार और ब्रिटिश सरकार दोनों अपनी अपनी ओर यह से विश्वास दिला सकें कि वे भारतवर्ष के पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग का समर्थन करेंगी, तो वे गोलमेज़ परिषद् की सिफ़ारिशों और पार्लमेंट के रुख का विशेष ख़्याल न करके. समझौते के संबंध में राष्ट्रपति जवाहर लाल और गांधी जी से बातचीत करने को तैयार थे। इस विषय में वाइसराय

---

(१) जॉर्ज स्लोकोंब साहब लंदन के "डेली हेरैल्ड" नामक पत्र के प्रतिनिधि थे। वे भिन्न भिन्न देशों में १८ बरस से संवाददाता का काम करते आये थे। उन्होंने नमक के कुछ धावों को स्वयं देखा था और स्वयंसेवकों के अनुशासन और अहिंसा-प्रेम से चकित हुए थे।

(२) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ३४८।

महोदय ने भी मध्यस्थों से यह वादा किया कि "हम भारतवासियों को उनके गृह-प्रबंध का उतना अंश दिलाने में सहायता देंगे जितना उन विषयों के प्रबंध से मेल खाता हुआ दिखाया जायगा जिनमें जिम्मेदारी लेने की स्थिति में वे नहीं हैं"[१]। इसी बीच में पं० मोतीलाल जी नेहरू गिरफ़्तार कर लिये गये और इस निराशाजनक परिस्थिति में सर सप्रू और श्री जयकर सुलह कराने के मार्ग पर अग्रसर हुए।

२३ और २४ अगस्त को मध्यस्थों ने गांधी जी से सुलह-संबंधी बातचीत आरंभ की। गांधी जी निम्नलिखित शर्तों[२] पर सुलह करने को तैयार थे—

(अ) गोलमेज़ परिषद् के वाद-विवाद संरक्षण-संबंधी विचारों तक ही सीमित रहें।

(ब) निषेध-क़ानून बनने के पूर्व विदेशी वस्त्र और शराब पर धरना जारी रहे।

(स) नमक का बनाना बिना किसी प्रकार की सज़ा के जारी रखा जाय।

(द) राजनीतिक क़ैदी छोड़ दिये जायँ।

(प) ज़ब्त की गयी जायदादें, जुर्माने और जमानतें वापस की जायँ।

(फ) ऑर्डिनेंसें वापस ली जायँ। और

(ग) जिन सरकारी कर्मचारियों ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिये हैं वे पुनर्नियुक्त किये जायँ।

गांधी जी की इन शर्तों को लेकर सर सप्रू और श्री जयकर, पं० मोतीलाल जी और पं० जवाहर लाल जी नेहरू से मिले। वे गांधी जी के उपर्युक्त वैधानिक विचारों से सहमत न थे। उनकी राय में गांधी जी की शर्तें

---

(१) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ३६३।

(२) गांधी जी शर्तों के विशेष विवरण और सुलह-संबंधी पत्र-व्यवहार के लिए देखिये पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ५७० से ५९६ तक।

कांग्रेस की प्रतिज्ञाओं और स्थिति के अनुकूल न थीं। अतएव गांधी जी ने, मध्यस्थों की दूसरी मुलाक़ात में, निम्नलिखित दो शर्तें और बढ़ायीं—

(अ) वे शासन-विधान-संबंधी किसी ऐसी योजना को स्वीकार न करेंगे जिसमें भारतवर्ष को साम्राज्य से पृथक होने का अधिकार न हो।

(ब) अंगरेज़ों के दावों और भूतकालीन रिआयतों की स्वतंत्र जाँच की जाय।

१४ अगस्त को यरवदा जेल में कांग्रेस के प्रमुख नेताओं की एक सभा हुई। इसमें समझौते की उपर्युक्त शर्तों पर पुनः ज़ोर दिया गया। पर वाइसराय इनसे सहमत न थे। कुछ दिनों तक और पत्र-व्यवहार के पश्चात् शांति-स्थापना का यह प्रयत्न भी निष्फल गया।

प्रथम गोलमेज़ परिषद—१२ नवंबर, सन् १९३० को गोलमेज़ परिषद् बड़े समारोह से शुरू हुई। लॉर्ड सभा की शाही गैलरी में सम्राट जॉर्ज पंचम ने उसका उद्घाटन किया। इस अवसर पर ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के भिन्न भिन्न अंगों के भी प्रधान मंत्री और प्रतिनिधि उपस्थित थे। भारतवर्ष के कुल मिला कर ७३ प्रतिनिधि थे, ५७ ब्रिटिश भारत के, और १६ देशी रियासतों के, जिनमें १० देशी नरेश भी शामिल थे। इंगलैंड के भिन्न भिन्न राजनीतिक दलों के १३ प्रतिनिधि उपस्थित थे। सम्राट की वक्तृता के पश्चात् प्रधान मंत्री परिषद् के सभापति चुने गये और १६ सदस्यों की एक कार्य-संचालन समिति नियुक्त की गयी। तत्पश्चात् परिषद् १७ नवंबर तक के लिए स्थगित कर दी गयी।

१७ नवंबर को गोलमेज़ परिषद् के अधिवेशन आरंभ हुए। कार्य-संचालन-समिति की सिफ़ारिश पर भारतवर्ष के भावी शासन-विधान के रूप पर वाद-विवाद आरंभ हुआ। भारतवर्ष का भावी शासन-विधान एक-केंद्रीय शासन-विधान हो अथवा संघ शासन-विधान? सर तेज बहादुर सप्रू सबसे पहले बोले। उन्होंने उत्तरदायी शासन, औपनिवेशिक स्वराज्य आदि बातों पर ज़ोर दिया और उपस्थित देशी नरेशों से यह स्पष्ट करने की प्रार्थना की कि वे भारतीय संघ राज्य में शामिल होने के लिए तैयार हैं अथवा नहीं। तत्पश्चात् बीकानेर नरेश संघ राज्य के पक्ष में बोले और पटियाला, भूपाल, अलवर आदि नरेशों ने भी ऐसे ही

विचार प्रगट किये[१]। देशी नरेशों की इस सहानुभूति के कारण, भारतीय राजनीतिक वातावरण में संघ राज्य की कल्पना का प्राधान्य हो गया। गोलमेज सम्मिलित सभी प्रतिनिधियों ने उसका स्वागत किया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि गोलमेज परिषद् अपने काम में बहुत कुछ सफल हो जायगी।

---

(१) देशी नरेशों की वक्तृताओं के निम्नलिखित अंश विशेषतया उल्लेखनीय हैं—

"But speaking broadly the Princes and states realise that an All-India Federation is likely to prove the only satisfactory solution of India's problem. A Federation on the lines I have attempted to sketch on other occassions, has, as I have previously said, no terrors for the Princes and Governments of Indian States."—H. H. The Maharaja of Bikaner.

"A United India will be the finest and truest jewel and the strongest force in the cause of our Empire. Under this system I come again to the proposition, called at present by the name of Federation, where my ideal is the "United States of India" within the empire. We are assembled at this table to devise means and ways in order to achieve this end by co-operation and I am sure you will not find our states lagging behind in joining hands in order to arrive at a happy solution."—H. H. The Maharaja of Alwar.

"I would only say that if Federation be agreed upon those whom I represent would be willing to assist in the achievement of the goal."—H. H. The Chief of Sangli.

"I believe and I am happy to think that my belief is shared by many that the readiest and quickest method of achieving this enhanced status and dignity lies along the road of Federation. For federation I am prepared to work, knowing that only through federation can the Indian States join with British India in the formation of

छः दिन के साधारण अधिवेशन के पश्चात् परिषद् ने भिन्न भिन्न प्रश्नों पर विचार करने के लिए ६ उप-समितियाँ नियुक्त कीं। उनके नाम थे, संघ शासन, प्रांतीय शासन, अल्प-संख्यक जन समुदायों, वर्मा, सीमांत प्रदेश, मताधिकार, रक्षा, सरकारी नौकरियों और सिंध की उप-समितियाँ। इन उप-समितियों ने अपनी रिपोर्टों को लगभग आठ सप्ताह के परिश्रम के पश्चात्, परिषद् के सम्मुख पेश किया। १६ जनवरी को परिषद् के साधारण अधिवेशन पुनः आरंभ हुए। कमेटियों को मूल्यवान सामग्री प्रस्तुत करने के लिए बधाइयाँ दी गयीं और प्रधान मंत्री ने संघ राज्य, संरक्षण-सहित उत्तरदायी शासन, प्रांतीय स्वराज्य आदि को मानते हुए, भावी भारतीय शासन-विधान के संबंध में ब्रिटिश सरकार की नीति और इरादों की निम्नलिखित घोषणा[1] की—

"ब्रिटिश सरकार का यह विचार है कि भारतवर्ष के शासन की जिम्मेदारी प्रांतीय और केंद्रीय व्यवस्थापक सभाओं पर रखी जाय। संक्रमण काल में खास-खास जिम्मेदारियों का ध्यान रखने की गारंटी देने के लिए और दूसरी खास खास स्थितियों का मुक़ाबला करने के लिए उसमें आवश्यक गुंजाइश रख ली जाय। अपनी राजनीतिक स्वाधीनता की और अधिकारों की रक्षा के लिए अल्प-संख्यकों को जितनी गारंटी आवश्यक है वह भी उसमें हो।

"संक्रमण काल की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए जो क़ानूनी संरक्षण रखे जायँगे उनमें यह ध्यान रखना ब्रिटिश सरकार का प्रथम

---

greater India which we all desire."—H. H. The Maharaja of Patiala.

"Speaking for myself and I am sure, too, on behalf of my brother princes, I cordially reciprocate his (Sir Taj Bahadur's) view of the share which the Indian States can contribute in a United Federal India, and I particularly endorse his remark that when the time comes, they will furnish a stabilising factor in the Constitution."—H. H. The Nawab of Bhopal.

(१) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ३६५–६६।

कर्तव्य होगा कि सुरक्षित अधिकार इस प्रकार के हों और उन्हें इस प्रकार से काम में लाया जाय कि उनसे नये शासन-विधान द्वारा भारतवर्ष को अपने निजी शासन की पूरी ज़िम्मेदारी तक बढ़ने में कोई बाधा न आवे।

"यदि इस बीच में वाइसराय की अपील का जवाब उन लोगों की ओर से भी मिलेगा, जो इस समय सविनय अवज्ञा आंदोलन में लगे हुए हैं, तो उनकी सेवाएँ स्वीकार करने की कार्रवाई भी की जायगी"।

प्रथम गोलमेज़ परिषद और भारतीय लोकमत— प्रथम गोलमेज़ परिषद की कार्रवाई से भारतवर्ष के नरम राजनीतिज्ञ बहुत कुछ संतुष्ट हो गये। भारतीय संघ राज्य और उत्तरदायी केंद्रीय शासन का स्वीकार किया जाना कोई साधारण बात न थी। भारत-सरकार और ब्रिटिश राजनीतिज्ञ परिषद की सफलता पर मुग्ध थे। पर कांग्रेस का रुख इससे भिन्न था। २१ जनवरी, सन् १९३१ को कांग्रेस-कार्य-समिति ने एक रिआयती प्रस्ताव पास किया जिसमें गोलमेज़ परिषद की कार्रवाई और प्रधान मंत्री की घोषणा की विवेचना की गयी। प्रस्ताव के अनुसार कांग्रेस-कार्य-समिति "उस गोलमेज़ परिषद की कार्रवाई को स्वीकार करने को तैयार न थी जो ब्रिटिश पार्लमेंट के खास खास सदस्यों, भारतीय नरेशों और ब्रिटिश सरकार द्वारा अपने समर्थकों में से चुने हुए उन व्यक्तियों ने मिल कर की थी, जो भारतवासियों के किसी भी वर्ग के चुने हुए प्रतिनिधि नहीं थे।"[1] कार्य-समिति ने प्रधान मंत्री द्वारा घोषित भारतीय नीति पर भी भली भाँति विचार किया। उसके मतानुकूल वह नीति इतनी अस्पष्ट और सामान्य थी कि उसके आधार पर कांग्रेस की नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। इस प्रस्ताव के चार दिन बाद २५ जनवरी, सन् १९३१ को लॉर्ड अर्विन ने निम्नलिखित वक्तव्य[2] निकाला—

"१९ जनवरी को प्रधान मंत्री ने जो वक्तव्य दिया था उस पर विचार करने का अवसर देने की ग़रज से मेरी सरकार ने प्रांतीय सरकारों की राय से यह ठीक समझा है कि कांग्रेस की कार्य-समिति के सदस्यों को आपस में और उन लोगों के साथ जो १ जनवरी, १९३० से समिति के

---

(१) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ३६६।
(२) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ३६८।

सदस्य की तौर पर काम करते रहे हैं, बातचीत करने को पूरी पूरी छूट दी जाय।

"इस निर्णय के अनुसार, इस उद्देश से और इस ग़रज से कि वे जो सभाएँ करें, उनके लिए कोई क़ानूनन रुकावट न हो, समिति को ग़ैर-क़ानूनी घोषित करनेवाला ऐलान, प्रांतीय सरकारों द्वारा वापस ले लिया जायगा और गांधी जी तथा अन्य लोगों को, जो इस समिति के सदस्य हैं या जो १ जनवरी, १९३० से सदस्य के तौर पर काम करते रहे हैं, छोड़ने की कार्रवाई की जायगी।

"मेरी सरकार इन रिहाइयों पर कोई शर्त नहीं लगायेगी, क्योंकि हम अनुभव करते हैं कि शांतिपूर्ण स्थिति वापस लाने की अधिक से अधिक आशा इसी में है कि संबंधित लोग बिना शर्त आज़ाद होकर बातचीत करें। हमने यह कार्रवाई ऐसी शांतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न करने की हार्दिक इच्छा से की है, जिसमें प्रधान मंत्री ने, जो जिम्मेदारी ली है कि यदि शांत रहने की घोषणा कर दी जाय और उसका विश्वास दिलाया जाय, तो सरकार भी अनुकूल उत्तर देने में पीछे न रहेगी, वह सरकार द्वारा पूरी की जा सके।

"हमारे इस निर्णय का असर जिन जिन लोगों पर होगा उन पर, यह विश्वास करने में मुझे संतोष है कि वे उसी भावना से काम करेंगे जिस भावना से प्रेरित होकर यह किया गया है। मुझे विश्वास है कि वे उन गंभीर परिणामों की शांतिपूर्ण और निष्पक्ष भाव से जाँच करने के महत्व को स्वीकार करेंगे"।

इस वक्तव्य को सार्थक करने के लिए गांधी जी और उनके २६ साथी बिना शर्त कारावास से मुक्त कर दिये गये और सरकार की नीति में परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे।

अर्विन-गांधी समझौता—जेल से छूटने के पश्चात्, गांधी जी पं० मोतीलाल जी से मिलने के लिए इलाहाबाद को रवाना हुए। वहीं पर कांग्रेस-कार्य-समिति की बैठक हुई जिसमें सर्वसाधारण को आंदोलन के जारी होने की सूचना दी गयी और यह साफ़ साफ़ बतला दिया गया कि जब तक स्पष्ट रूप से आंदोलन-बंदी का आदेश न दिया

थोड़े ही दिनों के लिए थी। १८ अप्रैल को लॉर्ड अर्विन अपना कार्य-काल समाप्त करके भारतवर्ष से विदा हुए और लॉर्ड विलिंगडन भारत-वर्ष के नये गवर्नर जनरल और वाइसराय नियुक्त हुए। इसके कुछ दिनों पश्चात् दोनों ओर से समझौते के भंग होने की शिकायतें होने लगीं और भारतीय राजनीतिक गगनमंडल में निराशा के बादल पुनः दृष्टिगोचर होने लगे।

इंगलैंड रवाना होने के पहले—अर्विन-गांधी समझौते से देश के राजनीतिक वायुमंडल में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। यद्यपि यह समझौता सरकार और कांग्रेस दोनों ही की विजय का द्योतक था, पर कांग्रेसवादी इसके कारण अपने को विजयी समझते थे और नौकरशाही इसमें अपनी पराजय के चिह्न देखती थी। समझौते के पश्चात् कांग्रेस ने, उसके सम्मानपूर्वक पालन किये जाने के लिए, स्वयंसेवकों के लिए कुछ आदेश जारी किये। सरकार ने भी अपने कर्मचारियों के लिए ऐसा ही किया। पर दोनों की मनोवृति में विशेष परिवर्तन न होने के कारण, परस्पर अविश्वास की मात्रा पूर्ववत् बनी रही जिसके कारण शिकायतों में राई का पर्वत बनाया गया और छोटी छोटी बातों ने भी ऐसा भयानक रूप धारण किया जो अन्यथा असंभव था। आखिरकार १४ जून, सन् १९३१ को गांधी जी ने भारत-सरकार के गृह-सचिव मिस्टर इमर्सन के नाम एक पत्र भेजा जिसमें उन्होंने समझौते के स्पष्टीकरण से संबंध रखनेवाले प्रश्नों को तथा इन सब प्रश्नों को कि, आया समझौते की शर्तों का पालन हो रहा है अथवा नहीं, तय करने के लिए स्थायी पंच नियुक्त करने की मांग उपस्थित की। किंतु सरकार की ओर से पत्र-व्यवहार होने पर भी, इस विषय में कोई ऐसा उत्तर न मिला जो गांधी जी और कांग्रेस को संतोषजनक प्रतीत होता। आखिरकार १३ अगस्त, सन् १९३१ को गांधी जी ने वाइसराय के पास इस आशय का तार भेजा—"देश की परि-स्थिति के कारण मुझे खेद के साथ गोलमेज परिषद में शामिल होने से इनकार करना पड़ता है"।

देश में पुनः निराशा के बादल फैलने लगे। आंदोलन की फिर से तैयारियाँ होने लगीं। सर सप्रू और श्री जयकर एक बार फिर से संधि-चर्चा में लगे। गांधी जी ने पुनः वाइसराय से मिलने की

आज्ञा माँगी। आज्ञा मिलने पर गांधी जी श्री वल्लभभाई पटेल, पं० जवाहर लाल नेहरू और सर प्रभा शंकर पट्टनी वाइसराय से मिले। वाइसराय ने अपनी इक्जीक्यूटिव कौंसिल की बैठक की। बहुत सी गुत्थियाँ सुलझायी गयीं[1] और आखिरकार २९ अगस्त को गांधी जी गोलमेज़ परिषद् में शामिल होने के लिए लंदन को रवाना हो गये।

---

(१) इस विषय की सरकारी विज्ञप्ति निम्नलिखित थी—

(अ) वाइसराय महोदय और गांधी जी की बातचीत के परिणाम स्वरूप गोलमेज़ परिषद में गांधी जी कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करेंगे।

(ब) ५ मार्च, सन् १९३१ का समझौता चालू है। यदि यह साबित हो गया कि कुछ मामलों में उसका उल्लंघन किया गया है तो भारत-सरकार व प्रांतीय सरकारें उन मामलों में समझौते की खास धाराओं का पालन करावेंगी और यदि उस संबंध में उनके सामने कोई बात रक्खी जायगी तो उस पर भी अच्छी तरह विचार करेंगी। समझौते के अनुसार कांग्रेस भी अपनी जिम्मेदारी को पूरा करेगी।

(स) सूरत जिले में लगान वसूली के बारे में विचारणीय बात यह है कि क्या बारडोली ताल्लुका और बालोड़ महाल के जिन गांवों में पुलिस पार्टी के साथ माल अफ़सर जुलाई, सन् १९३१ में गये थे। उनमें लगान देनेवालों की आर्थिक स्थिति को देखते हुये उनसे पुलिस द्वारा जबर्दस्ती करके बारडोली ताल्लुक़े में अन्य गांवों की अपेक्षा अधिक लगान मांगा गया था या उनकी अपेक्षा उनसे अधिक वसूल किया गया था। बंबई सरकार से परामर्श करने के पश्चात् और उससे पूर्ण सहमत होते हुए भारत-सरकार ने यह निश्चय किया है कि इस प्रश्न की जांच की जायगी। जांच का ध्येय यह होगा कि विचाराधीन गांवों में पुलिस द्वारा जबरदस्ती और दमन करके खातेदारों को उन गांवों की अपेक्षा, जहां ५ मार्च. १९३१ के बाद पुलिस की सहायता के बिना वसूली हुई है, बारडोली के दूसरे गांवों में जो अंदाज़ रक्खा गया था उससे अधिक लगान देने के लिए बाधित किया गया, इस आरोप की जांच करना; और यदि कहीं ऐसा हुआ है, तो ठीक रक़म का निर्धारण करना। इन बातों के अंतर्गत उठने वाले किसी भी विवाद पर गवाहियां दी जा सकती हैं।

बंबई-सरकार ने जांच करने के लिए नासिक के कलक्टर मिस्टर आर. सी. गॉर्डन को नियुक्त किया है। (देखिये अगला पृष्ठ)

द्वितीय गोलमेज़ परिषद्—७ सितंबर को दूसरी गोलमेज़ परिषद् आरंभ हुई। इसमें ११४ प्रतिनिधि शामिल हुए। इस परिषद् का काम विशेषतया उप-समितियों में हुआ। प्रथम गोलमेज़ परिषद् का उत्साह अब कुछ ठंडा हो गया सा दिखायी पड़ने लगा। देशी नरेश अब संघ राज्य के इतने पक्षपाती न थे जितने संयोग-राज्य (Confederation.) के। इंगलैंड में भी, इन दिनों मज़दूर-सरकार के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार थी जिसमें अनुदार दल का प्राधान्य था। अतएव ब्रिटिश सरकार की नीति पूर्ववत् बनी रहने पर भी, अनुदार दल की संरक्षण-संबंधी माँगें अधिकाधिक ज़ोर पकड़ती जाती थीं। भारतीय उदारवादी नेता, गांधी जी की उपस्थिति के कारण, यह आशा करते थे कि भारत का भावी शासन-विधान प्रथम गोलमेज़ परिषद् की अपेक्षा अधिक उदार हो जायगा। गांधी जी स्वयं कांग्रेस के आदेश से बँधे हुए थे। वे उससे ज़रा भी हटने को तैयार न थे। वास्तव में उन्हें परिषद् की सफलता की विशेष आशा न थी। पर वे परिषद् के सम्मुख कांग्रेस की माँग उपस्थित करना चाहते थे और इसमें वे पूर्णतया सफल हुए। २८ और ३० नवंबर और १ दिसंबर को परिषद् के साधारण अधिवेशन हुए। गांधी जी का भाषण ३० नवंबर को हुआ। अपने भाषण में उन्होंने यह दावा किया कि कांग्रेस समस्त देश की प्रतिनिधि संस्था है और स्वतंत्रता उसका ध्येय है। स्वतंत्रता का भावार्थ है इंगलैंड और भारतवर्ष दोनों के पारस्परिक हितों के लिए साझेदारी। वे संरक्षणों से पूर्णतया सहमत न थे। उनके कारण, देश की लगभग ८० प्रतिशत् आम-

---

(द) कांग्रेस द्वारा उठाये गये अन्य प्रश्नों पर भारत-सरकार व प्रांतीय सरकारें जांच की आज्ञा देने को तैयार नहीं हैं।

(य) यदि समझौता के क्षेत्र से बाहर कांग्रेस किसी मामले में नयी शिकायतें करे, तो उन शिकायतों पर साधारण शासन-प्रबंध के कार्यक्रम और रिवाज़ के अनुसार सरकार विचार करेगी और यदि जांच का कोई सवाल उठे, जाँच करनी है या नहीं और यदि जांच करनी है तो किस तरह से, इन सब बातों का फैसला प्रांतीय सरकारें प्रचलित कार्यक्रम और रिवाज़ के अनुसार करेंगी।" देखिये पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ४३०–३१।

दनी, एक प्रकार से गिरवी रख दी जायगी और उत्तरदायी मंत्रियों के लिए शासन चलाना असंभव हो जायगा। अंत में उन्होंने परिषद् से, अपने लिए और उस संस्था के लिए जिसके वे प्रतिनिधि थे, अपने हृदय में थोड़ा सा स्थान देने की अपील की और इस बात का विश्वास दिलाया कि यदि वे लोग कांग्रेस की प्रतिष्ठा के अनुकूल काम करेंगे तो आतंकवाद का स्वतः अंत हो जायगा। इसके पूर्व संघ-राज्य-कमेटी में भी, वे साझेदारी पर ज़ोर दे चुके थे। लेकिन उनके कथनानुसार यह तभी संभव था जब इंगलैंड भारतवर्ष को प्रेम के धागे से बाँधे, पाशविक बल से नहीं। अल्प-संख्यक कमेटी में, प्रधान मंत्री को पंच बनाने के लिए तैयार होते हुए भी उन्होंने यह स्पष्टतया बतला दिया था कि प्राणों की बाजी लगा कर भी वे हरिजनों के पृथक् निर्वाचन का विरोध करेंगे, चाहे वे अकेले ही क्यों न रह जायँ। सेना के संबंध में भाषण देते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया था कि कांग्रेस उत्तरदायी शासन की सब जिम्मेदारियों को अपने ऊपर लेने को तैयार थी। पर गांधी जी की वक्तृताओं पर कोई संतोषजनक अमल न हुआ। आख़िरकार पहली दिसंबर को परिषद् समाप्त हुई। गांधी जी ने सभापति को धन्यवाद देने का प्रस्ताव पेश किया। इस संबंध के भाषण में उन्होंने यह स्पष्टतया कह दिया कि "अब हमें अलग अलग रास्तों पर जाना होगा। मैं नहीं जानता कि मेरा रास्ता किस दिशा में होगा। लेकिन इसकी मुझे चिंता नहीं है। यदि मुझे बिल्कुल विभिन्न दिशा में जाना पड़े तो भी आप मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र तो हैं ही"[1]। इस प्रकार दूसरी गोलमेज़ परिषद् समाप्त हुई। पहली परिषद् के ढाँचे से राष्ट्रवादियों को थोड़ी बहुत आशा बँधी थी। दूसरी की कार्रवाई ने उनका मोह दूर कर दिया। यद्यपि इस परिषद् के नतीजों से नरम राजनीतिज्ञ कमोबेश संतुष्ट थे, पर उग्र राजनीतिज्ञों को वे अपर्याप्त और निराशाजनक प्रतीत होते थे। भारतीय राजनीतिक वायुमंडल में पुनः निराशा के बादल छा गये और लड़ाई के आरंभ होने के लक्षण दिखायी पड़ने लगे।

भारतवर्ष में भयानक परिस्थिति—गांधी जी की अनुपस्थिति में भारतीय परिस्थिति ने भयानक रूप धारण कर लिया। सर-

---

(१) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ४४०।

कार और कांग्रेस दोनों एक दूसरे पर समझौते के भंग करने का दोष मढ़ते थे। सरकार का कहना था कि विराम-संधि के बहाने, कांग्रेस अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में लगी थी, धरना धरने का ढंग समझौते के प्रतिकूल था और सविनय अवज्ञा आंदोलन पूर्ण रूप से बंद नहीं किया गया था। कांग्रेसवादियों का कहना था कि बारडोली के मामलों की जाँच एकतरफ़ा हो रही थी, संयुक्त प्रांत में लगान बड़ी सख़्ती से वसूल किया जा रहा था, बंगाल और पश्चिमोत्तर प्रदेश में दमन का ज़ोर था और सरकार समझौते के प्रतिकूल, आंदोलन के दबाने की तैयारियाँ कर रही थी। दोनों में बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा पर उसका कुछ परिणाम न निकला। आख़िरकार संयुक्त प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने किसानों को यह सलाह दी कि वे लगान और मालगुज़ारी का चुकाना, संधि-चर्चा के समय तक के लिए स्थगित कर दें। सरकार ने इससे यह समझा कि आंदोलन पुनः आरंभ किया जा रहा था। अतएव २४ दिसंबर, सन् १९३१ तक वाइसराय ने पाँच नये ऑर्डीनेंस जारी किये और सरकार ने पं० जवाहर लाल जी नेहरू, ख़ां अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ां, श्री शेरवानी आदि प्रमुख कांग्रेस नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया।

२८ दिसंबर को गांधी जी विलायत से लौटे। २९ दिसंबर को उन्होंने वाइसराय के नाम एक तार[1] भेजा जिसमें उन्होंने वाइसराय का ध्यान ऑर्डीनेंसों और गिरफ़्तारियों की ओर आकर्षित किया और उनसे पूछा कि "आया मैं इनसे यह समझूँ कि हमारी परस्पर मित्रता का ख़ातमा हो चुका या आप मुझसे अब भी यह उम्मीद करते हैं कि मैं आप से मिलूँ और इस परिस्थिति में मैं कांग्रेस को क्या सलाह दूँ, इस विषय में आप से परामर्श और रहनुमाई चाहूँ[2]"। ३१ तारीख़ को वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी का उत्तर आया जिसमें उन्होंने संयुक्त प्रांत और सीमा प्रांत की हलचलों को मित्रता के भाव के प्रतिकूल बतलाया और यह स्पष्ट कर दिया कि वाइसराय गांधी जी से मिलने के लिए तैयार थे, पर वे बंगाल, संयुक्त प्रांत और सीमा प्रांत में जारी किये गये ऑर्डीनेंसों पर वादविवाद

(२) अर्विन-गांधी पत्र-व्यवहार के लिए देखिये पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ४५०-४५९।

(३) पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, हिंदी अनुवाद, पृष्ठ ४५१।

करने के लिए तैयार नहीं थे। "ये ऑर्डीनेंसें देश की सुव्यवस्था और सुशासन के लिए जारी की गयी हैं और जब तक उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती वे हर हालत में जारी रहेंगी।" गांधी जी ने उत्तर में कांग्रेस-कार्य-समिति का प्रस्ताव वाइसराय के पास भेजा और उनसे प्रार्थना की कि वे उनसे विना शर्त मिलना स्वीकार कर लें। कार्य-समिति के प्रस्ताव में, राष्ट्र को कुछ शर्तों पर सविनय अवज्ञा, जिसमें लगानबंदी भी सम्मिलित थी, आरंभ करने के लिए आवाहन किया गया था। वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी ने, इसके उत्तर में कांग्रेस और गांधी जी के निश्चय पर खेद प्रगट किया और मुलाक़ात के संबंध में लिखा कि सविनय अवज्ञा की धमकी होते हुए, वाइसराय की मुलाक़ात से विशेष लाभ होने की आशा न थी[1]। आख़िरकार संग्राम फिर से छिड़ गया और ४ जनवरी, सन् १९३२ को गांधी जी और सरदार वल्लभभाई पटेल गिरफ़्तार कर लिये गये।

आंदोलन और दमन—गांधी जी की गिरफ़्तारी के पश्चात् कांग्रेस कर्मचारी और स्वयंसेवक हज़ारों की संख्या में पुनः संग्राम में कूद पड़े। नेताओं की गिरफ़्तारी के कारण उनको ठीक ठीक रहनुमाई तो न मिलती थी पर फिर भी वे नाना प्रकार से क़ानून तोड़ते थे और गिरफ़्तार कर लिये जाते थे। वे ऑर्डीनेंसों को तोड़ते थे, सरकारी पदाधिकारियों की आज्ञा के प्रतिकूल जलूस निकालते थे, सार्वजनिक सभाएँ करते थे और उनमें जनता को सविनय अवज्ञा के लिए प्रोत्साहित करते थे। कभी कभी वे चलती हुई रेलों को रोक लेते थे और वहीं पर सविनय अवज्ञा-संबंधी पर्चे बाँटते थे और तत्संबंधी व्याख्यान भी देते थे। सरकार ने भी आंदोलन के दबाने का बीड़ा उठाया। अनेक ऑर्डीनेंसें जारी की गयीं, लगभग एक लाख स्त्री-पुरुष जेलों में बंद कर दिये गये, निषिद्ध सार्वजनिक सभाओं पर लाठियाँ चलायी गयीं, कांग्रेसवादियों पर लंबे लंबे जुर्माने किये गये और कांग्रेस कमेटियों के दफ़्तर आदि ज़ब्त कर लिये गये। जो लोग कांग्रेस की किसी प्रकार से भी

---

(१) "वाइसराय महोदय और उनकी सरकार इस बात पर मुश्किल से विश्वास कर सकती है कि आप अथवा कांग्रेस-कार्य-समिति समझती है कि सविनय अवज्ञा के पुनरारंभ की धमकी पर वाइसराय महोदय किसी लाभ की आशा से आपको मुलाक़ात के लिए बुला सकते हैं"।

सहायता करते थे उन पर भी मुक़द्दमें चलाये गये और वे दंडनीय समझे गये। कांग्रेसी अख़बारों का प्रकाशन बंद कर दिया गया। जेलों में क़ैदियों के प्रति कठोर व्यवहार किया गया और 'ए' क्लास बहुत कम लोगों को मिला। सरकार ने सब तरह से आंदोलन के दबाने का प्रयत्न किया और यद्यपि वह उसको पूर्ण रूप से न दबा सकी तो भी उसकी सख़्तियों के कारण कांग्रेसवादियों के लिए व्यक्त रूप से काम करने के स्थान पर, गुप्त रूप से काम करना अनिवार्य हो गया। सरकार और कांग्रेस की यह लड़ाई चल ही रही थी कि प्रधान मंत्री का सांप्रदायिक निर्णय प्रकाशित हुआ जिसके कारण भारतवर्ष के सब नेताओं का ध्यान किंचित् काल के लिए आंदोलन की ओर से हट कर गांधी जी की ओर आकर्षित हो गया।

सांप्रदायिक निर्णय और पूना-पैक्ट—भारतवर्ष के लिए सांप्रदायिक समस्या हमेशा कष्टदायिनी रही है। अनेक सर्वदल-सम्मेलनों के होने पर भी यह समस्या भारतवर्ष में, गोलमेज़ परिषदों के पूर्व संतोषपूर्वक हल न की जा सकी थी। नेहरू कमेटी की योजना ही एक ऐसी योजना थी जिससे भारतवर्ष के सारे दल अधिक से अधिक सहमत थे। पर वह योजना लाहौर कांग्रेस में समाप्त समझी गयी और सांप्रदायिक समस्या ने पुनः विकराल रूप धारण किया। प्रथम और द्वितीय गोलमेज़ परिषदों में इस समस्या पर काफ़ी विचार हुआ। फिर भी कोई सर्वमान्य समझौता न हो सका। आख़िरकार द्वितीय गोलमेज़ परिषद् में सम्मिलित सारे प्रतिनिधियों ने प्रधान मंत्री को सांप्रदायिक निर्णय करने के लिए पंच नियुक्त किया। गांधी जी भी इससे सहमत थे, पर इस शर्त पर, कि प्रधान मंत्री का निर्णय मुसल्मानों और सिक्खों तक ही सीमित रहे। १७ अगस्त, सन् १९३२ को प्रधान मंत्री ने अपना निर्णय दिया जिसके अनुसार भारतीय निर्वाचक, बारह प्रकार के पृथक् निर्वाचन-संघों में विभाजित किये गये थे[1]। दलित जातिओं को भी साधारण स्थानों से अलग करके पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया गया

---

(१) साधारण, मुसल्मान, सिक्ख, एंग्लो-इंडियन, युरोपियन, दलित जातियां भारतीय ईसाई, उद्योग और व्यापार, ज़िमींदार और पूंजीपति, मज़दूर, विश्वविद्यालय और स्त्रियां—इन सबके अलग अलग निर्वाचन-संघ थे।

था। यह बात गांधी जी को असह्य थी। उनके इस प्रश्न-संबंधी विचारों का ज्ञान प्रधान मंत्री को पहले ही से था। द्वितीय गोलमेज़ परिषद् में उन्होंने साफ़ साफ़ कह दिया था कि वे अछूतों के पृथक् निर्वाचन का विरोध अपने प्राणों की भी बाजी लगा कर करेंगे। ११ मार्च को उन्होंने भारत-मंत्री सर सेम्युअल होर के नाम इस आशय का एक पत्र भेजा था[1]। पर उनके विचारों का प्रधान मंत्री के निर्णय पर विशेष प्रभाव न पड़ा। अतएव प्रधान मंत्री के निर्णय देने के दूसरे दिन गांधी जी ने उन्हें यह सूचना दी कि वे २० सितंबर के तीसरे पहर से अपना आमरण उपवास आरंभ करेंगे और उसी दिन से उनका उपवास आरंभ भी हो गया।

गांधी जी के निश्चय के कारण सारा देश चिंता में निमग्न हो गया। तार पर तार आने लगे और उनके उपवास के छुड़ाने के लिए सभी मानवी प्रयत्न किये गये, पर कोई कारगर न हुआ। अतएव हिंदुओं ने आपसी समझौते द्वारा उनके प्राण बचाने का निश्चय किया। बंबई और उसके बाद पूना में सजातीय और हरिजन नेताओं की परिषद् बुलायी गयी। कई दिन लगातार वादविवाद के पश्चात् उपवास के पाँचवें दिन, एक ऐसी योजना तैयार हो गयी जिसको दोनों दलों ने स्वीकार किया। दलित जातियों ने पृथक् निर्वाचन के अधिकार का परित्याग किया और सजातीय हिंदुओं ने उन्हें महत्वपूर्ण संरक्षण प्रदान किये। प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं की साधारण जगहों में से १४८ और केंद्रीय व्यवस्थापक सभा की १८ जगहें दलित जातियों के लिए रिज़र्व कर दी गयीं[2]। इसकी सूचना प्रधान मंत्री को भी दी गयी और २६ तारीख़ को एक साथ इंगलैंड और भारतवर्ष में समझौते के स्वीकार किये जाने की घोषणा की गयी। उसी दिन शाम को गांधी जी ने अपना उपवास तोड़ा। देश की भयंकर चिंता दूर हुई, हरिजनों के उद्धार का समय निकट आया और राजनीतिक नेता पुनः आंदोलन की ओर दृष्टिपात करने लगे।

---

(१) "यदि सरकार ने अस्पृश्यों अथवा दलित जातियों के लिए पृथक् निर्वाचन रक्खा तो मैं आमरण उपवास करूँगा"।

(२) प्रधान मंत्री के निर्णय के अनुसार दलित जातियों को केवल ७१ जगहें मिली थीं।

तृतीय गोलमेज़ परिषद्—१७ नवंबर, सन् १९३२ को तीसरी गोलमेज परिषद् आरंभ हुई। इसमें निमंत्रित प्रतिनिधियों की संख्या पहली दो परिषदों की अपेक्षा बहुत कम थी। कुल मिलाकर केवल ४६ प्रतिनिधि निमंत्रित किये गये थे। इंग्लैंड के मजदूर दल (लेबर पार्टी) और भारतीय कांग्रेस दोनों ने अपने को इस परिषद् से अलग रक्खा। परिषद् के आरंभ में प्रधान मंत्री ने अपने भाषण में कहा कि यह परिषद् पूर्व दोनों परिषदों के काम को पूरा करने के लिए बुलायी गयी है। तत्पश्चात् परिषद् ने विभिन्न कमेटियों की रिपोर्टों पर विचार किया और मताधिकार, संरक्षण, गवर्नर जनरल और गवर्नरों की विशेष जिम्मेदारियों, संघ राज्य और उसके अंगों का संबंध, प्रधान न्यायालय आदि के विषय में अपने विचार निर्धारित किये। २४ दिसंबर को परिषद् समाप्त हुई। इस अवसर पर भारत-मंत्री ने निम्नलिखित तीन महत्व-पूर्ण बातों का ऐलान किया—

(अ) यदि ५० प्रतिशत् जन-संख्या की देशी रियासतें संघ राज्य में शामिल होने को तैयार होंगी तो संघ राज्य स्थापित किया जायगा।

(ब) केंद्रीय व्यवस्थापक मंडल की जगहों में से ३३⅓ प्रतिशत् जगहें मुसल्मानों को दी जायँगी।

(स) सिंध और उड़ीसा के नये प्रांत बनाये जायँगे।

इसके पश्चात् भारतीय प्रतिनिधि अपने देश को लौटे। परिषद् की अंतिम योजना से कोई पूर्णतया संतुष्ट न था। देशी रियासतों के प्रतिनिधि इस बात से भयभीत थे कि आया संघ राज्य में रियासतों के अधिकारों की पूर्ण रक्षा हो सकेगी या नहीं। उदारवादी संरक्षणों के भार से दबे जाते थे। राष्ट्रवादियों के लिए परिषद् की योजना निराशा-जनक और अपमान-सूचक थी। फिर भी तीसरी गोलमेज परिषद् संघ राज्य के उस ढाँचे को तैयार करने में सफल हुई जिसके अनुसार भारत-वर्ष का भावी शासन संचालन किया जाने को था।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन—जनवरी सन् १९३२ का चलाया हुआ कांग्रेसी आंदोलन सन् १९३३ में भी चलता रहा। कांग्रेस के ग़ैर-क़ानूनी होने पर भी उसके साधारण अधिवेशन किसी न किसी प्रकार होते रहे। दिल्ली की भाँति, सन् १९३३ का साधारण अधिवेशन

पुलिस के सतर्क होने पर भी, कलकत्ते में हुआ और स्वाधीनता, सत्याग्रह बहिष्कार, मौलिक अधिकार आदि के प्रस्ताव पास किये गये। ८ मई को संसार का ध्यान पुनः गांधी जी की ओर आकर्षित हुआ। उस दिन उन्होंने आत्म-शुद्धि के निमित्त २१ दिन का उपवास आरंभ किया। उसी दिन सरकार ने भी उपवास के उद्देश्य और उसके द्वारा प्रगट होने वाली मनोवृत्ति के कारण उन्हें छोड़ दिया। गांधी जी की अपील के कारण सत्याग्रह आंदोलन ६ हफ्ते के लिए बंद कर दिया गया। इस अवधि के समाप्त होने पर आंदोलन-बंदी की अवधि ६ सप्ताह के लिए और बढ़ा दी गयी। ८ मई को ही गांधी जी ने सरकार से भी यह अपील की कि आंदोलन-बंदी का लाभ उठाकर वह सत्याग्रही क़ैदियों को बिना शर्त के छोड़ने की कृपा करे। पर सरकार आंदोलन के किंचित् काल के लिए बंद होने से संतुष्ट न थी। वह चाहती थी कि राजनीतिक क़ैदियों के छुटकारे के पश्चात् आंदोलन दुबारा आरंभ न किया जाय। अतएव उसने क़ैदियों के छोड़ने से इनकार कर दिया। १२ जुलाई को पूना में कांग्रेसवादियों की एक परिषद हुई। उसने गांधी जी को यह अधिकार दिया कि वे वाइसराय से मिल कर सरकार और कांग्रेस का समझौता कराने की कोशिश करें। पर यह प्रयत्न भी निष्फल गया। अतएव सत्याग्रह पुनः आरंभ किया गया, पर सामूहिक सत्याग्रह के स्थान पर व्यक्तिगत् सत्याग्रह के रूप में। १ अगस्त को गांधी जी पुनः अपनी यात्रा पर निकलने वाले थे पर वे एक दिन पहले गिरफ्तार कर लिये गये और ४ अगस्त को छोड़ दिये गये। उन्हें पूना में रहने की आज्ञा मिली पर उन्होंने इस आज्ञा का उल्लंघन किया। अतएव वे गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें एक साल की सजा का हुक्म हुआ।

जेल में जाने के पश्चात् १६ अगस्त को, गांधी जी ने एक बार और अनशन आरंभ किया, इस बार सरकार के व्यवहार के प्रतिकूल। उनका कहना था कि अगस्त की गिरफ्तारी के पश्चात् सरकार ने उन्हें वे सुविधाएँ नहीं दीं, जो उन्हें मई की रिहाई के पूर्व दी गयी थीं। सरकार पहले तो अपने निश्चय पर अटल रही, पर गांधी जी की हालत उत्तरोत्तर बिगड़ती गयी और इसलिए, २० अगस्त को वे बिना शर्त छोड़ दिये गये। ३० अगस्त को पं० जवाहर लाल जी नेहरू अपनी माता की बीमारी के कारण कारावास से मुक्त कर दिये गये। अपने छुटकारे

के पश्चात् गांधी जी ने यह निश्चय किया कि वे ३ अगस्त, सन १९३४ तक स्वयं सत्याग्रह न करेंगे, पर जो लोग उनसे सलाह माँगेंगे, उनको वे ठीक मार्ग अवश्य दिखलायेंगे। इसके बाद वे हरिजन-उद्धार के काम में लग गये। अनेक कांग्रेस कार्यकर्त्ता भी उनके साथ साथ इसी काम की ओर झुक पड़े। जनवरी सन् १९३४ में बिहार का भयानक भूकंप हुआ और अनेक कांग्रेसवादी भूकंप पीड़ित मनुष्यों की सहायता करने में लग गये। कांग्रेस का कार्यक्रम, कार्य रूप में क्रमशः रचनात्मक होने लगा और सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा कार्य रूप में क्रमशः शिथिल होने लगे।

पूना-परिषद् में कुछ कांग्रेसवादियों ने कौंसिल-प्रवेश के प्रश्न को भी उठाया था। उनका ख्याल था कि ऑर्डीनेंसों के शासन को देखते हुए यह आवश्यक था, कि कांग्रेस-वादी कौंसिलों को अपने कब्जे में कर लें। उनकी शक्ति दिन पर दिन बढ़ती गयी और ३१ मार्च सन् १९३४ को, डाक्टर अंसारी की अध्यक्षता में दिल्ली में एक परिषद् हुई जिसमें स्वराज्य पार्टी के पुनर्जीवित करने का प्रस्ताव पास हुआ और कांग्रेस-वादियों को अगले निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार इस शर्त पर मिला कि वे कौंसिलों में दमनकारी क़ानूनों और ह्वाइट पेपर की योजना के रद्द करने का प्रयत्न करें। ३ मई को राँची परिषद् ने, स्वराज्य पार्टी का कार्यक्रम निश्चित किया[1] और १८ और १९ मई को पटना में महा-समिति की बैठक हुई जिसके निर्णय के अनुसार सत्याग्रह बंद कर दिया गया। इसी बैठक में डाक्टर अंसारी और महामना पं० मदनमोहन मालवीय को, अधिक से अधिक २५ कांग्रेसवादियों का एक कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड स्थापित करने का अधिकार मिला। इस प्रस्ताव के पश्चात्, कार्यरूप में कांग्रेस के विध्वंसात्मक कार्यक्रम की इतिश्री होती गयी और वह अधिकाधिक रचनात्मक कार्यक्रम के पथ पर अग्रसर होती गयी।

कांग्रेस की उपर्युक्त नीति से बहुतेरे कांग्रेसवादी असंतुष्ट थे। श्री

---

(१) स्वराज्य पार्टी का कार्यक्रम था राजनीतिक बंदियों का छुटकारा, देश का शोषण करने वाले क़ानूनों का विरोध, ग्राम संगठन, मुद्रा-व्यवस्था, विनि-मय, कृषि-संबंधी मामलों में सुधार इत्यादि, इत्यादि।

विट्ठल भाई पटेल और सुभाषचंद्र बोस सत्याग्रह स्थगित करने के भी विरोधी थे। उन्होंने अपने वियाना के वक्तव्य में यहाँ तक कह दिया था कि गांधी जी राजनीतिक नेता की हैसियत में, असफल सिद्ध हुए हैं। कांग्रेस के अंतर्गत् समाजवादी भी, क्रमशः अपने को संगठित करते जाते थे। उनका प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन १७ मई, सन् १९३४ को पटना में हुआ। तत्पश्चात् उनकी शाखाओं का जाल समस्त भारत-वर्ष में फैल गया और भारतीय नवयुवकों और मज़दूरों में उनका प्रभाव भी बढ़ा। आज भी कांग्रेस में इस पार्टी का काफी ज़ोर है पर अभी तक उसकी शक्ति इतनी नहीं हो पायी है कि वह कांग्रेस को अपने कब्ज़े में कर सके।

सत्याग्रह बंद होने के पश्चात् भारत-सरकार की नीति भी क्रमशः उदार होती गयी। कांग्रेस और उसकी सहायक संस्थाओं पर से प्रतिबंध हटा लिये गये और अधिकांश सत्याग्रही क़ैदी भी क्रमशः छोड़ दिये गये। प्रतिबंध हटते ही देश भर की कांग्रेस कमेटियाँ पुनः जीवित हो उठीं और अपने रचनात्मक कार्यक्रम में लग गयीं। उसके बाद से आज तक कांग्रेस ने कोई संहारात्मक कार्यक्रम नहीं अपनाया। हाँ, कांग्रेस के सांप्रदायिक निर्णय संबंधी विचारों के कारण महामना पं० मदन मोहन मालवीय को कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड से और श्री अणे को कांग्रेस-कार्य-समिति से त्यागपत्र देना पड़ा। उन्होंने कांग्रेस के अंतर्गत् एक नयी पार्टी स्थापित की जिसका नाम नेशनलिस्ट पार्टी रखा गया। सांप्रदा-यिक निर्णय को छोड़ कर, इसका कार्यक्रम प्रायः वही है जो स्वराज्य पार्टी का। सन् १९३४ के चुनाव में कांग्रेस ने भारतीय व्यवस्थापक सभा की ४४ जगहों पर कब्ज़ा कर लिया। इनके अतिरिक्त कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी के भी सदस्य उसके साथ थे।

सन् १९३५ में कांग्रेस-जयंती बड़े समारोह के साथ समस्त देश में मनायी गयी। इसके बाद से आज तक कांग्रेस कौंसिलों के बाहर और भीतर अपना रचनात्मक कार्य करती आयी है। कांग्रेसवादी, हमेशा की भाँति, सरकारी नीति की तीव्र आलोचना करते आये हैं और सरकार भी उनकी ओर से हमेशा सतर्क रही है। कांग्रेस का प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता गया है और बढ़ता जाता है और उसने ग्रामीण जन-संख्या

पर अपना सिक्का भली भाँति बैठा लिया है। सन् १९३७ का प्रांतीय कौंसिलों का चुनाव, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है[1]।

सन् १९३५ का भारतीय शासन-विधान—मार्च सन् १९३३ में, भावी भारतीय शासन-विधान का ह्वाइट पेपर प्रकाशित हुआ। इस योजना के चार आधारभूत सिद्धान्त थे—

(अ) भारतीय संघ राज्य,

(ब) केंद्रीय उत्तरदायी शासन,

(स) प्रांतीय स्वराज्य और

(द) वैधानिक और आर्थिक संरक्षण एवं गवर्नर जनरल और गवर्नरों की विशेष जिम्मेदारियाँ।

पर इस योजना से किसी को भी संतोष न हुआ। भारतीय व्यवस्थापक सभा और प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं में उसके विरोध संबंधी प्रस्ताव पास हुए। अखिल भारतीय हिंदू सभा, अखिल भारतीय मुस्लिम कांफरेंस, अखिल भारतीय लिबरल फेडेरेशन आदि संस्थाओं ने भी विरोधात्मक प्रस्ताव पास किये। कांग्रेस की राय में ह्वाइट पेपर की योजना भारतीय हितों की विरोधिनी थी और देश में विदेशी प्रभुत्व स्थायी रखने के उद्देश्य से बनायी गयी थी। देशी रियासतों को भी उससे संतोष न था। वे संघ शासन-विधान बनने के पूर्व अपने अधिकारों की रक्षा भली भाँति कर लेना चाहती थीं। इंगलैंड का अनुदार दल ह्वाइट पेपर से इस लिए असंतुष्ट था कि उसमें भारतीयों को आवश्यकता से अधिक शासनाधिकार दिया गया था। उसका विचार था कि वर्तमान भारतीय राजनीतिक परिस्थिति में, ह्वाइट पेपर की योजना के अनुसार भारतीय शासन-संचा-

---

(१) कांग्रेस ने १९३७ के निर्वाचन में भाग लेना निश्चित किया। उसका विरोध करने वाले कुछ स्वतंत्र उम्मीदवार थे, कुछ नेशनलिस्ट पार्टी के और कुछ राष्ट्रीय कृषक पार्टी के। इस निर्वाचन में कांग्रेस की शानदार विजय हुई। संयुक्त प्रांत, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रांत, मद्रास और बंबई की छोटी कौंसिलों में कांग्रेसवादी बहुसंख्या में पहुँचे और एक प्रकार से, उन पर कब्ज़ा कर लिया। कांग्रेस की इस विजय से, इस बात का पता चलता है कि उसका देश में कितना प्रभाव है।

लन करना असंभव था। वह भारतीय संघ राज्य की भी विरोधिनी थी। इसके दो मुख्य कारण थे—

(अ) संघ राज्य स्थापित होने से भारतीय शासन का खर्च बढ़ जायगा और

(ब) संघांतरित राज्यों की असमान राजनीतिक जागृति के कारण सुदृढ़ संघ राज्य न बन सकेगा।

लेबर पार्टी भी ह्वाइट पेपर से असंतुष्ट थी। उसके मतानुसार, इस योजना के अनुसार भारतवासियों को उतना शासनाधिकार न दिया गया था जितना दिया जाना चाहिये था।

सर्वत्र विरोध होने पर भी, ह्वाइट पेपर की योजना पर विचार करने के लिए संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी नियुक्त की गयी[1]। इसमें १६ कॉमन सभा के सदस्य थे, और १६ लॉर्ड सभा के। इन्होंने २१ भारतवासियों को एसेसर्स की हैसियत में निमंत्रित किया। १८ महीने के परिश्रम के पश्चात् नवंबर सन् १९३४ को इस कमेटी ने अपनी बहुमत रिपोर्ट प्रकाशित की[2]। उसके मूल सिद्धांत वे ही थे जो ह्वाइट पेपर के। २२ जनवरी, सन् १९३४ को बहुमत रिपोर्ट के आधार पर गवर्मेंट ऑफ़ इंडिया बिल पार्लमेंट में पेश हुआ। उस पर ६१ दिन तक विचार हुआ और कुछ छोटे मोटे परिवर्तन भी किये गये। पर प्रस्ताव के मूल सिद्धांत वे ही बने रहे जो ह्वाइट पेपर योजना के थे। २ अगस्त, सन् १९३५ को सम्राट की भी अनुमति मिल गयी और इस प्रकार भारतवर्ष का नया शासन-विधान तैयार हो गया। १ अप्रैल, सन् १९३७ से उस शासन-विधान के अनुसार भारतीय प्रांतों का शासन भी आरंभ हो गया है।

---

(१) ह्वाइट पेपर की योजना पर इस प्रकार से विचार करना असाधारण था। साधारणतया बिल बनने के पश्चात् ही संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी का कार्य आरंभ होता है। भारतीय शासन-विधान के संबंध में, बिल बनने के पूर्व ही संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी ने प्रस्तावित शासन-विधान पर विचार किया। इस असाधारण ढंग से काम करने का मुख्य उद्देश्य था कमेटी को अपने काम में अधिक स्वाधीनता देना।

(२) जब कमेटी ने आख़िरी बार अपनी रिपोर्ट पर विचार किया, उस समय ३१ सदस्य उपस्थित थे। उनमें से १९ रिपोर्ट के पक्ष में थे, ९ विपक्ष में, और ३ सदस्यों ने अपना वोट न दिया था।

पर अपना सिक्का भली भाँति बैठा लिया है। सन् १९३७ का प्रांतीय कौंसिलों का चुनाव, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है[१]।

सन् १९३५ का भारतीय शासन-विधान—मार्च सन् १९३३ में, भावी भारतीय शासन-विधान का ह्वाइट पेपर प्रकाशित हुआ। इस योजना के चार आधारभूत सिद्धान्त थे—

(अ) भारतीय संघ राज्य,

(ब) केंद्रीय उत्तरदायी शासन,

(स) प्रांतीय स्वराज्य और

(द) वैधानिक और आर्थिक संरक्षण एवं गवर्नर जनरल और गवर्नरों की विशेष जिम्मेदारियाँ।

पर इस योजना से किसी को भी संतोष न हुआ। भारतीय व्यवस्थापक सभा और प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं में उसके विरोध संबंधी प्रस्ताव पास हुए। अखिल भारतीय हिंदू सभा, अखिल भारतीय मुस्लिम कांफरेंस, अखिल भारतीय लिबरल फेडेरेशन आदि संस्थाओं ने भी विरोधात्मक प्रस्ताव पास किये। कांग्रेस की राय में ह्वाइट पेपर की योजना भारतीय हितों की विरोधिनी थी और देश में विदेशी प्रभुत्व स्थायी रखने के उद्देश्य से बनायी गयी थी। देशी रियासतों को भी उससे संतोष न था। वे संघ शासन-विधान बनने के पूर्व अपने अधिकारों की रक्षा भली भाँति कर लेना चाहती थीं। इंगलैंड का अनुदार दल ह्वाइट पेपर से इस लिए असंतुष्ट था कि उसमें भारतीयों को आवश्यकता से अधिक शासनाधिकार दिया गया था। उसका विचार था कि वर्तमान भारतीय राजनीतिक परिस्थिति में, ह्वाइट पेपर की योजना के अनुसार भारतीय शासन-संचा-

---

(१) कांग्रेस ने १९३७ के निर्वाचन में भाग लेना निश्चित किया। उसका विरोध करने वाले कुछ स्वतंत्र उम्मीदवार थे, कुछ नेशनलिस्ट पार्टी के और कुछ राष्ट्रीय कृषक पार्टी के। इस निर्वाचन में कांग्रेस की शानदार विजय हुई। संयुक्त प्रांत, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रांत, मद्रास और बंबई की छोटी कौंसिलों में कांग्रेसवादी बहुसंख्या में पहुँचे और एक प्रकार से, उन पर कब्जा कर लिया। कांग्रेस की इस विजय से, इस बात का पता चलता है कि उसका देश में कितना प्रभाव है।

लन करना असंभव था। वह भारतीय संघ राज्य की भी विरोधिनी थी। इसके दो मुख्य कारण थे—

(अ) संघ राज्य स्थापित होने से भारतीय शासन का ख़र्च बढ़ जायगा और

(ब) संघांतरित राज्यों की असमान राजनीतिक जागृति के कारण सुदृढ़ संघ राज्य न बन सकेगा।

लेबर पार्टी भी ह्वाइट पेपर से असंतुष्ट थी। उसके मतानुसार, इस योजना के अनुसार भारतवासियों को उतना शासनाधिकार न दिया गया था जितना दिया जाना चाहिये था।

सर्वत्र विरोध होने पर भी, ह्वाइट पेपर की योजना पर विचार करने के लिए संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी नियुक्त की गयी[1]। इसमें १६ कॉमन सभा के सदस्य थे, और १६ लॉर्ड सभा के। इन्होंने २१ भारतवासियों को एसेसर्स की हैसियत में निमंत्रित किया। १८ महीने के परिश्रम के पश्चात् नवंबर सन् १९३४ को इस कमेटी ने अपनी बहुमत रिपोर्ट प्रकाशित की[2]। उसके मूल सिद्धांत वे ही थे जो ह्वाइट पेपर के। २२ जनवरी, सन् १९३४ को बहुमत रिपोर्ट के आधार पर गवर्मेंट ऑफ़ इंडिया बिल पार्लमेंट में पेश हुआ। उस पर ६१ दिन तक विचार हुआ और कुछ छोटे मोटे परिवर्तन भी किये गये। पर प्रस्ताव के मूल सिद्धांत वे ही बने रहे जो ह्वाइट पेपर योजना के थे। २ अगस्त, सन् १९३५ को सम्राट की भी अनुमति मिल गयी और इस प्रकार भारतवर्ष का नया शासन-विधान तैयार हो गया। १ अप्रैल, सन् १९३७ से उस शासन-विधान के अनुसार भारतीय प्रांतों का शासन भी आरंभ हो गया है।

---

(१) ह्वाइट पेपर की योजना पर इस प्रकार से विचार करना असाधारण था। साधारणतया बिल बनने के पश्चात् ही संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी का कार्य आरंभ होता है। भारतीय शासन-विधान के संबंध में, बिल बनने के पूर्व ही संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी ने प्रस्तावित शासन-विधान पर विचार किया। इस असाधारण ढंग से काम करने का मुख्य उद्देश्य था कमेटी को अपने काम में अधिक स्वाधीनता देना।

(२) जब कमेटी ने आख़िरी बार अपनी रिपोर्ट पर विचार किया, उस समय ३१ सदस्य उपस्थित थे। उनमें से १९ रिपोर्ट के पक्ष में थे, ९ विपक्ष में, और ३ सदस्यों ने अपना वोट न दिया था।

आठवाँ परिच्छेद

नया शासन-विधान

प्रस्तावना

भारतीय शासन-विधान सन् १९३५—नये शासन-विधान की विशेषताएँ—बड़ा आकार; समस्त भारतवर्ष का शासन-विधान; संघ शासन-विधान; प्रांतीय स्वराज्य; संरक्षणों सहित उत्तरदायी शासन; निर्दिष्ट ध्येय का अभाव; राष्ट्रीय आधार का अभाव; ब्रिटिश पार्लमेंट का निरीक्षण—भारतीय शासन-विधान के भिन्न भिन्न अंग—सन् १९३५ का भारतीय शासन-संबंधी एक्ट; भारतीय शासन-संबंधी अन्य एक्ट; आर्डर्स-इन-कौंसिल; आदेश-पत्र; शासन-विधान-संबंधी प्रथाएँ—संक्रमण काल की व्यवस्था—शासन-विधान में संशोधन एवं परिवर्तन करने की व्यवस्था।

भारतीय शासन-विधान सन् १९३५—आजकल भारतीय प्रांतों का शासन नये शासन-विधान के अनुसार हो रहा है। इस शासन-विधान के बनने में लगभग आठ बरस लगे हैं। साइमन कमीशन की नियुक्ति के समय से इसका बनना आरंभ हुआ था और अगस्त सन् १९३५ में, सम्राट की अनुमति पाने के पश्चात् वह बन कर तैयार हो गया था। १ अप्रैल, सन् १९३७ से प्रांतीय शासन-संचालन भी नये शासन-विधान के अनुसार हो रहा है। इस शासन-विधान के तैयार करने में भारतवासियों ने उतना ही परिश्रम किया है जितना ब्रिटिश पार्लमेंट के सदस्यों ने, पर इतना होने पर भी नया शासन-विधान ऐसा नहीं बन सका है जिससे भारतवासी संतुष्ट हो जायँ। इस परिच्छेद में हम नये शासन-विधान की कुछ साधारण बातों पर प्रकाश डालेंगे।

नये शासन-विधान की विशेषताएँ—नये शासन-विधान की निम्नलिखित विशेषताएँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(१) बड़ा आकार—अन्य देशों के शासन-विधानों को देखते हुए, नये भारतीय शासन-विधान का आकार बहुत बड़ा है। केनाडा ऑस्ट्रे-

लिया और संयुक्त-राज्य अमरीका के संघ-शासन-विधान मिला कर भी, आकार में, नये भारतीय शासन-विधान के बराबर नहीं हैं। जर्मनी का वाइमर शासन-विधान युरुप का सबसे बड़ा शासन-विधान समझा जाता है, पर सन् १९३५ का भारतीय शासन-विधान उससे भी बड़ा है। नये गवर्मेंट ऑफ़् इंडिया एक्ट के मूल भाग में ३०० पृष्ठ और ४७० धाराएँ हैं और परिशिष्टों सहित वह ४३० पृष्ठों का है। केवल मूल सिद्धांतों को ही निर्धारित न करके शासन-विधान में, शासन-संबंधी प्रायः सभी महत्वपूर्ण बातों का ब्योरेवार विवरण दिया गया है जिससे भारतीय शासन-विधान का आकार बहुत बढ़ गया है।

(२) समस्त भारतवर्ष का शासन-विधान—भारतवर्ष का नया शासन-विधान समस्त भारतवर्ष का शासन-विधान है। सन् १९३५ के पूर्व, इंगलैंड की पार्लमेंट ने भारतीय शासन-विधान संबंधी जितने एक्ट पास किये थे उन सबका संबंध केवल ब्रिटिश भारत से ही था। नये शासन-विधान का संबंध ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों दोनों से है। प्रथम गोलमेज़ परिषद् में, देशी नरेशों ने भारतीय संघ राज्य में सम्मिलित होने के पक्ष में अपने विचार प्रगट किये थे। उसी के आधार पर सन् १९३५ का भारतीय शासन-विधान समस्त भारतवर्ष के शासन-विधान के रूप में तैयार किया गया है।

(३) संघ शासन-विधान—भारतवर्ष का नया शासन-विधान संघ शासन-विधान है। इस विशेषता के कारण भारतीय शासन-विधान के मूल सिद्धांत ही बदल गये हैं। सन् १९३५ के पूर्व पार्लमेंट ने जितने भारतीय शासन-विधान बनाये थे, वे सब एक-केंद्रीय शासन-विधान थे। भारतवर्ष के सुशासन की जिम्मेदारी केंद्रीय सरकार पर थी और वह भारत-मंत्री के आदेशानुसार, उनके निरीक्षण में, उन्हीं के प्रति उत्तरदायी होकर, भारतीय शासन-संचालन करती थी। प्रांतीय सरकारों के स्वतंत्र अधिकार न थे। वे भारत-सरकार के एजेंट की हैसियत से और उसके निरीक्षण में, प्रांतों का शासन करती थीं और हस्तांतरित विषयों को छोड़कर, अपनी नीति और कार्यों के लिए उसी के प्रति उत्तरदायी थीं। सन् १९३५ के शासन-विधान में ये मूल सिद्धांत बदल दिये गये हैं और भारतवर्ष के लिए एक-केंद्रीय शासन-विधान के स्थान में संघ शासन-विधान तैयार किया गया है।

जब कई छोटे छोटे स्वतंत्र राज्य, ऐक्य भाव से प्रेरित हो, अपना पृथक् अस्तित्व मिटाये बिना, एक नया राज्य स्थापित करते हैं तो उस नये राज्य को संघ राज्य कहते हैं। संघ राज्य के निर्माण में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

(अ) कई छोटे छोटे राज्यों का अस्तित्व।

(ब) उनका एक दूसरे के निकट होना।

(स) यदि संभव हो तो उनमें जातीय, धार्मिक, सांस्कृतिक और भाषा की समानता का होना।

(द) अर्थैक्य की भावना का होना।

(य) मिलने (Union) की भावना का अस्तित्व, पर एक होने (Unity) की भावना का अभाव।

कभी कभी संघ राज्य इस ढंग के विपरीत ढंग से भी स्थापित किया जाता है। एक-केंद्रीय राज्य को विच्छिन्न करके कई छोटे छोटे स्व-शासित राज्य स्थापित किये जाते हैं और फिर उनको मिला कर संघ राज्य स्थापित किया जाता है। भारतवर्ष का संघ राज्य इसी प्रकार का संघ राज्य होगा। प्रांतीय स्वराज्य स्थापित होने के पश्चात् ब्रिटिश भारतीय प्रांतों और देशी रियासतों को मिला कर, सन् १९३५ के एक्ट के अनुसार भारतीय संघ राज्य स्थापित होगा।

प्रत्येक संघ राज्य में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(अ) बेलचक, लिखित शासन-विधान, अर्थात् वह शासन-विधान जिसमें संशोधन और परिवर्तन आसानी से न किये जा सकें।

(ब) शासन-संबंधी दो प्रकार की समानांतर संस्थाएं, जिनमें से एक संघीय विषयों पर शासन करती है और दूसरी उन विषयों पर जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से संघीय विषय नहीं होते। शासन-विधान द्वारा ही संघ राज्य और उपांगों में कार्य का बटवारा कर दिया जाता है। दोनों अपने अपने कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र होते हैं। दोनों देश के नागरिकों को आज्ञाएँ देते हैं, दोनों नागरिकों से अलग अलग कर वसूल करते हैं और यदि उनकी आज्ञाएँ न मानी जायँ तो दोनों नागरिकों को दंड दे सकते हैं।

(स) न्यायालय का विशेष स्थान, संघ-शासन विधान में; एक-केंद्रीय

शासन-विधान की अपेक्षा, न्यायालय का स्थान अधिक महत्व का होता है। वह संघ राज्य और उसके अंगों के मुक़दमों का फैसला करता है, शासन-विधान की रक्षा करता है और अमुक नियम शासन-विधान-युक्त है अथवा नहीं, इस बात का भी फैसला करता है।

भारतीय संघ शासन-विधान में उपर्युक्त तीनों बातें तो न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं ही, पर इनके अतिरिक्त कुछ और भी बातें हैं जो साधारणतया संघ-शासन-विधानों में नहीं पायी जातीं और जो भारतीय संघ राज्य की विशेषताओं के नाम से पुकारी जा सकती हैं। उनमें से निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(अ) उपांगों की असमान परिस्थिति—देशी रियासतें स्वेच्छाचारी शासकों के अधीन हैं और ब्रिटिश भारतीय प्रांतों में उत्तरदायी-शासन है। संघीय व्यवस्थापक मंडल में रियासतों के प्रतिनिधि नरेशों द्वारा मनोनीत किये जायँगे, पर ब्रिटिश भारतीय प्रांतों के प्रतिनिधि परोक्ष रीति से जनता द्वारा चुने जायँगे। देशी रियासतों की प्रजा से संघ राज्य का कोई सरोकार न होगा और इसलिए रियासतों की प्रजा के, संघ राज्य-संबंधी अधिकार भी न होंगे। पर ब्रिटिश भारतीय प्रांतों के नागरिक, संघीय विषयों में पूर्णतया संघ राज्य के अधीन होंगे और संघ राज्य के प्रति उनके कर्तव्य होंगे और उसके प्रतिकूल उनके अधिकार भी।

(ब) संघ-सरकार को असमान अधिकारों का समर्पित किया जाना—साधारणतया संघ-शासन-विधानों में संघांतरित राज्य, संघ सरकार को समान अधिकार समर्पित करते हैं, पर भारतीय संघ राज्य में संभवतः ऐसा न हो सकेगा। ब्रिटिश भारतीय प्रांत तो संघ राज्य को समान अधिकार समर्पित करेंगे, पर देशी रियासतें उन्हीं विषयों में संघ-सरकार के अधीन होंगी जिन्हें वे अपने प्रवेश-प्रार्थना-पत्र में, संघ-सरकार को समर्पित करेंगी। यह बात ज़रूर है कि किसी रियासत को संघ राज्य में शामिल होने की आज्ञा देने के पूर्व, सम्राट इस बात की जाँच करेंगे कि वह संघ राज्य को आवश्यक अधिकार देने को तैयार है अथवा नहीं और यदि नहीं तो शायद उसे संघ राज्य में शामिल होने की आज्ञा न मिले। पर इतना होने पर भी यह असंभव नहीं है कि देशी रियासतों द्वारा समर्पित संघीय अधिकारों में, आपस में और ब्रिटिश भारतीय प्रांतों को देखते हुए, काफ़ी भेदभाव हो।

(ग) बड़ी सभा में संघांतरित राज्यों के समान प्रतिनिधित्व का अभाव—साधारणतया संघ शासन-विधानों में, छोटी सभा में, संघांतरित राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या, जन-संख्या के आधार पर निश्चित की जाती है और बड़ी सभा में संघांतरित राज्यों का समान प्रतिनिधित्व होता है। संयुक्त-राज्य अमरीका, ऑस्ट्रेलिया और स्विटज़रलैंड की बड़ी सभाओं में संघांतरित राज्यों का समान प्रतिनिधित्व है, पर केनाडा में ऐसा नहीं है। भारतीय संघ राज्य की, बड़ी सभा में संघांतरित राज्यों के प्रतिनिधित्व के विषय में केनाडा का अनुकरण किया गया है और भारतीय संघ राज्य के संघांतरित राज्यों की विभिन्नता को देखते हुए ऐसा होना अनिवार्य था।

(द) केंद्रीकरण की ओर झुकाव—साधारणतया, कार्यरूप में संघ राज्यों का झुकाव केंद्रीकरण की ओर हो जाता है। संयुक्त-राज्य अमरीका में, इस विषय में, बहुत दिनों तक झगड़ा होता रहा था और राष्ट्रवादी और राज्याधिकारवादी दोनों पक्षों की ओर से अमरीका के बड़े बड़े विद्वानों ने अपने विचार किये थे। अंत में, कार्यरूप में, राष्ट्रवादियों की ही विजय हुई। ऑस्ट्रेलिया में भी यही झुकाव दृष्टिगोचर होता है और केनाडा में तो शासन-विधान द्वारा ही संघ-सरकार को अधिक अधिकार प्रदान किये हैं। भारतवर्ष में केंद्रीय शासन के अधिक शक्तिशाली होने की परंपरा बहुत दिनों से चली आती है। संभव है कि, संघ राज्य स्थापित होने पर भी उपर्युक्त परंपरा और शासन-विधान की धाराओं के कारण केंद्रीय सरकार संघीय और प्रांतीय दोनों प्रकार के विषयों का निरीक्षण करती रहे।

(च) ब्रिटिश सरकार और देशी नरेशों की इच्छा पर निर्भर—भारतीय संघ राज्य का स्थापित होना ब्रिटिश सरकार और देशी रियासतों की ही इच्छा पर निर्भर होगा, ब्रिटिश भारतीय प्रांतों की अनुमति पर नहीं। यह बात एक प्रकार से मान ली गयी है कि ब्रिटिश भारतीय प्रांत संघ राज्य में अवश्य ही सम्मिलित होंगे। उनकी अनुमति लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि वे स्वयं मिल कर, संघ राज्य स्थापित करना चाहें तो संघ राज्य स्थापित न हो सकेगा। संघ राज्य स्थापित होने के पूर्व यह आवश्यक है कि समस्त देशी रियासतों की जनसंख्या की कम से कम आधी जन-संख्या वाली रियासतें, जिन्हें

संघीय व्यवस्थापक मंडल की बड़ी सभा में रियासतों के समस्त प्रतिनिधियों के आधे प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो, संघ राज्य में शामिल होने के लिए तैयार हों और इंगलैंड की पार्लमेंट की दोनों सभाओं की प्रार्थना पर सम्राट संघ राज्य स्थापित करने की घोषणा करें। इन शर्तों के देखते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संघ राज्य का स्थापित होना एक प्रकार से ब्रिटिश सरकार और देशी रियासतों की ही इच्छा पर निर्भर है ब्रिटिश भारतीय प्रांतों की इच्छा पर नहीं।

(४) प्रांतीय स्वराज्य—नये भारतीय शासन-विधान की चौथी विशेषता है, प्रांतीय स्वराज्य। प्रांतीय स्वराज्य की मांग बड़ी पुरानी है। सन् १९१९ के सुधारों के अनुसार, द्वैध शासन-प्रणाली द्वारा, प्रांतों को हस्तांतरित विषयों में परिमित स्वशासन का अधिकार मिला था। पर इससे भारतीय लोकमत संतुष्ट न था। साइमन कमीशन और गोलमेज़ परिषदों ने भी प्रांतीय स्वराज्य स्थापित करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया था। फल-स्वरूप नये शासन-विधान में प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था की गयी है पर अपरिमित प्रांतीय स्वराज्य की नहीं।

(५) संरक्षणों सहित उत्तरदायी शासन—नये शासन-विधान की पाँचवीं विशेषता है, संरक्षणों सहित उत्तरदायी शासन। संघ-शासन में द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार उत्तरदायी शासन स्थापित होगा। अतएव संरक्षित विषय में उत्तरदायी शासन स्थापित न किया जायगा। इन विषयों के अतिरिक्त गवर्नर जनरल की कुछ विशेष जिम्मेदारियाँ भी होंगी और प्रांतीय गवर्नरों की भी प्रायः वे ही विशेष जिम्मेदारियाँ होंगी। इन जिम्मेदारियों के पालन करने के लिए गवर्नर जनरल और गवर्नर अपने इच्छानुकूल काम कर सकेंगे. पर कहाँ तक, यह बतलाना इस समय संभव नहीं। क़ानूनी दृष्टि से, संरक्षणों के कारण उत्तरदायी शासन का रंग बहुत कुछ फीका पड़ गया है।

(६) निर्दिष्ट ध्येय का अभाव—नये शासन-विधान की छठी विशेषता है, निर्दिष्ट ध्येय का अभाव। इस शासन-विधान की कोई प्रस्तावना नहीं है। किस उद्देश्य से यह शासन-विधान बनाया गया है, एक्ट को पढ़कर, यह बतलाना कठिन है। इस कमी की पूर्ति यह कह कर दी गयी है कि सन् १९१९ के एक्ट की प्रस्तावना अब तक जारी

है। वास्तव में है भी ऐसा ही। प्रस्तावना और ४७ वीं धारा के [अ] भाग को छोड़ कर, नये शासन-विधान के लिए भारत-शासन-संबंधी, सन् १९१९ का समस्त एक्ट रद कर दिया गया है। पर सन् १९१९ के एक्ट की प्रस्तावना भी निर्दिष्ट ध्येय के ज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं है। इस प्रस्तावना के संबंध में सन् १९१९ के पश्चात् जो घोषणाएँ की गयी हैं वे भी निर्दिष्ट ध्येय के वास्तविक ज्ञान के लिए आवश्यक हैं। इस विषय की सबसे महत्वपूर्ण घोषणा लॉर्ड अर्विन की है जो उन्होंने ३१ अक्टूबर, सन् १९२९ को की थी और जिसके अनुसार, ब्रिटिश सरकार की अनुमति से, उन्होंने स्पष्टतया यह घोषित किया था कि सन् १९१९ की घोषणा का अभिप्राय, असंदिग्ध रूप से यह है कि भारतवर्ष को अंत में उपनिवेश का दर्जा मिले।

(७) राष्ट्रीय आधार का अभाव—नये शासन-विधान की सातवीं विशेषता है, राष्ट्रीयता का अभाव। ऐसा होना स्वाभाविक था। जिन लोगों ने नया शासन-विधान बनाया है उनमें से अधिकांश ऐसे थे, जो राष्ट्रीयता से सांप्रदायिकता और विशेष हितों को उच्चतर समझते थे। देशी रियासतों के प्रतिनिधि रियासतों के अधिकारों की रक्षा में लगे हुए थे, मुसल्मान और हरिजन अपनी अपनी सांप्रदायिक स्वार्थ-सिद्धि में, उद्योग-धंधों वाले अपनी भलाई में और ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रतिनिधि कम से कम स्वशासन अधिकार देने में। भारतीय लिबरलों का कोई सांप्रदायिक स्वार्थ तो न था, पर वे भारतीय जनता की परिस्थिति के वास्तविक ज्ञान से इतने परे थे कि वे समस्त भारतवर्ष की ओर से न बोल सकते थे। द्वितीय गोलमेज़ परिषद् में, गांधी जी ने, कांग्रेस के एक-मात्र प्रतिनिधि की हैसियत से समस्त भारतवर्ष की राष्ट्रीय माँग उपस्थित की, पर उनका विशेष प्रभाव न पड़ा। फलस्वरूप, शासन-विधान के निर्माण में समझौते के सहारे, सारी मूल बातें निश्चित की गयी हैं और सांप्रदायिकता ने इतना ज़ोर पकड़ा है कि भारतीय निर्वाचक, लगभग एक दर्जन पृथक् निर्वाचक मंडलों में विभाजित हो गये हैं जिसके कारण भारतीय राष्ट्रीयता के उत्तरोत्तर विकास में गहरी ठेस लगने की आशंका है।

(८) ब्रिटिश पार्लमेंट का निरीक्षण—नये शासन-विधान की आठवीं विशेषता है, ब्रिटिश पार्लमेंट का निरीक्षण। यद्यपि केंद्रीय शासन

और प्रांतीय शासन दोनों में, उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गयी है तो भी ब्रिटिश पार्लमेंट का निरीक्षणाधिकार पूर्ववत् बना हुआ है। कार्य रूप में प्रथाओं के द्वारा यह निरीक्षण क्रमशः शिथिल होता जाता है, पर क़ानूनी दृष्टि से उसका अस्तित्व पूर्ववत् बना हुआ है। केंद्रीय शासन के संरक्षित विषयों और गवर्नर जनरल और गवर्नरों की विशेष जिम्मेदारियों के निरीक्षण का अधिकार भारत-मंत्री को दिया गया है। भारतीय शासन की सुव्यवस्था के लिए वे अब भी पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ साधारण बातों को छोड़ कर, भारतीय व्यवस्थापक मंडल, भारतीय शासन-विधान में संशोधन एवं परिवर्तन नहीं कर सकता। सन् १९३५ के एक्ट के अनुसार शासन-विधान में संशोधन करने अथवा नये शासन-विधान के बनाने का अधिकार ब्रिटिश पार्लमेंट को ही है।

नये शासन-विधान की उपर्युक्त विशेषताएँ ख़ासकर ध्यान देने योग्य हैं। इनके कारण इस शासन-विधान से न तो भारतवासी ही संतुष्ट हैं और न विलायत वाले। देशी रियासतें और ब्रिटिश भारतीय प्रांत मिल कर संघ राज्य स्थापित करेंगे अथवा नहीं और यदि करेंगे, तो कब, यह भी बतलाना इस समय संभव नहीं। पर इसमें संदेह नहीं कि स्थापित होने पर, भारतीय संघ राज्य संसार का एक अपूर्व संघ राज्य होगा। संभवतः डाक्टर कीथ के इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं कि भारतीय संघ राज्य विशुद्ध संघ राज्य न होकर एक अशुद्ध संघ राज्य (Bastard Federation) होगा।

भारतीय शासन-विधान के भिन्न भिन्न अंग—किसी देश की सुव्यवस्था के लिए शासन-विधान का होना परमावश्यक है। बिना शासन-विधान के सुशासन का होना एक असंभव बात है। जब तक कुछ ऐसे स्पष्ट और निश्चित नियम न हों जिनके आधार पर शासन संगठित किया जाय और शासकों और शासितों के अधिकार और कर्तव्य निर्धारित किये जायँ, तब तक सुशासन और सुव्यवस्था की आशा करना व्यर्थ है। इन्हीं नियमों का सामूहिक नाम शासन-विधान है। शासन-विधान की इस परिभाषा के आधार पर भारतीय शासन-विधान के निम्नलिखित विभिन्न अंग उल्लेखनीय हैं—

(अ) सन् १९३५ का भारतीय शासन-संबंधी एक्ट—जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, इस एक्ट को ब्रिटिश पार्लमेंट ने भारतीय शासन-सुधार के लिए पास किया है। इसका वास्तविक अर्थ तभी समझ में आ सकता है जब इसकी धाराओं का अध्ययन संयुक्त पार्लमेंटरी-कमेटी की रिपोर्ट और पार्लमेंट में एक्ट संबंधी दिये गये भाषणों के साथ साथ किया जाय।

(ब) भारतीय शासन-संबंधी अन्य एक्ट—भारतीय शासन-विधान का दूसरा अंग है पार्लमेंट द्वारा पास किये गये भारतीय शासन-संबंधी अन्य एक्ट जो अब तक रद्द नहीं किये गये हैं। सन् १९३५ के एक्ट के कारण पार्लमेंट द्वारा पास किये गये अनेक पुराने एक्ट रद्द हो गये हैं। फिर भी कुछ ऐसे एक्ट अथवा एक्टों की प्रस्तावनाएँ और धाराएँ शेष हैं जो अब तक रद्द नहीं की गयी हैं, जैसे सन् १९१९ के भारतीय शासन-सुधार एक्ट की प्रस्तावना और ४७ वीं धारा का (अ) भाग। बिना रद्द किये गये एक्ट अथवा रद्द किये गये एक्टों की वे धाराएँ जो रद्द नहीं की गयी हैं और जिनका संबंध भारतीय शासन से है, भारतीय शासन-विधान के आवश्यक अंग हैं।

(स) ऑर्डर्स-इन-कौंसिल—भारतीय शासन-विधान का तीसरा अंग है, ऑर्डर्स-इन-कौंसिल। शासन-विधान को परिस्थित के अनुकूल परिवर्तनशील बनाये रखने के लिए, इनकी व्यवस्था की गयी है। पार्लमेंट के लिए यह असंभव है कि वह भारतीय शासन-विधान संबंधी सभी बातों के विषय में नियम बना सके। अतएव स-कौंसिल सम्राट को शासन-विधान संबंधी बहुतेरी बातों के लिए ऑर्डर्स जारी करने का अधिकार दिया गया है। भारत-मंत्री के लिए यह अनिवार्य है कि वे ऐसे सारे ऑर्डरों को पार्लमेंट में पेश करें। इन ऑर्डरों पर उस समय तक कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती जब तक पार्लमेंट की दोनों सभाएँ सम्राट से उन्हें मौलिक अथवा संशोधित रूप में जारी करने की प्रार्थना न करें।

(द) आदेश-पत्र—भारतीय शासन-विधान का चौथा अंग है गवर्नर जनरल और गवर्नरों के आदेश-पत्र (Instrument of Instructions)। केनाडा, ऑस्ट्रेलिया आदि डोमोनियनों में इन आदेश-पत्रों

के कारण उत्तरदायी शासन आसानी से स्थापित किया जा सका है। इनमें गवर्नर जनरल और गवर्नरों को किस ढंग से काम करना चाहिये, इस बात का आदेश दिया जाता है। पहले ये आदेश-पत्र सम्राट की ओर से दिये जाते थे। पर सन् १९३५ के एक्ट के द्वारा इन आदेश-पत्रों के मसविदों का पार्लमेंट में पेश किया जाना और उसकी अनुमति प्राप्त करना आवश्यक कर दिया गया है। पार्लमेंट की अनुमति के बिना इन आदेश-पत्रों में अब संशोधन तक नहीं किये जा सकते।

(य) शासन-विधान संबंधी प्रथाएँ—भारतीय शासन-विधान का पाँचवाँ अंग है, शासन-विधान संबंधी प्रथाएँ। प्रत्येक शासन-विधान के कार्यान्वित रूप में कुछ ऐसी प्रथाओं का चल पड़ना अनिवार्य है जिनका लिखित शासन-विधान में तो स्थान नहीं होता, पर जिनका माना जाना उतना ही आवश्यक हो जाता है जितना स्वयं शासन-विधान का। भारतवर्ष में ये प्रथाएँ अभी तक इतनी सुदृढ़ नहीं हो पायी हैं जितनी इंगलैंड और अमरीका में। पर तो भी उनका क्रमशः विकास होता जाता है। भारतीय शासन-विधान संबंधी प्रथाओं के महत्वपूर्ण उदाहरण निम्नलिखित हैं—आर्थिक स्वतंत्रता की प्रथा; अधिपति और देशी नरेशों के संबंध की प्रथाएँ, भारत-मंत्री के निरीक्षण के शिथिल करने की प्रथा; हस्तांतरित विषयों के शासन में यदि प्रांतीय मंत्री और प्रांतीय व्यवस्थापक सभाएँ एकमत हों तो साधारणतया गवर्नर के हस्तक्षेप न करने की प्रथा आदि।

भारतीय शासन-विधान के उपर्युक्त पाँच प्रधान अंग हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा बनाये गये नियम और न्यायालयों के निर्णय, विशेष कर प्रिवी-कौंसिल के निर्णय, भी भारतीय शासन-विधान के अंग हैं। भारतीय शासन-विधान और शासन-पद्धित का सच्चा रूप जानने के लिए सन् १९३५ के एक्ट के अतिरिक्त उपर्युक्त चार अन्य अंगों का भी अध्ययन करना चाहिये।

संक्रमण काल की व्यवस्था—सन् १९३५ के एक्ट की दो मुख्य बातें हैं—भारतीय संघ राज्य और प्रांतीय स्वराज्य। इन दोनों परिवर्तनों का एक साथ किया जाना एक कठिन बात थी। अतएव यह पहले ही से निर्धारित कर दिया गया था कि प्रांतीय स्वराज्य शीघ्र ही

स्थापित किया जाय और उसके बाद संघ राज्य। प्रांतीय स्वराज्य और संघ राज्य के स्थापित होने के बीच के समय में शासन-व्यवस्था कैसी हो, सन् १९३५ के एक्ट में, इसका भी उल्लेख है। संक्रमण काल में, स-कौंसिल गवर्नर जनरल, संघीय शासन-विभाग का काम करेंगे और केंद्रीय व्यवस्थापक मंडल, संघीय व्यवस्थापक मंडल का। गवर्नर जनरल की सन् १९३५ के एक्ट वाली सारी जिम्मेदारियाँ होंगी और गवर्नर जनरल और स-कौंसिल गवर्नर जनरल. भारत-मंत्री के अधीन होंगे। संक्रमण काल में स-कौंसिल गवर्नर जनरल इंगलैंड में कोई ऋण न ले सकेंगे पर यदि भारत-मंत्री के अधिकांश परामर्शदाता ऋण के पक्ष में हों. तो पालमेंट की आज्ञा से भारत-मंत्री भारतवर्ष के लिए ऋण ले सकेंगे। संक्रमण काल में ही फेडेरल पब्लिक सर्विस कमीशन, फेडेरल रेलवे अथॉरिटी और संघीय न्यायालय के स्थापित करने की व्यवस्था की गयी है। वे सारी संस्थाएँ अब तक स्थापित हो चुकी हैं. और १ अप्रैल. सन् १९३७ से. प्रांतीय स्वराज्य स्थापित होने के कारण, केंद्रीय व्यवस्थापक मंडल, केंद्रीय शासन-विभाग, फेडेरल पब्लिक सर्विस कमीशन, फेडेरल रेलवे अथॉरिटी और संघीय न्यायालय के प्रांतीय शासन-संबंधी वे हो अधिकार हो गये हैं जो संघ-सरकार को प्राप्त होंगे।

शासन-विधान में संशोधन एवं परिवर्तन करने की व्यवस्था—भारतीय शासन-विधान का संशोधन दो तरह से किया जा सकता है—

(१) पार्लमेंट के द्वारा, और

(२) ऑर्डर्स-इन-कौंसिल के द्वारा।

पार्लमेंट. जब चाहे, भारतीय शासन-विधान में परिवर्तन कर सकती है। भारतवर्ष के लिए नया शासन-विधान बनाना भी उसी के हाथ में है। परिस्थिति के अनुकूल शासन-विधान को परिवर्तनशील बनाये रखने के लिए शासन-विधान-संशोधन संबंधी ऑर्डर्स-इन-कौंसिल की व्यवस्था की गयी है। ब्रिटिश सरकार, जब चाहे, भारतीय शासन-विधान में ऑर्डर्स-इन-कौंसिल के जरिये से छोटे छोटे परिवर्तन कर सकती है।

संघ राज्य स्थापित होने के दस बरस पश्चात् संघीय व्यवस्थापक मंडल और प्रांतीय स्वराज्य स्थापित होने के दस बरस पश्चात् प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल, प्रस्ताव पास करके कुछ निर्दिष्ट विषयों में संशोधन करने के लिए, गवर्नर जनरल और गवर्नर से यह प्रार्थना कर सकते हैं कि उनके स्वीकृत प्रस्ताव की सूचना सम्राट को दी जाय और वे उसे पार्लमेंट के समक्ष पेश करने की कृपा करें। ऐसी अवस्था में भी ऑर्डर्स-इन-कौंसिल द्वारा शासन-विधान संशोधित किया जा सकता है। इन ऑर्डर्स-इन-कौंसिल के लागू होने के लिए यह आवश्यक है कि पार्लमेंट की दोनों सभाएँ, उन्हें जारी करने के लिए सम्राट से प्रार्थना करें। संघीय व्यवस्थापक मंडल के प्रस्तावों पर गवर्नर जनरल के और प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के प्रस्तावों पर गवर्नरों के व्यक्तिगत् विचारों का होना आवश्यक है। विशेष परिस्थिति में, यदि भारत-मंत्री को कोई संशोधन अत्यावश्यक प्रतीत हो, तो पार्लमेंट की पूर्व अनुमति के बिना ही ऑर्डर-इन-कौंसिल जारी किया जा सकता है, लेकिन इस प्रकार का ऑर्डर-इन-कौंसिल कॉमन सभा का जिस दिन प्रथम अधिवेशन हो, उसके २८ दिन पश्चात् स्वयं रद हो जायगा, यदि इस काल में पार्लमेंट की दोनों सभाएँ उसकी स्वीकृति का प्रस्ताव न पास करें।

संघीय और प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल को निम्नलिखित विषयों में शासन-विधान-सशोधन संबंधी प्रस्ताव पास करने का अधिकार दिया गया है—

(अ) संघीय व्यवस्थापक मंडल की रचना, आकार, सदस्यों के चुनाव का ढंग और उनकी योग्यता आदि के संबंध में। पर ऐसे संशोधनों में संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं के सदस्यों के निर्धारित अनुपात में अथवा दोनों सभाओं में ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के सदस्यों के निर्धारित अनुपात में किसी प्रकार का परिवर्तन न होना चाहिये।

(ब) प्रांतीय व्यवस्थापिकाओं में एक सभा हो अथवा दो, उनकी रचना कैसी हो और उनका आकार कितना बड़ा हो, उनके सदस्य किस प्रकार चुने जायँ, उनमें किन किन योग्यताओं का होना आवश्यक समझा जाय आदि के विषय में।

(ख) अधिक स्त्रियों को मताधिकार देने के विषय में। इस संबंध के प्रस्ताव दस बरस की अवधि समाप्त होने के पूर्व भी पेश किये जा सकते हैं। और

(ग) कोई ऐसा संशोधन जिसके कारण पर उन लोगों का मताधिकार मिल सके जो अब तक मतदाता नहीं हैं।

इन संशोधनों के द्वारा देशी नरेशों की अनुमति बिना किसी देशी रियासत के प्रतिनिधित्व में और भिन्न भिन्न संप्रदायों की अनुमति बिना सांप्रदायिक निर्णय के सांप्रदायिक अनुपात में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

शासन-विधान संशोधन संबंधी सन् १९३५ के एक्ट की उपर्युक्त धाराओं से यह विदित होता है कि संघीय व्यवस्थापक मंडल और प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल दोनों ही, किसी महत्त्वपूर्ण विषय में शासन-विधान में संशोधन करने का प्रस्ताव भी नहीं पास कर सकते। ऐसी बात अन्य डोमीनियनों में नहीं है। पर भारतवर्ष अभी डोमीनियन कहाँ? वेस्ट मिंस्टर स्टेच्यूट, केनाडा, ऑस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैंड, आयरलैंड और न्यूफाउंडलैंड के लिए ही है, भारतवर्ष के लिए नहीं।

नवाँ परिच्छेद

भारतीय संघ राज्य

कार्य-विभाजन और आर्थिक व्यवस्था

संघ राज्य की स्थापना—देशी रियासतें और संघ राज्य—कार्य-विभाजन—संघीय विषय जिनमें प्रांतों को बिल्कुल अधिकार न होगा; प्रांतीय विषय जिनमें संघ राज्य को कोई अधिकार न होगा; संयुक्त विषय अर्थात् वे विषय जिनमें संघ राज्य और प्रांतों दोनों को अधिकार होगा; शेष विषय; वे विषय जिनमें न संघ राज्य को अधिकार होगा और न प्रांतों को—असाधारण परिस्थितियों की व्यवस्था—संघ राज्य और प्रांतों में अधिकार-सीमा संबंधी झगड़े; संघीय व्यवस्थापक मंडल का प्रांतीय विषयों पर अधिकार; गवर्नर जनरल की आॅर्डी-नेंसें; गवर्नर जनरल के एक्ट, वैधानिक गुत्थियाँ; प्रांतीय गवर्नर और असाधारण परिस्थितियाँ—देशी राज्य और कार्य-विभाजन—आर्थिक व्यवस्था की आव-श्यकता—आर्थिक व्यवस्था के मूल सिद्धांत—नव शासन-विधान की आर्थिक व्यवस्था—संघ राज्य की आय—प्रांतों की आय—संघ राज्य और प्रांतों का व्यय—उपर्युक्त आर्थिक व्यवस्था की आलोचना—सार्वजनिक ऋण—संघ राज्य और देशी रियासतों का आर्थिक संबंध—संघीय आर्थिक विषय; देशी रियासतों द्वारा दिये जाने वाले खिराज; देशी रियासतों को मिलने वाली रक़में—संपूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर दृष्टिपात्—रिज़र्व बैंक।

कार्य-विभाजन

संघ राज्य की स्थापना—नये शासन-विधान के अनुसार भारतीय संघ राज्य के दो प्रधान अंग निर्धारित किये गये हैं—(१) गवर्नरों के प्रांत और (२) देशी रियासतें। संघ राज्य में वे प्रांत भी शामिल किये जायँगे जो चीफ़ कमिश्नरों के अधीन हैं। संघ राज्य स्थापित होने के पूर्व निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति आवश्यक है—

(१) कम से कम इतने देशी नरेश संघ राज्य में शामिल होने के लिए तैयार हों जो संघीय व्यवस्थापक मंडल की बड़ी सभा में ५२ सदस्य

भेज सकें और जिनकी जनसंख्या समस्त देशी रियासतों की जनसंख्या की कम से कम आधी हो।

(२) प्रथम शर्त की पूर्ति के पश्चात्, यदि ब्रिटिश पार्लमेंट की दोनों सभाएँ सम्राट से संघ राज्य स्थापित करने की प्रार्थना करें, तो सम्राट इस आशय की घोषणा करेंगे कि अमुक तिथि से, सम्राट के अधीन, भारतीय संघ राज्य स्थापित किया जाय।

एक्ट की इस धारा (५ वीं) से विदित है कि भारतीय संघ राज्य की स्थापना प्रधानतः देशी नरेशों की इच्छा पर निर्भर है और यदि वे तैयार हो जायँ तो ब्रिटिश पार्लमेंट और सम्राट की इच्छा पर। ब्रिटिश भारतीय प्रांतों की इच्छा अथवा अनिच्छा का कोई ख्याल नहीं। वे संघ राज्य में अवश्य शामिल होंगे, यह बात एक प्रकार से मान सी ली गयी है।

देशी रियासतें और संघ राज्य—देशी रियासतें संघ राज्य में प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों (Instruments of Accession) के द्वारा शामिल होंगी। देशी रियासतों और राज्य के संबंध में ये पत्र बड़े महत्व के होंगे। इन पत्रों में देशी नरेश अपनी और अपने उत्तराधिकारियों की ओर से सम्राट को यह आश्वासन देंगे कि वे सन् १९३५ के एक्ट के द्वारा संस्थापित संघ राज्य में शामिल होना चाहते हैं और सम्राट, गवर्नर जनरल, संघीय व्यवस्थापक मंडल, संघीय न्यायालय या अन्य संघीय अधिकारी, उनके राज्य में प्रवेश-प्रार्थना-पत्र की शर्तों के अंतर्गत्, उन अधिकारों का उपयोग कर सकेंगे जो उन्हें सन् १९३५ के एक्ट द्वारा प्राप्त हैं। इन्हीं पत्रों में वे यह वचन भी देंगे कि वे अपने राज्य में लागू होने वाली उन सब बातों को कार्यान्वित करेंगे, जिनका उल्लेख नये शासन-विधान में किया गया है और जो उनके प्रवेश-प्रार्थना-पत्र के अनुकूल हैं। प्रवेश-प्रार्थना-पत्र भेजते समय, देशी नरेश, संघ राज्य स्थापित होने की तिथि का भी उल्लेख कर सकेंगे। यदि उस समय तक संघ राज्य स्थापित न हो, तो उनके लिए, उस प्रवेश-प्रार्थना-पत्र के आधार पर, संघ राज्य में शामिल होना, आवश्यक न समझा जायगा। प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों में यह स्पष्ट कर दिया जायगा कि उनके भेजने वाले देशी नरेश अपने राज्य में किन किन विषयों में संघ शासन और संघीय व्यवस्थापक मंडल को अधिकार देने को तैयार हैं। संघ राज्य के अधिकार बढ़ाने के

लिए, देशी नरेश प्रथम प्रवेश-प्रार्थना-पत्र के पश्चात्, दूसरा प्रवेश-प्रार्थना-पत्र भी भेज सकेंगे। किसी प्रार्थना-पत्र का स्वीकार करना अथवा स्वीकार न करना सम्राट की इच्छा पर निर्भर होगा। सम्राट किसी प्रवेश-प्रार्थना-पत्र को तभी स्वीकार करेंगे, जब उसकी शर्तें संघ राज्य की योजना के अनुकूल होंगी। स्वीकार किये जाने के पश्चात्, संघ राज्य के स्थापित होने पर स्वीकृत प्रवेश-प्रार्थना-पत्र की शर्तें नियम-विरुद्ध क़रार न की जा सकेंगी। संघ राज्य स्थापित होने के पश्चात्, यदि पार्लमेंट संघ राज्य की अधिकार सीमा में किसी प्रकार का परिवर्तन करेगी तो वह परिवर्तन देशी नरेशों की इच्छा के बिना उन पर लागू न होगा। प्रवेश-प्रार्थना-पत्र भेजने का अधिकार स्वयं देशी नरेश को होगा या उस अधिकारी को, जो देशी नरेश के अल्प-वयस्क होने अथवा किसी अन्य कारण से, राज्य के नरेश के अधिकारों का उपयोग करते हो। संघ राज्य स्थापित होने के पश्चात् शेष देशी नरेश बज़रिये गवर्नर जनरल, सम्राट के पास प्रवेश-प्रार्थना-पत्र भेज सकेंगे और संघ राज्य स्थापित होने के बीस बरस पश्चात्, गवर्नर जनरल किसी प्रवेश-प्रार्थना-पत्र को सम्राट के पास तब तक न भेजेंगे जब तक संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाएँ यह प्रार्थना न करें कि अमुक रियासत संघ राज्य में शामिल की जाय। प्रत्येक स्वीकृत प्रवेश-प्रार्थना-पत्र पार्लमेंट के समक्ष उपस्थित किया जायगा और उसका मानना न्यायालयों के लिए अनिवार्य होगा।

कार्य-विभाजन—प्रत्येक संघ राज्य की एक विशेषता यह होती है कि उसमें शासन-विधान द्वारा ही संघ राज्य और उसके अंगों का कार्यक्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है। इस विषय के दो मुख्य सिद्धांत हैं—

(१) कुछ संघ राज्यों में संघ राज्य का कार्यक्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है और शेष विषय संघांतरित राज्यों के अधीन छोड़ दिये जाते हैं, जैसा संयुक्त-राज्य अमरीका, ऑस्ट्रेलिया और स्विटज़रलैंड में हैं।

(२) कुछ संघ राज्यों में संघांतरित राज्यों का कार्यक्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है और शेष विषय संघ राज्य के अधीन छोड़ दिये जाते हैं; जैसा केनाडा में है।

भारतीय संघ राज्य में संघ राज्य और संघांतरित राज्यों के कार्यक्षेत्र

की अलग अलग सूचियाँ तैयार की गयी हैं और निम्नलिखित भिन्न भिन्न कार्यक्षेत्र निर्धारित किये गये हैं¹—

(अ) संघीय विषय जिनमें प्रांतों को बिल्कुल अधिकार न होगा—इस प्रकार के ५६ विषय निर्धारित किये गये हैं। शासन-विधान की अन्य धाराओं के अंतर्गत् संघ-सरकार और संघीय व्यवस्थापक-मंडल का इन पर पूर्ण अधिकार होगा। इनमें से निम्नलिखित विषय उल्लेखनीय हैं—

(१) प्रांतीय सशस्त्र पुलिस और देशी राज्यों की फौज को छोड़ कर, समस्त जल, थल और नभ सेना; (२) छावनियाँ; (३) पर-राष्ट्र-संबंध; (४) मुद्रा और टकसाल; (५) संघीय सार्वजनिक ऋण; (६) डाक, तार, टेलीफोन आदि; (७) संघीय नौकरियाँ, संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन और संघीय आय से दी जाने वाली पेंशनें; (८) काशी और अलीगढ़ के विश्वविद्यालय; (९) मर्दुमशुमारी; (१०) आयात और निर्यात; (११) संघीय रेलवे; (१२) बंदरगाह, जहाजी कारबार, देशीय जल सीमा के बाहर मछलियों का शिकार, लाइट हाउस आदि; (१३) हवाई जहाज; (१४) कॉपीराइट; (१५) युद्ध की सामग्री; (१६) विस्फोटक पदार्थ; (१७) निर्यात के लिए अफ़ीम का उत्पादन; (१८) पेट्रोल तथा संघ राज्य द्वारा घोषित अन्य जल उठने वाले पदार्थ; (१९) कॉरपोरेशन और उद्योग-धंधों की उन्नति; (२०) खान और तेल के कुएँ और उनमें काम करने वाले मजदूरों की रक्षा; (२१) बीमा; (२२) बैंक या बैंक संबंधी वह व्यवसाय जो देशी रियासतों के अधीन नहीं हैं; (२३) संघीय व्यवस्थापक मंडल का चुनाव; (२४) संघीय मंत्रियों और व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं के अध्यक्ष उपाध्यक्ष और सदस्यों के वेतन, भत्ता आदि; (२५) आयात-निर्यात कर; (२६) पीनेवाली शराब, अफ़ीम और शराब मिश्रित दवाइयों और शृंगार की सामग्री को छोड़कर, भारत में बनने वाली तंबाकू तथा अन्य प्रकार की चीजों का टैक्स; (२७) कॉरपोरेशन टैक्स; (२८) नमक-कर; (२९) सरकारी लॉटरी; (३०) विदेशियों को नागरिक बनाने का अधिकार; (३१) कृषि-संबंधी आय को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की आय का टैक्स इत्यादि, इत्यादि।

---

१ देखिये गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया एक्ट सन्, १९३५, पृष्ठ ३९० से ३९९ तक।

(ख) प्रांतीय विषय जिनमें संघ राज्य का कोई अधिकार न होगा— इस प्रकार के ५४ विषय निर्धारित किये गये हैं। प्रांतीय सरकार और प्रांतीय व्यवस्थापक मंडलों का इन पर पूर्ण अधिकार होगा। इनमें से निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं—

(१) सेना को छोड़कर, सार्वजनिक शांति, संघीय-न्यायालय को छोड़कर अन्य न्यायालयों का संगठन और उनकी फीस, सार्वजनिक शांति के लिए नजरबंदी और नजरबंदियों की देखभाल; (२) संघीय न्यायालय को छोड़कर अन्य न्यायालयों का इस सूची के विषयों में निर्णय देने का अधिकार और माली (Revenue) अदालतों की कार्य-पद्धति; (३) पुलिस मय रेलवे और देहाती पुलिस के; (४) जेल, सुधार-गृह आदि; (५) प्रांत का सार्वजनिक ऋण; (६) प्रांतीय नौकरियाँ और प्रांतीय पब्लिक सर्विस कमीशन; (७) प्रांतीय आय से दी जाने वाली पेंशनें; (८) प्रांतीय सरकार के अधीन भूमि और इमारतें और प्रांतीय निर्माण-कार्य; (९) जबरन भूमि पर अधिकार प्राप्त करना; (१०) प्रांतीय सरकार के अधीन पुस्तकालय और अजायबघर; (११) प्रांतीय व्यवस्था-पक मंडल का निर्वाचन; (१२) प्रांतीय मंत्रियों और प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल की सभाओं के अध्यक्ष उपाध्यक्ष और सदस्यों का वेतन और भत्ता आदि; (१३) स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ; (१४) तीर्थ-स्थान; (१५) कब्रिस्तान; (१६) शिक्षा; (१७) सड़कें, पुल, घाट आदि; (१८) आवागमन के साधन, आबपाशी, नहर, बाँध आदि जल-प्रबंध; (१९) कृषि, कृषि-शिक्षा अन्वेषण, पशु-चिकित्सा और कांजी-हाउस; (२०) लगान की व्यवस्था और जमींदारों और किसानों का परस्पर संबंध (२१) जंगल; (२२) संघीय अधिकारों को छोड़कर खान, और तेल के कुओं का नियं-त्रण; (२३) मछलियों का शिकार; (२४) जंगली पशुओं की रक्षा; (२५) गैस और गैस के कारखाने; (२६) प्रांतीय वाणिज्य-व्यवसाय एवं मंडी और महाजनी; (२७) सराएँ; (२८) माल का उत्पादन और वितरण और संघीय अधिकारों के अंतर्गत उद्योग-धंधों की वृद्धि; (२९) खाद्य पदार्थों में मिलावट, तौल और माप; (३०) अफीम को छोड़कर शराब और अन्य मादक द्रव्यों का क्रय-विक्रय; (३१) बेकारों और निर्धनों की सहायता; (३२) दान और दान देनेवाली संस्थाएँ; (३३) थियेटर, सिनेमा आदि; (३४) जुआ और सट्टेबाजी; (३५) कृषि-संबंधी आय का टैक्स;

(१) वे विषय जिनके संबंध में कोई प्रस्ताव पेश ही नहीं किया जा सकेगा—शासन-विधान की ११० धारा[1] में उनका उल्लेख किया गया है। सन् १९३५ के एक्ट की किसी धारा के अनुसार पार्लमेंट के उस अधिकार में किसी प्रकार की कमी न होगी, जिसके कारण वह ब्रिटिश भारत या उसके किसी भाग के लिए क़ानून बना सकती है। न इस एक्ट की किसी धारा के अनुसार संघीय या प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल को ऐसा अधिकार मिल सकेगा, जिसके कारण वे सम्राट, राजवंश-उत्तराधिकार, भारतवर्ष या उसके किसी भाग पर ब्रिटिश राजैश्वर्य, ब्रिटिश जातीयता-नियम, जल, थल, नभ सेना के अनुशासन संबंधी एक्ट आदि पर असर डालने वाले प्रस्ताव पास कर सकें। नये शासन-विधान द्वारा प्राप्त अधिकारों के अतिरिक्त वे ऐसे नियम भी न बना सकेंगे, जो शासन-विधान में या तत्संबंधी सम्राट-इन-कौंसिल द्वारा जारी किये गये ऑर्डर में या भारत-मंत्री या गवर्नर जनरल या गवर्नर द्वारा विवेकानुसार बनाये गये किसी नियम में, संशोधन अथवा परिवर्तन करते हों। वे कोई ऐसा नियम भी न बना सकेंगे, जिसका सम्राट के उस विशेष अधिकार पर कुछ असर पड़ता हो, जिसके कारण वे किसी न्यायालय के निर्णय के प्रतिकूल अपील करने की विशेष आज्ञा दे सकते हों।

(२) गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति प्राप्त करके संघीय अथवा प्रांतीय व्यवस्थापक मंडलों में पेश किये जाने वाले प्रस्ताव—निम्नलिखित विषयों का कोई प्रस्ताव गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना संघीय व्यवस्थापक मंडल में पेश न किया जा सकेगा—

(अ) जो पार्लमेंट के ब्रिटिश भारत संबंधी किसी क़ानून की किसी धारा को रद्द या संशोधित करता हो या उससे असंगत हो।

(ब) जो गवर्नर जनरल या गवर्नर के किसी क़ानून,[1] या ऑर्डीनेंस को जिसको उन्होंने अपने विवेक के अनुसार जारी किया है, रद्द एवं संशोधित करता हो या उससे असंगत हो।

---

(१) इस धारा के अतिरिक्त यदि किसी अन्य धारा के अनुसार गवर्नर जनरल या गवर्नर को, बिल पेश करने के लिए पूर्व अनुमति आवश्यक है तो इस धारा के कारण गवर्नर जनरल या गवर्नर के उन अधिकारों में किसी प्रकार की कमी न होगी।

(स) जिसका असर किसी ऐसे काम पर पड़ता हो, जिसे नये शासन-विधान के अनुसार गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार कर सकते हों।

(द) जो किसी प्रकार की पुलिस से संबंध रखने वाले किसी क़ानून को रद या संशोधित करता हो या उस पर असर डालता हो।

(य) जो ब्रिटेन की यूरोपीय प्रजा-संबंधी फौजदारी कार्य-पद्धति पर असर डालता हो।

(र) जो ब्रिटिश भारत के बाहर वाली कंपनियों या मनुष्यों पर ब्रिटिश भारतीय मनुष्यों और कंपनियों की अपेक्षा, अधिक टैक्स लगाता हो। और

(ल) जो युनाइटेड किंगडम में टैक्स देने वाली आय को संघीय कर से मुक्त रखने का विरोध करता हो।

निम्नलिखित विषयों का कोई प्रस्ताव गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना किसी प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल में पेश नहीं किया जा सकेगा—

(अ) जो पार्लमेंट के ब्रिटिश भारत संबंधी किसी क़ानून की किसी धारा को रद या संशोधित करता हो या उससे असंगत हो।

(ब) जो गवर्नर जनरल के किसी क़ानून या ऑर्डीनेंस को, जिसको उन्होंने अपने विवेक के अनुसार जारी किया है, रद एवं संशोधित करता हो अथवा उससे असंगत हो।

(स) जिसका असर किसी ऐसे काम पर पड़ता हो जिसे नये शासन-विधान के अनुसार, गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार कर सकते हों। और

(द) जो ब्रिटेन की युरोपीय प्रजा संबंधी फौजदारी कार्य-पद्धति पर असर डालता हो।

(३) गवर्नर की पूर्व अनुमति के विना निम्नलिखित विपयों का कोई प्रस्ताव प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल में नहीं पेश किया जा सकता—

---

(१) गवर्नर जनरल के क़ानूनों की व्यवस्था नये शासन-विधान की ४४ वीं धारा में की गयी है, और ऑर्डीनेंसों की व्यवस्था ४२ वीं और ४३ वीं धाराओं में।

(अ) जो गवर्नर के किसी क़ानून या ऑर्डिनेंस को, जिसको उन्होंने अपने विवेक के अनुसार जारी किया है, रद एवं संशोधित करता हो। और

(ब) जो किसी प्रकार की पुलिस से संबंध रखने वाले किसी क़ानून को रद एवं संशोधित करता हो या उस पर असर डालता हो।

असाधारण परिस्थितियों की व्यवस्था—उपर्युक्त कार्य-विभाजन बिलकुल सीधा सादा देख पड़ता है, किंतु उसके कार्यान्वित करने में कुछ कठिनाइयों के होने की आशंका है। किसी सरकार का कार्य इस प्रकार अलग अलग क्षेत्रों में विभक्त नहीं किया जा सकता। अतएव प्रत्येक संघ राज्य में कार्य-क्षेत्र संबंधी सैकड़ों झगड़े हुआ करते हैं। शायद भारतवर्ष उनसे मुक्त न रहे। साथ ही भारतवर्ष में वैधानिक संकट और शांति व सुव्यवस्था के ख़तरे में होने का भय भी बना रहता है। अतएव नये शासन-विधान में इन असाधारण परिस्थितियों का सामना करने की व्यवस्था की गयी है। उस व्यवस्था को हम निम्नलिखित छः भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) संघ राज्य और प्रांतों में अधिकार सीमा-संबंधी झगड़े—ये झगड़े दो प्रकार के हो सकते हैं—

(अ) उन विषयों के संबंध में जो स्पष्टतया संघीय अथवा प्रांतीय विषय निर्धारित कर दिये गये हैं। और

(ब) संयुक्त विषयों के संबंध में।

प्रथम प्रकार के झगड़ों के लिए न्यायालयों का निर्णय सर्वमान्य होगा। पर दूसरे प्रकार के झगड़े इतनी आसानी से तय न हो सकेंगे। जैसा ऊपर बतलाया गया है, संयुक्त विषय प्रधानतः प्रांतीय विषय हैं। पर इसलिए कि उनके शासन में सब प्रांतों की प्रायः एक ही नीति हो, संघीय निरीक्षण आवश्यक समझा गया है। इन दोनों सिद्धांतों की रक्षा करना आवश्यक था। अतएव शासन-विधान की १०७ वीं धारा के अनुसार इन विषयों के लिए निम्नलिखित व्यवस्था की गयी है—

(अ) यदि संयुक्त विषयों के किसी प्रांतीय नियम की कोई धारा, संघीय नियम या तत्संबंधी उस समय के किसी भारतीय नियम से असंगत हो, तो संघीय अथवा भारतीय नियम चाहे वह प्रांतीय नियम

के पहले का हो चाहे पीछे का, ठीक समझा जायगा और प्रांतीय नियम असंगत होने के अंश तक रद् समझा जायगा।

(ब) यदि संयुक्त विषयों का कोई प्रांतीय नियम, पहले के संघीय नियम अथवा उस समय के भारतीय नियम से असंगत होने पर भी रिज़र्व किये जाने के पश्चात् गवर्नर जनरल या सम्राट की अनुमति प्राप्त कर लेगा, तो उस प्रांत में वह नियम, संघीय नियम से असंगत होने पर भी, लागू होगा। लेकिन गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति से संघीय व्यवस्थापक मंडल के, उसी विषय संबंधी, अन्य नियमोंके बनाने के अधिकार में किसी प्रकार की कमी न होगी।

(२) संघीय व्यवस्थापक मंडल का प्रांतीय विषयों पर अधिकार— यदि गवर्नर जनरल शासन-विधान की १०२ धारा के मुताबिक अपने विवेक के अनुसार, युद्ध एवं भीतरी अशांति के कारण, भारतवर्ष में असाधारण परिस्थिति होने की घोषणा करें, तो संघीय व्यवस्थापक मंडल प्रांतीय विषयों के भी नियम बना सकेगा। इस प्रकार का कोई प्रस्ताव गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के विना संघीय व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा में पेश न किया जायगा और गवर्नर जनरल उस समय तक अपनी अनुमति न देंगे जब तक उन्हें यह विश्वास न हो जाय कि असाधारण परिस्थिति का सामना करने के लिए प्रस्तावित नियम आवश्यक हैं। असाधारण परिस्थिति की घोषणा होने पर भी प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल प्रांतीय विषयों के नियम बना सकेंगे पर यदि उनके नियम संघीय नियमों से असंगत होंगे तो असंगत होने के अंश तक प्रांतीय नियम रद् समझे जायँगे। असाधारण परिस्थिति की घोषणा को रद् करने के लिए दूसरी घोषणा की व्यवस्था की गयी है। असाधारण परिस्थिति की घोषणा की सूचना वज़रिये भारत-मंत्री पार्लमेंट की दोनों सभाओं को मिलनी चाहिये। इस प्रकार की घोषणा केवल ६ महीने तक लागू रहेगी और अधिक समय के लिए भी, यदि इस अवधि की समाप्ति पूर्व संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाएँ उसके पक्ष में प्रस्ताव पास करें। असाधारण परिस्थति के कारण जो नियम संघीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा बनाये जायँगे वे परिस्थिति के अंत-संबंधी घोषणा के छः महीने बाद तक लागू रहेंगे।

(३) गवर्नर जनरल की ऑर्डिनेंसें—शासन-विधान की ४२ वीं धारा के अनुसार, इन दिनों जब संघीय व्यवस्थापक मंडल के अधिवेशन न होते हों, यदि गवर्नर जनरल को यह विश्वास हो जाय कि परिस्थिति विशेष के कारण ऑर्डिनेंसों का जारी करना आवश्यक है तो वे तत्संबंधी ऑर्डिनेंसें जारी कर सकेंगे। ऐसी ऑर्डिनेंसें उन्हीं विषयों की होंगी जिनके प्रस्ताव गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा में पेश नहीं किये जा सकते और सम्राट की आज्ञा के बिना वे ऐसी न होंगी, जिनको साधारणतः गवर्नर जनरल सम्राट की अनुमति के लिए रिज़र्व करते। इस प्रकार की ऑर्डिनेंसों का भारतीय शासन में वही स्थान होगा जो संघीय नियमों का। व्यवस्थापक मंडल के समक्ष इन ऑर्डिनेंसों का उपस्थित किया जाना आवश्यक होगा और व्यवस्थापक मंडल के अधिवेशन के छः सप्ताह के पश्चात् वे स्वयं रद्द हो जायँगी और उसके पहले भी, यदि व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाएँ उनके विरोध संबंधी प्रस्ताव पास करें। सम्राट को किसी ऑर्डिनेंस के रद्द करने का अधिकार दिया गया है। गवर्नर जनरल को भी समयानुकूल उन्हें वापस कर लेने का अधिकार दिया गया है।

४३ वीं धारा द्वारा गवर्नर जनरल को ऐसे विषयों की ऑर्डिनेंसें जारी करने का अधिकार दिया गया है, जिनका शासन उनके विवेक एवं व्यक्तिगत् निर्णय पर छोड़ दिया गया है। इन ऑर्डिनेंसों का भी वही स्थान होगा जो संघीय नियमों का। इनकी अवधि छः महीने निश्चित की गयी है, परंतु दूसरी ऑर्डिनेंस के ज़रिये से यह अवधि छः महीने तक और बढ़ायी जा सकेगी। सम्राट को ऐसी ऑर्डिनेंसों के भी रद्द करने का अधिकार दिया गया है। गवर्नर जनरल स्वयं उनको वापस ले सकते हैं। अवधि बढ़ाने वाली ऑर्डिनेंस की सूचना शीघ्र ही भारत-मंत्री को मिलनी चाहिये और बज़रिये उनके, पार्लमेंट की दोनों सभाओं को। इस प्रकार की वे ऑर्डिनेंसें रद्द समझी जायँगी, जो ऐसे विषयों के बारे में जारी की गयी हैं जिनके नियम बनाने का अधिकार, शासन-विधान द्वारा, संघीय व्यवस्थापक मंडल को नहीं है।

(४) गवर्नर जनरल के नियम—शासन-विधान की ४४ वीं धारा के अनुसार गवर्नर जनरल को स्वयं नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। यदि किसी समय गवर्नर जनरल को यह प्रतीत हो कि विशेष

एवं व्यक्तिगत् निर्णय के कामों को संतोषपूर्वक करने के लिए किसी नियम की आवश्यकता है तो वे संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं को यह संदेश भेज सकते हैं कि अमुक नियम हमारे कार्य-संपादन के लिए आवश्यक है। ऐसी अवस्था में, वे संदेश के साथ साथ या तो स्वयं-निर्मित नियम को भेज सकते हैं, या केवल उसका मसविदा। यदि वे मसविदा भेजते हैं तो मसविदे के भेजे जाने के एक महीना पश्चात् ही, वह नियम बनाया जा सकेगा और उसको नियम बनाते समय गवर्नर जनरल के लिए, व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा द्वारा प्रगट किये गये विचारों का ध्यान रखना आवश्यक होगा। गवर्नर जनरल के नियमों का वही स्थान होगा. जो संघीय नियमों का। इस प्रकार के नियमों को भी सम्राट रद् कर सकेंगे। ऐसे नियमों की सूचना भारत-मंत्री को भेजनी पड़ेगी और बज़रिये उनके, पार्लमेंट की दोनों सभाओं को।

(५) वैधानिक गुत्थियाँ—शासन-विधान की ४५ वीं धारा में वैधानिक गुत्थियों के सुलझाने की व्यवस्था की गयी है। यदि किसी समय गवर्नर जनरल को यह प्रतीत हो कि संघ राज्य का विधानयुक्त शासन चलाना असंभव है तो वे घोषणा द्वारा अपने विवेक के कामों को आवश्यकतानुसार बढ़ा सकेंगे और संघ राज्य की किसी संस्था अथवा पदाधिकारी के सारे या थोड़े वहुत अधिकार स्वयं ले सकेंगे। इस प्रकार की घोषणा की अवधि छः महीने निर्धारित की गयी है। उसकी सूचना भारत-मंत्री को देनी होगी और बज़रिये उनके, पार्लमेंट की दोनों सभाओं को। इस प्रकार की घोषणा की अवधि, व्यवस्थापक मंडल के प्रस्तावों के आधार पर, एक एक साल करके अधिक से अधिक तीन बरस तक वढ़ायी जा सकेगी। तीन वरस के पश्चात् भारतवर्ष का शासन पुनः संघ शासन-विधान, अथवा संशोधित संघ शासन-विधान के अनुसार आरंभ होगा।

(६) प्रांतीय गवर्नर और असाधारण परिस्थितियाँ—शासन-विधान की ८८, ८९, ९० और ९३ धाराओं के अनुसार प्रांतीय गवर्नरों को असाधारण परिस्थिति संवंधी अधिकार दिये गये हैं। वे भी गवर्नर जनरलों के समान ऑर्डीनेंसें जारी कर सकते हैं, गवर्नरों के नियम वना सकते हैं, और वैधानिक गुत्थियों के समय प्रांत का शासन, घोषणा द्वारा, आवश्यकतानुसार अपने अधीन कर सकते हैं। इन सव

बातों की सूचना भारत-मंत्री को भेजनी पड़ती है और इसलिये भारत-मंत्री, पार्लमेंट की दोनों सभाओं को। ऑर्डिनेंसों और असाधारण परिस्थितियों एवं वैधानिक त्रुटियों संबंधी घोषणाओं के अंत करने की, प्रांतों के लिए प्रायः वही व्यवस्था की गयी है जो संघ राज्य के लिए।

देशी राज्य और कार्य-विभाजन— उपर्युक्त कार्य-विभाजन का संबंध संघ राज्य और ब्रिटिश भारतीय प्रांतों से ही है। देशी रियासतें अपने अपने प्रवेश-प्रार्थना-पत्र में संघ राज्य को कुछ अधिकार समर्पित करेंगी और शासन-विधान की १०१ धारा के अनुसार उन्हीं विषयों के संघीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा बनाये गये नियम उन पर लागू होंगे। संभव है कि भिन्न भिन्न रियासतें संघ राज्य को भिन्न भिन्न अधिकार समर्पित करें, किंतु किसी प्रवेश-प्रार्थना-पत्र को स्वीकार करने के पूर्व, सम्राट इस बात पर अवश्य विचार करेंगे कि संघ राज्य को सफल बनाने वाले कम से कम अधिकार समर्पित किये गये हैं अथवा नहीं। यदि नहीं तो वे किसी प्रवेश-प्रार्थना-पत्र को अस्वीकार कर सकते हैं। इस शर्त के कारण यह संभव है कि देशी राज्यों द्वारा समर्पित संघ राज्य के अधिकारों में अनुचित विभिन्नता न हो, पर कुछ विभिन्नता अवश्य होगी, यह बात निर्विवाद है। प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों में ही देशी नरेश यह वचन देंगे कि उनकी रियासतों में, सम्राट, गवर्नर जनरल, संघीय व्यवस्थापक मंडल, संघीय न्यायालय और अन्य संघीय पदाधिकारी उन सब अधिकारों का उपयोग कर सकेंगे, जो उन्हें नये शासन-विधान द्वारा प्राप्त हैं। शासन-विधान की १०७ धारा में कार्यक्षेत्र सीमा संबंधी झगड़ों के निपटाने की व्यवस्था की गयी है। यदि संघांतरित देशी राज्यों के नियम, ऐसे विषय के संघीय नियमों से असंगत हैं जिसे वे राज्य संघ राज्य को समर्पित कर चुके हैं तो उस विषय के संघीय नियम उच्चतर समझे जायँगे और देशी राज्यों के नियम असंगत अंश तक रद्द समझे जायँगे।

आर्थिक व्यवस्था

आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता—प्रत्येक संघ राज्य में कार्य-विभाजन इस उद्देश्य से किया जाता है कि संघ राज्य और उसके अंग अपने अपने कार्यक्षेत्र में अधिक से अधिक स्वतंत्र रह सकें और ऐसा

को एकता और विभिन्नता दोनों का लाभ मिल सके। किंतु संघ राज्य और उसके अंग अपने अपने कार्यक्षेत्र में तभी स्वतंत्र रह सकते हैं जब उनके अलग अलग कोष हों और अलग अलग आमदनी के ज़रिये। साधारणतया संघ राज्य में कार्य-विभाजन की ही समस्या जटिल होती है, पर आय-विभाजन की समस्या उससे भी अधिक जटिल होती है। भारतीय संघ राज्य में देशी रियासतों और उनके नाना प्रकार के अधिकारों और बंधनों के कारण आय-विभाजन की समस्या और भी जटिल हो गयी है। अतएव इस विषय की जाँच कई मनुष्यों और कमेटियों द्वारा की गयी। अंत में सर ऑटो नेमर की सिफ़ारिशों के आधार पर ३ जुलाई, सन् १९३६ को स-कौंसिल-सम्राट का ऑर्डर निकला, जिसके द्वारा शासन-विधान की आर्थिक व्यवस्था का अंतिम रूप निर्धारित किया गया है।

आर्थिक व्यवस्था के मूल सिद्धांत—शासन-विधान द्वारा निर्धारित और स-कौंसिल-सम्राट के ऑर्डर द्वारा संशोधित आर्थिक व्यवस्था के निम्नलिखित तीन मूल सिद्धांत हैं—

(१) संघ-सरकार की सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था—नये शासन-विधान की एक विशेषता, जैसा पहले बतलाया जा चुका है, सुदृढ़ केंद्रीय शासन की स्थापना है। केंद्रीय शासन तभी सुदृढ़ हो सकता है जब उसे अपने कोष के बारे में किसी का मुँह न देखना पड़े। संघ राज्य स्थापित होने और बर्मा के अलग होने के कारण केंद्रीय सरकार की आमदनी कुछ कम अवश्य हो गयी है, फिर भी संघीय शासन के अधीन ऐसे विषय रखे गये हैं जिनकी आमदनी बढ़ने की आशा है। इस प्रकार संघ राज्य की आर्थिक सुदृढ़ता की व्यवस्था की गयी है। संघ सरकार की आर्थिक स्थिरता और साख का क़ायम रखना गवर्नर जनरल का एक विशेष उत्तरदायित्व है।

(२) प्रांतीय सरकारों की आर्थिक स्वाधीनता—मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों से ही प्रांतों को कुछ अंश में आर्थिक स्वतंत्रता मिल चुकी थी, किंतु उनकी आय के ज़रिये इतने क्षीण थे और उनका कार्यक्षेत्र इतना वृहद् था कि प्रांतीय सरकारें राष्ट्र-निर्माण के कार्यों को संतोषपूर्वक न कर सकती थीं। नये शासन-विधान के अनुसार विशेष उत्तरदायित्व

सहित, प्रांतीय स्वराज्य स्थापित करने की व्यवस्था की गयी है। अतएव प्रांतों के आर्थिक अधिकार और आमदनी के ज़रिये बढ़ाये गये हैं। किंतु आर्थिक स्वाधीनता पूर्ण रूप से नहीं मिली है। विशेष उत्तरदायित्वों से परिमित होने के अतिरिक्त, प्रांतीय सरकारों की आमदनी के ज़रिये उनके बढ़ते हुये कार्य-क्षेत्र को देखते हुए संतोषप्रद नहीं हैं।

(३) व्यय से कम आय वाले प्रांतों की आर्थिक सहायता—भारतवर्ष के कुछ प्रांत ऐसे हैं जिनकी आय व्यय से कम है, जैसे पश्चिमोत्तर प्रदेश। नये निर्मित सिंध और उड़ीसा के प्रांत अभी इसी प्रकार के हैं। इनमें संतोषप्रद शासन स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि इनकी आर्थिक सहायता की जाय। प्रांतीय आमदनी के ज़रिये ऐसे नहीं हैं जिनकी आमदनी आसानी से बढ़ायी जा सके। अतएव संघीय सहायता ही एकमात्र ऐसा साधन है जिसके ज़रिये से व्यय से कम आय वाले प्रांतों की आर्थिक अवस्था संतोषप्रद हो सकती है। अतएव नये शासन-विधान में व्यय से कम आय वाले प्रांतों की आर्थिक सहायता का सिद्धांत स्वीकार किया गया है।

नव शासन-विधान की आर्थिक व्यवस्था—नये शासन-विधान के अनुसार आमदनी के ज़रिये चार मुख्य भागों में विभाजित किये गये हैं—

(अ) वे विषय जिनकी सारी आमदनी संघ-सरकार को मिलेगी, जैसे आयात-कर, रेलवे का मुनाफ़ा, मुद्रा और टकसाल, रिज़र्व बैंक का लाभ।

(ब) वे विषय जिनकी सारी आमदनी संघ-सरकार को मिलेगी और संघ-सरकार उस आमदनी का निर्धारित भाग प्रांतों में वितरण करेगी, जैसे इनकम-टैक्स और निर्यात-कर।

(स) वे विषय जिनके संबंध में संघ राज्य को अतिरिक्त-कर लगाने का अधिकार होगा, जैसे इनकम-टैक्स आदि। अतिरिक्त-कर की सारी आमदनी संघ राज्य के अधीन रखी गयी है।

(द) वे विषय जिनकी सारी आमदनी प्रांतीय सरकारों को मिलेगी जैसे मालगुज़ारी, जंगलात आदि।

संघ राज्य की आय—जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, संघ

राज्य की व्यवस्था के कारण संघ राज्य और प्रांतों का कार्यक्षेत्र पृथक पृथक कर दिया गया है। संघीय विषयों की सूची में कुछ ऐसे विषय हैं जिनको हम आमदनी के विषय कह सकते हैं। संघीय व्यवस्थापक मंडल इन विषयों के नियम बना सकता है। शासन-विधान की अन्य धाराओं के अंतर्गत इन विषयों की सारी आमदनी संघ-सरकार को मिलेगी। उनमें से निम्नलिखित विषय उल्लेखनीय हैं—

(१) मुद्रा और टकसाल; (२) डाकखाना, तारघर, टेलीफोन आदि; (३) आयात और निर्यात-कर; (४) पीने वाली शराब, अफ़ीम और शराब मिश्रित दवाइयों और शृंगार सामग्री को छोड़ कर भारत में बनने वाली तंबाकू तथा अन्य प्रकार की चीज़ों का टैक्स; (५) कॉरपोरेशन टैक्स; (६) नमक-कर; (७) कृषि संबंधी आय को छोड़ कर अन्य सभी प्रकार की आय का टैक्स; (८) कृषि-भूमि को छोड़ कर अन्य प्रकार की जायदाद पर उत्तराधिकार प्राप्त करने का टैक्स; (९) हुंडी, चिक, प्रॉमिसरी नोट, रसीद और इंस्योरेंस पॉलिसी पर लगने वाले स्टांप-कागज़ की आमदनी; (१०) रेल या हवाई जहाज़ द्वारा आने जाने वाले माल या मुसाफिर पर लगने वाला टैक्स या रेलों के महसूल और भाड़े पर लगने वाला टैक्स।

उपर्युक्त विषयों में से निर्यात-कर, आय-कर (इनकम-टैक्स) और विषय ८, ९ और १० को छोड़ कर शेष विषयों की सारी आमदनी संघ-सरकार को मिलेगी। इनकम-टैक्स और विषय ८, ९ और १० पर जो अतिरिक्त-टैक्स लगेगा, उसकी सारी आमदनी संघ-सरकार को मिलेगी। उन देशी रियासतों के शासक, जिनमें संघ-सरकार को इनकम-टैक्स वसूल करने का अधिकार नहीं है, संघ-सरकार को उतना धन देंगे जितना अतिरिक्त-कर द्वारा उनकी रियासतों से वसूल किया जा सकता हो। संघ राज्य के स्थापित होने के दस वरस वाद तक, देशी रियासतों पर कॉरपोरेशन-टैक्स न लगाया जायगा। दस वरस पश्चात् इस विषय का जो नियम वनेगा उसमें यह व्यवस्था की जायगी, कि टैक्स लगने के स्थान पर देशी नरेश संघ-सरकार को उतना धन दे सकें जितना इस टैक्स से उनके राज्य में वसूल किया जा सकता है।

इनकम-टैक्स की केवल ५० प्रतिशत् आमदनी संघ-सरकार के लिए निश्चित की गयी है। शेष ५० प्रतिशत् अंत में प्रांतों में विभाजित की

जायगी। प्रांतीय स्वराज्य के स्थापित होने के ५ वरस बाद तक यह संभव है कि प्रांतों को इनकम-टैक्स का पूरा हिस्सा न मिले। स-कौंसिल-सम्राट के ३ जुलाई, सन् १९३६ के ऑर्डर के अनुसार यह निश्चित कर दिया गया है कि इस काल में प्रांतों को इनकम-टैक्स का उतना ही भाग मिलेगा, जितना अतिरिक्त-कर सहित संघ-सरकार की आमदनी के १३ करोड़ होने के बाद शेष बचेगा। यदि प्रथम पाँच वरसों में संघ राज्य की स्थिति के कारण प्रांतों को अपना पूरा भाग न मिल सके तो स-कौंसिल-सम्राट इस अवधि को ५ वरस के लिए और बढ़ा सकते हैं। दूसरी अवधि में संघ-सरकार प्रति वर्ष प्रांतीय भाग का ⅕ हिस्सा कम लेगी, ताकि ५ वरस के पश्चात् प्रांतीय सरकारों को इनकम-टैक्स का ५० प्रतिशत् मिल सके। गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया है कि संघ-शासन की आर्थिक स्थिरता के लिए, वे किसी साल प्रांतीय भाग का वही भाग लें जो गत् वर्ष लिया गया था, अर्थात् उसमें कमी न करे। ऐसी अवस्था में दूसरी अवधि गवर्नर जनरल के निर्णय के अनुसार एक एक वरस तक बढ़ती जायगी। पर इस प्रकार का कोई निर्णय, गवर्नर जनरल संघ, प्रांतों और रियासतों के प्रतिनिधियों के परामर्श के बिना उस समय तक न करेंगे जब तक उन्हें यह विश्वास न हो जाय कि संघ राज्य की आर्थिक स्थिरता के लिए ऐसा करना आवश्यक है।

समस्त नमक-कर और निर्यात-कर यदि संघीय व्यवस्थापक मंडल चाहे तो प्रांतों में विभक्त किया जा सकता है, पर व्यवस्थापक मंडल द्वारा ऐसे प्रस्ताव के पास होने के पूर्व जूट (पाट) के निर्यात-कर को छोड़ कर इन मदों की सारी आमदनी संघ-सरकार को मिलेगी। जूट के निर्यात-कर का ६२½ प्रतिशत् प्रांतों में उसी अनुपात से बाँट दिया जायगा, जिस अनुपात से वहाँ पर जूट पैदा किया जाता हो।

प्रांतों की आय—संघीय विषयों की सूची की तरह प्रांतीय विषयों की सूची में भी कुछ ऐसे विषय हैं जो आमदनी के जरिये कहे जा सकते हैं। प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल को उनके विषय में क़ानून बनाने का पूर्ण अधिकार है। इन विषयों से जो आमदनी होगी वह पूर्णतया प्रांतीय सरकारों की होगी। उनमें से निम्नलिखित विषय उल्लेखनीय हैं—

(१) मालगुजारी; (२) प्रांत में बनने वाली पीने की शराब,

अफीम तथा अन्य मादक द्रव्यों का टैक्स; (३) शराब या अन्य मादक पदार्थों से बनी हुई दवाइयों या शृंगार-संबंधी वस्तुओं का टैक्स; (४) कृषि-संबंधी आय का टैक्स; (५) ज़मीन या मकान-संबंधी टैक्स; (६) खानों के अधिकार के लिए लगने वाला टैक्स; (७) व्यक्ति-टैक्स; (८) पेशा व व्यवसाय का टैक्स; जानवर या नाव आदि का टैक्स; (१०) मनोरंजन के साधन और जुआ आदि पर लगने वाला टैक्स; (११) संघीय सूची में दिये हुये विषयों के स्टांप कागज़ के अलावा अन्य विषयों पर लगने वाले स्टांप कागज़ की आमदनी; (१२) प्रांतीय अधिकार सीमा के अंतर्गत जलमार्ग से आने जाने वाले माल और मुसाफिरों पर लगने वाला टैक्स।

इन मदों के अतिरिक्त प्रांतीय सरकार की आमदनी के कुछ और ज़रिये भी हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) उपर्युक्त संघीय सूची की ८, ९, और १० मदों की आमदनी। इसके वसूल करने का अधिकार संघ-सरकार को है पर वसूल संबंधी खर्च को छोड़ कर जो कुछ बचेगा वह प्रांतीय सरकारों में बाँट दिया जायगा।

(२) इनकम-टैक्स का अधिक से अधिक ५० प्रतिशत् भाग। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है प्रांतीय स्वराज्य स्थापित होने के पाँच बरस बाद तक, संभव है प्रांतों को अपना पूरा पूरा हिस्सा न मिले। अतिरिक्त कर सहित संघ-सरकार की आमदनी, १३ करोड़ होने के पश्चात्, जो शेष बचेगा, वह भिन्न भिन्न प्रांतों में निम्नलिखित अनुपात में विभाजित किया जायगा—

मद्रास १५%, बंबई २०%, आसाम २%, बंगाल २०%, संयुक्त-प्रांत १५%, पंजाब ८%, बिहार १०%, मध्यप्रांत और बरार ५%, पश्चिमोत्तर प्रदेश १%, उड़ीसा २%, और सिंध २%।

यदि पाँच बरसों में प्रांतों को अपना पूरा भाग न मिल सके तो स-कौंसिल सम्राट इस अवधि को ५ बरस के लिए और बढ़ा सकते हैं। दूसरी अवधि के प्रत्येक वर्ष में संघ-सरकार को प्रांतीय भाग का $\frac{1}{5}$ हिस्सा कम करना पड़ेगा, जिससे ५ बरस पश्चात् प्रांतों को अपना सारा भाग मिल सके। आर्थिक अस्थिरता के भय के कारण, संघ, प्रांतों और

रियासतों के प्रतिनिधियों के परामर्श से गवर्नर जनरल यह निश्चित कर सकेंगे कि अमुक साल संघ-सरकार को प्रांतीय इनकम-टैक्स का वही भाग मिले, जो पूर्व वर्ष मिला था और इस निश्चय के अनुसार दूसरी अवधि एक एक बरस करके बढ़ती जायगी।

(३) ६२½ प्रतिशत् जूट का निर्यात-कर। यह उन प्रांतों में विभाजित कर दिया जायगा जहाँ जूट की खेती होती है।

(४) संघीय व्यवस्थापक मंडल के प्रस्ताव के अनुसार नमक-कर और निर्यात-कर की सारी आमदनी या उसका कुछ भाग प्रांतों को मिल सकता है।

(५) संघ-सरकार की सहायता। नेमर रिपोर्ट में यह सिफारिश की गयी थी कि संघ-सरकार कुछ प्रांतों को वार्षिक सहायता किया करे। ३ जुलाई, सन् १९३६ के सम्कौंसिल सम्राट के ऑर्डर में इस विषय की निम्नलिखित व्यवस्था की गयी है—

संयुक्त प्रांत २५ लाख रुपये सालाना ५ बरस तक; आसाम ३० लाख रुपये सालाना; पश्चिमोत्तर प्रदेश १०० लाख रुपये सालाना; पाँच बरस के पश्चात् इस प्रश्न पर पुनः विचार किया जायगा; उड़ीसा ४० लाख रुपये सालाना, प्रथम बरस में ७ लाख रुपये अतिरिक्त सहायता और इसके बाद चार बरस तक प्रति वर्ष ३ लाख रुपये सालाना अतिरिक्त सहायता; सिंध ११० लाख रुपये पहले साल, १०५ लाख रुपये सालाना ९ बरस तक, तत्पश्चात् ८० लाख रुपये सालाना २० बरस तक, तत्पश्चात् ६५ लाख रुपये सालाना ५ बरस तक, तत्पश्चात् ६० लाख रुपये सालाना ५ बरस तक, तत्पश्चात् ५५ लाख रुपये सालाना ५ बरस तक।

संघ राज्य और प्रांतों का व्यय—संघ राज्य और प्रांत अपनी अपनी आमदनी को अपने अपने विषयों के शासन में खर्च करेंगे। संघीय व्यय की मुख्य मुख्य मदें निम्नलिखित हैं—(१) जल, थल और नभ सेना, (२) संघीय सार्वजनिक ऋण का व्याज; (३) डाकखाना, तारघर, टेलीफोन, आदि; (४) शासन-संबंधी व्यय; (५) अवकाश-गृहीत पदाधिकारियों की पेंशनें, (६) ऋण-निवारण, और (७) प्रांतों की सहायता तथा ऋण-निवारण।

प्रांतीय व्यय की निम्नलिखित मदें उल्लेखनीय हैं—(१) पुलिस और जेल; (२) प्रांतीय ऋण का व्याज; (३) प्रांतीय नौकरियों की पेंशनें; (४) शिक्षा; (५) स्थानीय स्वराज्य; (६) कृषि की उन्नति; (७) निर्धन और बेकार मनुष्यों की सहायता; (८) सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा; (९) अस्पताल इत्यादि, इत्यादि।

उपर्युक्त आर्थिक व्यवस्था की आलोचना—उपर्युक्त आर्थिक व्यवस्था के चार मूल सिद्धांतों में से दो ही विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(१) संघ राज्य की आर्थिक स्थिरता, और

(२) प्रांतों की अधिक से अधिक आर्थिक स्वाधीनता।

इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त प्रथम सिद्धांत भली भाँति कार्यान्वित किया गया है। संघ राज्य की आर्थिक स्थिरता में किसी प्रकार की बाधा पड़ने की आशंका नहीं है। उसके व्यय-वृद्धि की अधिक संभावना नहीं है, पर उसकी आमदनी ऐसी है जो बढ़ायी जा सकती है। अतएव संघ राज्य की आर्थिक स्थिरता की संतोषपूर्वक व्यवस्था कर दी गयी है। पर प्रांतों की व्यवस्था इतनी संतोषजनक नहीं है। उन्हें आर्थिक स्वाधीनता वास्तव में किस हद तक मिली है, यह बतलाना इस समय संभव नहीं। संघीय सहायता के कारण, जिसका कोई मूल सिद्धांत नहीं है, वे किसी न किसी हद तक संघ-सरकार द्वारा अवश्य प्रभावित होंगे। फिर उनकी आमदनी के ज़रिये ऐसे हैं जिनसे आय-वृद्धि की अधिक आशा नहीं है वरन् यह संभव है कि उनकी आमदनी क्रमशः कम होती जाय। माल-गुज़ारी का बढ़ना असंभव है। कांग्रेसी मंत्रि-मंडल उसके घटाने के पक्ष में है। उत्तराधिकार के टैक्स और कृषि-आय-संबंधी टैक्स से अधिक मिलने की आशा नहीं है। मादक वस्तु-संबंधी कर भी कांग्रेस आंदोलन के कारण क्रमशः घटता ही जायगा। अतएव प्रांतीय आमदनी के ज़रिये ऐसे हैं जिनसे आय-वृद्धि की आशा कम है। पर प्रांतीय खर्च उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा। सारे राष्ट्र-निर्माण विभाग प्रांतीय सरकारों के अधीन हैं। शिक्षा, स्थानीय स्वराज्य, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि ऐसे विषय हैं जिनमें भारतीय प्रांतों को बहुत कुछ करना है। अतएव यह संभव है कि कुछ दिनों के पश्चात् प्रांतीय आमदनी, खर्च को देखते हुए कम हो। ऐसी

परिस्थिति में प्रांतीय स्वराज्य का क्या रूप होगा, यह अभी ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता।

सार्वजनिक ऋण—उपर्युक्त टैक्सों के अतिरिक्त नये शासन-विधान के अनुसार संघ राज्य और प्रांतों को सार्वजनिक ऋण द्वारा अपनी आमदनी बढ़ाने का अधिकार दिया गया है। सन् १९३५ के पूर्व, भारतीय आमदनी की जमानत पर स-कौंसिल भारत-मंत्री को ही (Sterling loan)[1] लेने का अधिकार था। नये शासन-विधान की ३१५ धारा के अनुसार प्रांतीय स्वराज्य के स्थापित होने के बाद से संघ राज्य स्थापित होने तक भारत-मंत्री को ही (Sterling loan) लेने का अधिकार होगा। इनके अतिरिक्त संघ-सरकार को संघीय आमदनी की जमानत पर उस सीमा के अंदर ऋण लेने का अधिकार दिया गया है जो समय समय पर संघीय व्यवस्थापक मंडल निर्धारित करे और प्रांतीय सरकारों को उस सीमा के अंदर, जो समय समय पर प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल निर्धारित करें। संघ-सरकार अपनी शर्तों पर प्रांतीय सरकारों को ऋण दे सकती है। संघ-सरकार की अनुमति बिना प्रांतों को देश के बाहर ऋण लेने का अधिकार नहीं दिया गया है। संघ-सरकार की अनुमति के बिना प्रांतों को उस समय तक दूसरा ऋण लेने का अधिकार नहीं है जब तक संघ-सरकार का ऋण अथवा वह ऋण जिसको संघ-सरकार ने जमानत की है अदा न हो जाय। संघ-सरकार को अपनी शर्तों पर ऐसी अनुमति देने का अधिकार दिया गया है। पर्याप्त कारण होने पर, संघ-सरकार को उपर्युक्त अनुमति देने से इनकार न करना चाहिये।

संघ राज्य और देशी रियासतों का आर्थिक संबंध—संघ राज्यों की आर्थिक व्यवस्था का निश्चित करना साधारणतया एक कठिन काम है। भारतीय प्रांतों और संघ राज्य के संबंध ही के कारण यह समस्या काफ़ी जटिल थी। देशी रियासतों और उनके नाना प्रकार के अधिकारों और बंधनों के कारण भारतीय संघ राज्य में यह समस्या और भी जटिल हो गयी है। बटलर कमेटी के पश्चात्, पील कमेटी ने

---

(१) भारत-मंत्री Sterling loan तभी ले सकेंगे जब पार्लमेंट इसके लिए एक प्रस्ताव पास करे। पास किये गये प्रस्ताव की शर्तों के अनुसार ही ऋण लिया जायगा।

इस विषय की जाँच की और अंत में डैविड्सन कमेटी (Davidson Committee) की सिफ़ारिशों के अनुसार नये शासन-विधान की १४५, १४६, १४७, १४८ और १४९, धाराएँ निश्चित की गयी हैं। उनका संबंध संघ राज्य और देशी रियासतों की आर्थिक व्यवस्था से है।

संघ राज्य और देशी रियासतों की आर्थिक समस्या के जटिल होने के तीन मुख्य कारण हैं—

(१) वे विषय जिन पर संघीय व्यवस्थापक मंडल को टैक्स लगाने का अधिकार दिया गया है।

(२) वे रकमें जो देशी रियासतें ख़िराज के रूप में भारत-सरकार को देती आयी हैं।

(३) वे रकमें जो संधियों की शर्तों के अनुसार, देशी रियासतों को मिलनी चाहियें, पर जो कार्यरूप में अब तक सुप्तावस्था में रही हैं।

(१) संघीय आर्थिक विषय—इनमें से चार विषय विशेषतया उल्लेखनीय हैं—आयात-टैक्स, नमक-टैक्स, आय-टैक्स और कॉरपोरेशन-टैक्स। आयात-टैक्स के विषय में देशी नरेशों को हमेशा से शिकायत रही है। उनका कहना है कि आयात-कर ब्रिटिश भारत में समस्त आयात पर वसूल किया जाता है और उसकी सारी आमदनी ब्रिटिश भारत को मिलती है। पर आयात की वस्तुएँ रियासतों में भी इस्तेमाल की जाती हैं। अतएव वे भी आयात-कर के हिस्सेदार हैं। वे अपने बंदरगाहों पर भी कब्ज़ा करना चाहते हैं, और आयात-कर वसूल करने का अधिकार माँजते हैं। डैविड्सन कमेटी ने इस विषय की जाँच की। उसके मतानुकूल देशी रियासतों की माँग अनुचित न थी। पर संघ-सरकार की आर्थिक स्थिरता के कारण देशी रियासतों को अपने बंदरगाहों का और उनमें आयात-कर के वसूल करने का अधिकार देना ठीक न था। अतएव उसने सिफ़ारिश की कि देशी रियासतों को आयात-कर का उतना भाग अवश्य मिलना चाहिये, जितना उनकी रियासतों में खपने वाले उस माल पर वसूल होता हो जो उनके बंदरगाहों से भारतवर्ष में आता है। नमक-कर के विषय में उसकी सिफ़ारिश थी कि काठियावाड़ और कच को नमक बनाने का पूर्ण अधिकार दिया जाय, पर इस शर्त पर कि संघीय नमक-कर संघीय अफ़सरों द्वारा उसी जगह

वसूल कर लिया जाय जहाँ नमक बनाया जाता है। नये शासन-विधान में इन विषयों की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। शायद नरेशों के प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों के स्वीकार किये जाने के पहले उपर्युक्त सारी बातें तय कर ली जायँगी।

आमदनी-कर और कॉरपोरेशन-टैक्स की व्यवस्था शासन-विधान में ही कर दी गयी है। संघ-सरकार को देशी रियासतों में साधारणतया आय-कर के वसूल करने का अधिकार न होगा। पर यदि इस विषय का कोई अतिरिक्त-कर लगाया जायगा तो देशी नरेश उतनी रकम संघ-सरकार को देंगे जितनी अतिरिक्त-कर से उनकी रियासतों में वसूल की जा सकती हो। कॉरपोरेशन-टैक्स के विषय में शासन-विधान की १३९ धारा में यह निश्चित किया गया है कि दस बरस तक यह टैक्स किसी देशी रियासत से वसूल न किया जायगा और इसके बाद इस विषय का जो नियम बनेगा उसमें यह व्यवस्था की जायगी, कि देशी नरेश संघ-सरकार को उतनी रकम देकर अपनी रियासतों को इस नियम से मुक्त रख सकें, जितनी इस कर से उनकी रियासतों में वसूल हो सकती है।

(२) देशी रियासतों द्वारा दिये जाने वाले ख़िराज—बहुतेरी रियासतें ब्रिटिश गवर्नमेंट को बहुत पहले से कुछ न कुछ ख़िराज देती आयी हैं। यह रकम भिन्न भिन्न रियासतों के लिए भिन्न भिन्न है। डैविड्सन कमेटी में इस विषय की भी जाँच की। उसने देशी रियासतों द्वारा दिये जाने वाले ख़िराज को पाँच मुख्य भागों में विभाजित किया है—

(१) वह रकम को ब्रिटिश गवर्मेंट को सिरताज मानने के कारण देनी पड़ती है।

(२) वह रकम जो सैनिक सहायता के बदले या सहायक सेना न रखने के कारण देनी पड़ती है।

(३) वह रकम जो सहायक सेना के भरण-पोषण के लिए देनी पड़ती है।

(४) वह रकम जो प्रदेश बढ़ाने अथवा रियासत पर उत्तराधिकार पाने के लिए देनी पड़ती है। और

(५) वह रकम जो किसी विशेष स्थानीय काम के कारण देनी पड़ती है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी रकमें भी हैं जो देशी नरेश संधियों के आधार पर देते हैं, और कुछ ऐसी भी जो ब्रिटिश सरकार को विजेता होने के कारण मिलती हैं। डैविड्सन कमेटी ने सिफ़ारिश की कि नंबर ४ को छोड़ कर उपर्युक्त सारे ख़िराज माफ कर दिये जायँ। पील कमेटी के भी विचार ऐसे ही थे। इसके अतिरिक्त पील और डैविड्सन दोनों कमेटियों ने यह सिफ़ारिश की कि जिन रियासतों का ख़िराज उनकी आमदनी के पाँच प्रतिशत् से अधिक है, उनका ख़िराज माफ़ कर दिया जाय। इन्हीं सिफ़ारिशों की व्यवस्था नये शासन-विधान की १४६ और १४७ धाराओं में की गयी है। वे ख़िराज जो नये शासन-विधान के बनने के पूर्व भारतीय आमदनी में शामिल थे, संघ राज्य के बनने के पश्चात् संघ-सरकार को मिलेंगे। पर सम्राट को यह अधिकार होगा, कि किसी समय वे संपूर्ण ख़िराज या उसका एक अंश माफ़ कर सकें। किसी राज्य के संघ राज्य में शामिल होने के पश्चात् अधिक से अधिक २० बरस में राज्य द्वारा दी जाने वाली सारी नक़दी रकमों को सम्राट माफ़ कर सकेंगे। किंतु यह माफ़ी तभी मिलेगी जब प्रांतीय सरकारों को आमदनी के टैक्स का भाग मिलने लगे।

देशी रियासतों को मिलने वाली रक़में—देशी नरेश भी कुछ ऐसी रकमों का दावा पेश करते हैं जो उनको मिलनी चाहियें, जैसे आयात-कर का भाग, नमक-कर का भाग, नमक न बनाने का हरजाना, मुफ़्त डाक ले जाने के अधिकार को छोड़ने का हरजाना, अपनी टकसाल न रखने का हरजाना, इत्यादि इत्यादि। इनमें से सबसे जटिल समस्या उन प्रदेशों की है, जिन्हें देशी नरेशों ने फौज के खर्च के लिए भारत-सरकार के अधीन कर दिया था। उन पर क़ानूनी दृष्टि से भारत-सरकार का अधिकार नहीं है। अतएव देशी नरेशों ने उनके वापस किये जाने की माँग उपस्थित की है। उन प्रदेशों का वापस किया जाना असंभव है और देशी नरेशों के अधिकारों की अवहेलना करना अन्यायपूर्ण। अतएव शासन-विधान में इसकी भी व्यवस्था की गयी है। देशी नरेशों को अपने अधिकारों के कारण कितनी रकम मिलनी चाहिये, इसका हिसाब लगाया जायगा। देशी नरेशों को ख़िराज आदि के रूप में कितना रुपया देना चाहिये, इसका भी हिसाब लगाया जायगा और दोनों का मीज़ान मिला कर, देशी रियासतों को जितना मिलना चाहिये, वह उनको दिया जायगा।

इस प्रकार डैविड्सन कमेटी के हिसाब के अनुसार लगभग एक करोड़ रुपया सालाना, संघ राज्य की ओर से देशी रियासतों को मिलेगा।

संपूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर दृष्टिपात—इस परिच्छेद में जिस आर्थिक व्यवस्था की विवेचना की गयी है, वह जटिल है, इसमें संदेह नहीं। अतएव इसके समाप्त करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है, कि संपूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर दृष्टिपात कर लिया जाय। इस व्यवस्था का संबंध संघ राज्य, ब्रिटिश भारतीय प्रांत और देशी रियासतों से है। संघ राज्य की आर्थिक स्थिरता में किसी प्रकार की बाधा पड़ने की आशंका नहीं है। संभवतः उसकी आमदनी उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी, और उसके ख़र्च में अधिक वृद्धि न होगी। प्रांतों की भी अवस्था पहले से अच्छी हो जायगी। उनकी आमदनी कुछ बढ़ जायगी और उनके आर्थिक अधिकारों की वृद्धि होगी। पर उनका ख़र्च ऐसा है जो उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा। साथ ही इस बात की भी आशंका है कि सुधार-आंदोलनों के कारण कुछ मदों से उनकी आमदनी क्रमशः कम होती जाय। ऐसी अवस्था में प्रांतों की दशा चिंताजनक होगी, इसमें संदेह नहीं।

देशी रियासतों को उपर्युक्त व्यवस्था के कारण लाभ ही पहुँचेगा, हानि नहीं। उन्हें कॉरपोरेशन-टैक्स और आय-कर के अतिरिक्त-टैक्स को छोड़ कर संघ-सरकार को और कोई कर न देना पड़ेगा। संघ-सरकार लगभग एक करोड़ सालाना उन्हें उनके अधिकारों के बदले देगी और उनके ख़िराज माफ़ कर दिये जायँगे। इस प्रकार संघ राज्य में शामिल होकर देशी रियासतें, किसी प्रकार का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व लिये बिना, ब्रिटिश भारतीय प्रांतों के टैक्सों के बल पर, संघ राज्य के सभी लाभ उठावेंगी। फिर भी वे शामिल होने के पूर्व कुछ और रिआयतें चाहती हैं। संभव है उनकी माँग पुनः स्वीकार की जाय। सन १९३५ के संघ राज्य द्वारा स्थापित भारतवर्ष की राजनीतिक एकता का मूल्य ब्रिटिश भारत और उसके निवासियों के लिए वास्तव में अति अधिक होगा और अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी शायद उन्हें यह मूल्य देना पड़ेगा।

रिजर्व बैंक—इस परिच्छेद के समाप्त करने के पूर्व रिजर्व बैंक की व्यवस्था पर दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत होता है। पूर्व परिच्छेदों में हम इस संबंध में कुछ लिख चुके हैं। वहाँ पर हमने यह बतलाया

था कि किस प्रकार अध्यक्ष पटेल के निर्णय के कारण, सरकार ने रिज़र्व बैंक संबंधी बिल का विचार अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया था। संघ राज्य स्थापित होने के पूर्व ब्रिटिश सरकार के इच्छानुकूल यह आवश्यक था कि नोट निकालने, आर्थिक स्थिरता संबंधी पर्याप्त सोना रखने आदि के लिए भारतवर्ष में एक रिज़र्व बैंक स्थापित किया जाय। अतएव सन् १९३४ में भारतीय व्यवस्थापक मंडल ने रिज़र्व बैंक संबंधी एक्ट पास किया। उसके अनुसार सन् १९३५ में रिज़र्व बैंक स्थापित हो गया है। यह हिस्सेदारों का बैंक है। इसका कार्य-संचालन एक केंद्रीय बोर्ड को सौंपा गया है, जिसके निम्नलिखित सदस्य हैं—

(१) अपने विवेक के अनुसार गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त किये गये गवर्नर और डिप्टी गवर्नर।

(२) व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत चार संरक्षक (डाइरेक्टर)। और

(३) हिस्सेदारों द्वारा चुने गये आठ संरक्षक।

शासन-विधान की १५२ धारा के अनुसार गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार रिज़र्व बैंक के गवर्नर और डिप्टी गवर्नर को बरख़ास्त कर सकते हैं, और व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार मनोनीत संरक्षकों को। केंद्रीय बोर्ड को भी वे अपने विवेक के अनुसार तोड़ सकते हैं। शासन-विधान की १५३ धारा के अनुसार गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के विना भारतीय व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा में कोई ऐसा प्रस्ताव नहीं पेश किया जा सकता, जिसका संघ राज्य के मुद्रा या रिज़र्व बैंक के संगठन एवं उसके कार्य पर कुप्रभाव पड़ता हो।

दसवाँ परिच्छेद

संघ-सरकार और संघीय व्यवस्थापक मंडल

गवर्नर जनरल और वाइसराय—गवर्नर जनरल का आदेशपत्र—संघ-शासन में द्वैध शासन-प्रणाली—गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व—गवर्नर जनरल के अधिकार—शासन-संबंधी अधिकार; व्यवस्थापक मंडल संबंधी अधिकार; आर्थिक अधिकार; वाइसराय के अधिकार; अधिकारों की सीमा—नव शासन-विधान में गवर्नर जनरल का स्थान—विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार—संघीय व्यवस्थापक मंडल—कौंसिल ऑफ़ स्टेट का संगठन—हाउस ऑफ़ असेंबली का संगठन—सदस्यता संबंधी योग्यताएँ और अयोग्यताएँ—व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों के अधिकार—सभापति और प्रमुख—संघीय व्यवस्थापक मंडल के अधिकार—व्यवस्थापक मंडल की कार्य-प्रणाली—व्यवस्थापक मंडल के अधिकारों की सीमा—व्यवस्थापक मंडल में देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का संबंध—संघ शासन-विधान पर दृष्टिपात।

गवर्नर जनरल और वाइसराय—भारतीय शासन में गवर्नर जनरल और वाइसराय के दो अलग अलग पद हैं। साधारणतया इन दोनों पदों में अधिक भेदभाव नहीं किया जाता। प्रायः गवर्नर जनरल के स्थान में वाइसराय और वाइसराय के स्थान में गवर्नर जनरल शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। संघ राज्य के स्थापित होने पर भी यह भेदभाव इसी प्रकार बना रहेगा, पर प्रचलित प्रथा के अनुसार, सम्राट को इन दोनों पदों पर एक ही व्यक्ति के नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। गवर्नर जनरल की हैसियत में वह पदाधिकारी, सम्राट की ओर से संघ राज्य का सर्वोच्च शासक होगा और अपने काम को मर्यादापूर्वक करने के लिए उसे निर्धारित वेतन, भत्ता[1] आदि मिलेगा।

---

(१) गवर्नर जनरल का वेतन २५०,००० रुपया सालाना निश्चित किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्हें स-कौंसिल-सम्राट द्वारा निर्धारित भत्ता भी मिलेगा।

वाइसराय की हैसियत में वह उन देशी नरेशों की देखभाल करेगा, जो संघ राज्य में शामिल न होंगे और उन विषयों की भी जो सम्राट उसे समर्पित करें, पर जिन पर गवर्नर जनरल की हैसियत से उसका कोई अधिकार न हो। गवर्नर जनरल की हैसियत में वह सम्राट की ओर से काम करेगा और वाइसराय[1] की हैसियत में सम्राट का प्रतिनिधि हो कर।

गवर्नर जनरल का आदेशपत्र—प्रचलित प्रथा के अनुसार गवर्नर जनरल को अपनी नियुक्ति के समय एक आदेशपत्र (Instrument of Instructions) मिलेगा जिसमें इस बात का उल्लेख होगा कि वे अपने अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार करें। ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के विभिन्न देशों के उत्तरदायी शासन के विकास में, इन आदेशपत्रों का स्थान बड़े महत्व का सिद्ध हुआ है। नये शासन-विधान के पूर्व, ये आदेशपत्र, मंत्रि-मंडल के परामर्श से सम्राट द्वारा ही दिये जाते थे। पर सन् १९३५ के एक्ट के अनुसार भारतवर्ष के लिए एक नवीन पद्धति चलायी गयी है। आदेशपत्रों और उनके संशोधनों का मसविदा, भारत-मंत्री पार्लमेंट में पेश करेंगे और जब तक पार्लमेंट की दोनों सभाएँ सम्राट से उनके जारी करने की प्रार्थना न करें तब तक उन पर कोई कार्रवाई न की जायगी। पार्लमेंट के इस अपूर्व निरीक्षण का कारण भारतीय परिस्थिति बतलायी जाती है।

गवर्नर जनरल के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वे आदेशपत्र के अनुसार ही काम करें। नये शासन-विधान की १३ (२) धारा में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि गवर्नर जनरल आदेशपत्र के प्रतिकूल कोई काम करेंगे, तो आदेशपत्र के आधार पर वह काम गलत न ठहराया जा सकेगा। गवर्नर जनरल के आदेशपत्र की दो महत्वपूर्ण धाराओं का भावार्थ इस प्रकार है—

(अ) मंत्रिमंडल निर्मित करते समय, गवर्नर जनरल उस व्यक्ति के परामर्श से मंत्रियों को नियुक्त करेंगे, जिसके साथ, उनके विचार में व्यवस्थापक सभा का बहुमत हो। वे संघांतरित रियासतों और अल्प-

---

(१) शासन-विधान में कहीं भी वाइसराय शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। "सम्राट के प्रतिनिधि" इसी वाक्य का प्रयोग किया गया है। किंतु प्रचलित होने के कारण "सम्राट के प्रतिनिधि" के स्थान पर वाइसराय शब्द का प्रयोग किया जाना अनुचित नहीं प्रतीत होता।

संख्यक जन-समुदायों के भी प्रतिनिधि, जहाँ तक हो सके, शामिल करने की कोशिश करेंगे और इस बात का ध्यान रखेंगे कि समस्त मंत्रिमंडल में व्यवस्थापक सभा का विश्वास हो। वे मंत्रिमंडल के संयुक्त उत्तरदायित्व पर ज़ोर देंगे।

(ब) गवर्नर जनरल अपने अधिकारों का प्रयोग मंत्रियों के परामर्श से उस समय तक करेंगे जब तक उनकी विशेष जिम्मेदारियों में कुछ अड़चन न पड़ती हो। ऐसे अवसरों पर, मंत्रियों के परामर्श के प्रतिकूल भी, वे व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार कार्य-संपादन करेंगे, पर इस बात का ध्यान रखते हुए कि उनके विशेष उत्तरदायित्व के सहारे, मंत्री लोग उस उत्तरदायित्व से मुक्त न हो जायँ जो वास्तव में उनका है।

संघ-शासन में द्वैध शासन-प्रणाली—बहुत दिनों से भारतवासी उत्तरदायी शासन की माँग उपस्थित करते आये हैं। ब्रिटिश सरकार ने भी उनकी माँग के औचित्य को स्वीकार कर लिया है और सन् १९१७ की घोषणा के अनुसार, वह शनैः शनैः भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन स्थापित करने का वचन दे चुकी है। सन् १९१९ के सुधारों के अनुसार द्वैध शासन-प्रणाली द्वारा प्रांतों में उत्तरदायी शासन आरंभ किया गया था, और कुछ हद तक वह सफल भी हुआ था। पर भारतवासी इतने ही उत्तरदायी शासन से संतुष्ट न थे। वे चाहते थे कि केंद्रीय शासन में भी उत्तरदायी सरकार स्थापित की जाय। गोलमेज़ परिषदों में इस माँग पर काफ़ी ज़ोर दिया गया और अंत में केंद्रीय सरकार अर्थात् संघ-सरकार में उत्तरदायी शासन स्थापित करने का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया। नये शासन-विधान के अनुसार, संघ शासन में द्वैध शासन-प्रणाली[1] के अनुसार उत्तरदायी शासन स्थापित होगा। पर इसका उल्लेख स्वयं एक्ट में नहीं किया गया है। उत्तरदायी शासन स्थापित होने

---

(१) सन् १९३५ के शासन-विधान में कहीं पर द्वैध शासन-प्रणाली (Diarchy) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। किंतु मंत्रियों और गवर्नर जनरल के परामर्शदाताओं के विभिन्न कार्य-क्षेत्रों को देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा, कि नये एक्ट के अनुसार संघ-सरकार प्रायः उसी प्रकार की होगी, जिस प्रकार की सन् १९१९ के एक्ट के अनुसार प्रांतीय सरकारें थीं।

का मूल आधार है गवर्नर जनरल का आदेशपत्र जिसके महत्वपूर्ण अंशों का भावार्थ ऊपर दिया जा चुका है।

नये शासन-विधान के अनुसार देश-रक्षा अर्थात् सेना, ईसाई धर्म, पर-राष्ट्र-संबंध (भारतीय संघ राज्य और साम्राज्य के अन्य राज्यों के पारस्परिक संबंध को छोड़ कर) और असभ्य जातियों की देखभाल आदि संरक्षित विषय निश्चित किये गये हैं। इन विषयों का शासन गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार करेंगे, पर भारत-मंत्री के निरीक्षण में और उनके आदेशानुकूल। शासन-विधान द्वारा, इन विषयों के शासन के लिए उन्हें अधिक से अधिक तीन परामर्शदाता नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है जिनकी नौकरी की शर्तें, वेतन आदि स-कौंसिल-सम्राट निश्चित करेंगे। संघ राज्य की आर्थिक स्थिरता और साख को सुरक्षित रखने की दृष्टि से. (यह उनकी एक विशेष ज़िम्मेदारी है) गवर्नर जनरल को एक आर्थिक परामर्शदाता नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है[1]। उसकी नौकरी की शर्तें और वेतन आदि स्वयं गवर्नर जनरल निश्चित करेंगे। यह अधिकारी गवर्नर जनरल को आर्थिक विषयों में सलाह देगा, और संघ-सरकार को भी, यदि उसकी सलाह ली जाय। पहले आर्थिक परामर्शदाता को गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार नियुक्त करेंगे, किंतु इसके बाद मंत्रियों का परामर्श लेना आवश्यक होगा।

संरक्षित विषयों और अपनी विशेष जिम्मेदारियों को छोड़कर संघ-सरकार के अन्य विपयों का शासन गवर्नर जनरल मंत्रिमंडल की सहायता और परामर्श से करेंगे। मंत्रिमंडल के अधिक से अधिक दस सदस्य होंगे। उनको स्वयं गवर्नर जनरल नियुक्त करेंगे। शासन-विधान की १० वीं धारा के अनुसार. गवर्नर जनरल किसी व्यक्ति को मंत्री के पद पर नियुक्त कर सकते हैं, परंतु इस शर्त पर कि नियुक्ति के पश्चात् छः महीने के अंदर वह संघीय व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा का सदस्य बन जाय। शासन-विधान की इस धारा के अनुसार, वह मनुष्य जो व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा का सदस्य नहीं है, छः महीने से अधिक

(१) कुछ लोगों को आशा थी कि इस पद पर कोई भारतवासी नियुक्त किया जायगा। पर गवर्नर जनरल ने इस पद पर लंदन स्कूल ऑफ़् इकॉनामिक्स के प्रसिद्ध अध्यापक डाक्टर ग्रिगोरी को नियुक्त किया है।

मंत्री नहीं रह सकता। मंत्रियों का कार्य-काल गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर होगा। अपने विवेक के अनुसार, गवर्नर जनरल जब चाहें, मंत्रिमंडल में सभापति का आसन ग्रहण कर सकेंगे। शासन-विधान की उपर्युक्त व्यवस्था में उत्तरदायी शासन की सभी बातें नहीं पायी जातीं। उसका वास्तविक अर्थ समझने के लिए हमें गवर्नर जनरल के आदेशपत्र पर भी ध्यान देना चाहिये। शासन-विधान और आदेशपत्र को साथ साथ पढ़ कर ही मंत्रिमंडल की नियुक्ति और जिम्मेदारी की सच्ची व्यवस्था जानी जा सकती है। आदेशपत्र की इस संबंध की धारा इस प्रकार है—

"मंत्रिमंडल निर्मित करते समय, गवर्नर जनरल उस व्यक्ति के परामर्श से मंत्रियों को नियुक्त करेंगे, जिसके साथ, उनके विचार में व्यवस्थापक सभा का बहुमत हो। वे संघांतरित देशी नरेशों और अल्प-संख्यक जन-समुदायों के प्रतिनिधि, जहाँ तक हो सके, शामिल करने की कोशिश करेंगे और इस बात का ध्यान रखेंगे कि समस्त मंत्रिमंडल में व्यवस्थापक मंडल का विश्वास हो। वे मंत्रिमंडल के संयुक्त उत्तरदायित्व पर भी जोर देंगे"।

मंत्रियों का वेतन संघीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा निर्धारित किया जायगा और वह किसी मंत्रिमंडल के कार्य-काल में बदला न जा सकेगा।

नये शासन-विधान के अनुसार प्रांतों को द्वैध शासन-प्रणाली से मुक्ति मिल गयी है। इसमें संदेह नहीं, कि प्रांतीय अनुभव के आधार पर द्वैध शासन-प्रणाली के पक्ष में अधिक कहना संभव नहीं। पर संघ-सरकार में उत्तरदायी शासन स्थापित करने और साथ ही साथ ब्रिटिश आधिपत्य बनाये रखने का द्वैध शासन-प्रणाली ही एकमात्र साधन था। इसी लिए दोषयुक्त होते हुए भी वह स्वीकार की गयी है। संभव है देश की राजनीतिक प्रगति के कारण, वह संघ-शासन में, सन् १९१९ के सुधारों की अपेक्षा कम दोषयुक्त सिद्ध हो। पर उसकी सफलता की जिम्मेदारी बहुत कुछ गवर्नर जनरल पर होगी। यदि वे आदेशपत्र के अनुसार मंत्रियों को नियुक्त करेंगे और मंत्रियों और परामर्शदाताओं का विचार विनिमय करा के शासन संबंधी नीति निर्धारित करेंगे तो संभव है कि संघ-सरकार में द्वैध शासन-प्रणाली अधिक दोषपूर्ण न सिद्ध हो और कालांतर में ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अन्य राज्यों के समान भारतवर्ष में भी उत्तरदायी शासन स्थापित हो जाय।

गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व—शासन-विधान की १२ वीं धारा में गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व का उल्लेख किया गया है। वे निम्नलिखित हैं—

(१) भारतवर्ष या उसके किसी भाग में शांति भंग करने वाले खतरों का निवारण।

(२) संघ-सरकार की आर्थिक स्थिरता और साख का सुरक्षित रखना।

(३) अल्प-संख्यक जन-समुदायों के उचित हितों की रक्षा करना।

(४) सार्वजनिक नौकरियों के सदस्यों और उनके आश्रितों को शासन-विधान द्वारा दिये गये अधिकारों को दिलाना और उनके उचित अधिकारों की रक्षा करना।

(५) व्यापारिक और जातिगत् भेदभाव संबंधी उन नियमों पर अमल करना, जिनकी व्यवस्था शासन-विधान के पाँचवें भाग के तीसरे अध्याय में की गयी है।

(६) बर्मा और युनाइटेड किंगडम के बने हुए आयात-माल के संबंध में ऐसे कामों को रोकना, जिनके कारण इस माल के साथ भेदभाव संबंधी नीति का व्यवहार होता हो।

(७) देशी रियासतों के अधिकारों और उनके नरेशों के अधिकारों तथा मर्यादा की रक्षा करना।

(८) इस बात का प्रबंध करना कि अपने विवेक एवं व्यक्तिगत् निर्णय द्वारा किये जाने वाले कामों के संपादन में किसी अन्य विषय संबंधी कार्य से कुछ बाधा न पड़े।

उपर्युक्त विषयों के शासन में, गवर्नर जनरल अपनी नीति और कार्यों के लिए भारत-मंत्री के प्रति उत्तरदायी होंगे, और अपने व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार कार्य-संपादन करेंगे।

गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व संरक्षित और हस्तांतरित दोनों प्रकार के विषयों में है। उनका कोई पृथक विभाग नहीं है। उनके अर्थ की विस्तृत व्याख्या आदेशपत्र में की गयी है, किंतु उनका वास्तविक रूप

बहुत अंश में भारतीय राजनीतिक परिस्थिति पर निर्भर होगा। राजनीतिक दबाव के कारण, संभव है, उनका विस्तार संकुचित हो जाय, किंतु यह भी संभव है कि राजनीतिक दबाव के अभाव में, उनका विस्तार भयंकर रूप धारण कर ले।

गवर्नर जनरल के अधिकार—नये शासन-विधान में, उत्तरदायी शासन की व्यवस्था होते हुए गवर्नर जनरल को अनेक महत्वपूर्ण अधिकार दिये गये हैं। हम उनको निम्नलिखित चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) शासन-संबंधी अधिकार—गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार मंत्रियों को नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। मंत्री लोग उसी समय तक अपने पद पर रह सकेंगे जब तक गवर्नर जनरल चाहें। आदेशपत्र के कारण शायद इस अधिकार का उपयोग उस प्रकार न हो सके जैसा उपर्युक्त भाषा से विदित होता है। अपने विवेक के अनुसार गवर्नर जनरल मंत्रिमंडल के अधिवेशनों में सभापति का आसन ग्रहण कर सकेंगे। संरक्षित विषयों के शासन के लिए, गवर्नर जनरल को तीन परामर्शदाताओं के नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। वे अपने कामों के लिए केवल गवर्नर जनरल के प्रति उत्तरदायी होंगे, परंतु आदेशपत्र के कारण, यह संभव है कि गवर्नर जनरल, मंत्रिमंडल और परामर्शदाताओं में विचार विनिमय होता रहे। गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार प्रथम आर्थिक परामर्शदाता के नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है और तत्पश्चात् मंत्रियों का परामर्श लेकर। गवर्नर जनरल को व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार भारतीय एडवोकेट जनरल के नियुक्त और बरखास्त करने का अधिकार दिया गया है। इनके अतिरिक्त गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार रिज़र्व बैंक के गवर्नर, डिप्टी गवर्नर और चार डाइरेक्टरों के और संघीय रेलवे ऑथारिटी के ३ सदस्यों और उसके सभापति और रेलवे न्यायालय के नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। गवर्नर जनरल अपने दफ़्तर के कर्मचारियों को अपने विवेक के अनुसार नियुक्त करेंगे, और भारतीय हाई कमिश्नर को व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार।

संघ-सरकार के सारे काम गवर्नर जनरल के नाम पर किये जायँगे। फल-

स्वरूप "स-कौंसिल गवर्नर जनरल" इस वाक्य का प्रयोग बंद हो जायगा। गवर्नर जनरल के नाम पर जारी किये गये सारे ऑर्डर निमयानुकूल और ठीक समझे जायँगे। संघ-शासन की सुगमता के लिए, गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार नियम आदि बनाने और मंत्रियों के कार्य निर्धारित करने का अधिकार दिया गया है। विधानयुक्त शासन के असफल होने पर गवर्नर जनरल को संघ-शासन के सारे अथवा आवश्यकतानुकूल विषय अपने अधीन करने का अधिकार दिया गया है। संघ-शासन के सर्वोच्च पदाधिकारी होने के कारण भारतीय जल, थल, नभ सेनाएँ गवर्नर जनरल के अधीन होंगी, पर सम्राट को एक प्रधान सेनापति नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। उसके सेना संबंधी वे ही अधिकार होंगं जिन्हें सम्राट उसको प्रदान करें।

(२) व्यवस्थापक मंडल संबंधी अधिकार—संघीय व्यवस्थापक मंडल का प्रतिवर्ष कम से कम एक अधिवेशन अवश्य होगा; किंतु गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं अथवा एक सभा के बुलाने एवं विसर्जित करने और संघीय असेंबली के भंग करने का अधिकार दिया गया है। अपने विवेक के अनुसार गवर्नर जनरल संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में या किसी सभा के अधिवेशन में अपना भाषण दे सकेंगे और संदेश भेज सकेंगे। गवर्नर जनरल या उनके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सामने व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों का राजभक्ति की शपथ खानी पड़ेगी। यदि कोई व्यक्ति व्यवस्थापक मंडल से अलग होना चाहे तो उसे अपना त्याग-पत्र गवर्नर जनरल के पास भेजना पड़ेगा। यदि कोई मनुष्य दोनों सभाओं का सदस्य चुना गया है तो गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार बनाये गये नियमों के अनुसार उस व्यक्ति को एक सभा की सदस्यता छोड़नी पड़ेगी।

संघीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा पास किये गये प्रस्ताव गवर्नर जनरल की अनुमति बिना क़ानून न बन सकेंगे। गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार किसी प्रस्ताव के संबंध में अनुमति देने अथवा न देने या उसे सम्राट की आज्ञा के लिए रिजर्व करने का अधिकार दिया गया है। अपने विवेक के अनुसार वे किसी प्रस्ताव को व्यवस्थापक मंडल में पुनर्विचार के लिए भेज सकेंगे और शांति और सुव्यवस्था संबंधी विशेष

उत्तरदायित्व से संबंध रखने वाले, व्यवस्थापक मंडल के विचाराधीन किसी प्रस्ताव पर विचार करना बंद करवा सकेंगे। व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं में मतभेद होने पर गवर्नर जनरल संदेश द्वारा अथवा घोषणा द्वारा अपने इस विचार की सूचना देंगे कि वे दोनों सभाओं का संयुक्त अधिवेशन कराना चाहते हैं। इसके बाद विचाराधीन प्रस्ताव पर दोनों सभाएँ विचार करना बंद कर देंगी और निर्धारित दिन व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं का संयुक्त अधिवेशन होगा। इस अधिवेशन के बहुमत का निर्णय दोनों सभाओं का और अंतिम निर्णय समझा जायगा। इसके पश्चात्, स्वीकृत प्रस्ताव, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, गवर्नर जनरल के पास उनकी अनुमति के लिए भेजा जायगा।

गवर्नर जनरल को नव शासन-विधान की ४२ वीं और ४३ वीं धाराओं के अनुसार, ऑर्डिनेंसें जारी करने का अधिकार दिया गया है[1]। ४२ वीं धारा के अनुसार, जब व्यवस्थापक मंडल का अधिवेशन न होता हो, गवर्नर जनरल को व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार, किसी विशेष परिस्थिति के कारण, ऑर्डिनेंसें जारी करने का अधिकार दिया गया है। ऐसी ऑर्डिनेंसें व्यवस्थापक मंडल के अधिवेशन आरंभ होने के ६ सप्ताह पश्चात् स्वयं समाप्त हो जायँगी और इसके पहले भी यदि व्यवस्थापक मंडल उनके वापस लिये जाने का प्रस्ताव पास करे या गवर्नर जनरल उनको स्वयं वापस कर लें। शासन-विधान की ४४ वीं धारा में गवर्नर जनरल के एक्टों की व्यवस्था की गयी है। व्यक्तिगत् निर्णय और विवेक के कामों को संतोषपूर्वक करने के लिए गवर्नर जनरल को अपने एक्ट बनाने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार के सारे एक्ट भारत-मंत्री के पास भेजे जायँगे और वे उन्हें पार्लमेंट के समक्ष पेश करेंगे। शेष विषयों (अर्थात् वे विषय जो न तो संघीय हैं, न प्रांतीय और न संयुक्त) में से अमुक विषय संघीय है अथवा प्रांतीय, इसको निश्चित करने का अधिकार गवर्नर जनरल को दिया गया है।

(३) आर्थिक अधिकार—नये शासन-विधान के अनुसार गवर्नर जनरल को कई आर्थिक अधिकार भी दिये गये हैं। संघ-सरकार के ख़र्च की सारी मांगें गवर्नर जनरल की सिफ़ारिश पर संघीय व्यवस्थापक

---

(१) देखिये पृष्ठ २२६ पूर्व।

मंडल में पेश की जायँगी। प्रतिवर्ष गवर्नर जनरल संघ राज्य की आय-व्यय का ब्योरा व्यवस्थापक मंडल में पेश करावेंगे। व्यय के दो भाग होंगे—

(१) संघ राज्य का यह व्यय जिसका उल्लेख एक्ट में किया गया है। और

(२) वह व्यय जिसकी मांग प्रथम भाग के अतिरिक्त पेश की जाती है।

अमुक मांग प्रथम भाग की है अथवा द्वितीय, इसका निर्णय गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार करेंगे। प्रथम भाग के व्यय पर संघीय व्यवस्थापक मंडल को वोट देने का अधिकार न होगा पर द्वितीय भाग का व्यय संघीय असेंबली के वोट पर निर्भर होगा। यदि असेंबली किसी मांग को नामंजूर करेगी, तो बिना गवर्नर जनरल की आज्ञा वह मांग संघीय कौंसिल ऑफ़ स्टेट में न पेश की जायगी। यदि असेंबली किसी मांग को घटावेगी तो घटी हुई मांग ही कौंसिल ऑफ़ स्टेट में पेश की जायगी, जब तक गवर्नर जनरल इसके प्रतिकूल आज्ञा न दें। यदि किसी मांग के विषय में संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं में मतभेद होगा, तो गवर्नर जनरल दोनों सभाओं का संयुक्त अधिवेशन करावेंगे और इस अधिवेशन के बहुमत का निर्णय दोनों सभाओं का निर्णय समझा जायगा। भारतीय आर्थिक स्थिरता और साख का क़ायम रखना गवर्नर जनरल का एक विशेष उत्तरदायित्व है। रिजर्व बैंक संबंधी गवर्नर जनरल के अधिकारों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है[१]।

(३) वाइसराय के अधिकार—सम्राट के प्रतिनिधि अर्थात् वाइसराय की हैसियत में भी गवर्नर जनरल को नव शासन-विधान के अनुसार कुछ अधिकार दिये गये हैं। इस हैसियत से वे उन देशी रियासतों में, जो संघ-राज्य में शामिल न होंगी, सम्राट के अधिकारों की रक्षा और कर्तव्यों का पालन करेंगे। इसी नाते वे संघांतरित रियासतों के उन विषयों की भी देखभाल करेंगे जो संघ राज्य को समर्पित न किये जायँगे। वाइसराय की हैसियत में वे उन सब अधिकारों का भी उपयोग करेंगे जो समय समय पर सम्राट उनको प्रदान करें।

(४) अधिकारों की सीमा—उपर्युक्त विवरण से हमें यह न समझना

---

(१) देखिये पृष्ठ २४८ पूर्व।

वैधानिक दृष्टि से इनके अर्थ भिन्न भिन्न हैं। जिन कामों को गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार करेंगे, वे एक प्रकार से मंत्रियों के कार्य-क्षेत्र के बाहर हैं। इन विषयों के शासन में गवर्नर जनरल के लिए मंत्रियों का परामर्श लेना आवश्यक न होगा। पर आदेशपत्र के अनुसार गवर्नर जनरल यह कोशिश अवश्य करेंगे कि मंत्रियों, परामर्शदाताओं और उनमें विचार विनिमय होता रहे। जिन कामों को गवर्नर जनरल व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार करेंगे, वे मंत्रियों के कार्यक्षेत्र के अंतर्गत हैं। उनके संबंध में मंत्रियों का परामर्श लेना आवश्यक होगा, पर गवर्नर जनरल मंत्रियों के परामर्श के प्रतिकूल भी काम कर सकेंगे। इन दोनों प्रकार के कामों को गवर्नर जनरल भारत-मंत्री के निरीक्षण में और उनके आदेशानुसार करेंगे।

संघीय व्यवस्थापक मंडल—सन् १८३३ से सन् १९३५ तक भारतीय व्यवस्थापक मंडल का क्रमशः विकास हुआ है। सन् १८३३ में गवर्नर जनरल की इक्जीक्यूटिव कौंसिल में नियम-निर्माण के लिए एक नया सदस्य बढ़ाया गया था। उसका नाम क़ानून सदस्य, (Law Member) था। यहीं भारतीय व्यवस्थापक सभा के विकास का श्रीगणेश हुआ। क्रमशः व्यवस्थापक सभा भी बन गयी। सन् १८६१ में ग़ैर-सरकारी सदस्य गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत किये जाने लगे। सन् १८९२ में परोक्ष निर्वाचन-पद्धति आरंभ हुई और सन १९०९ में जनता द्वारा निर्वाचन आरंभ हुआ पर सांप्रदायिक आधार पर। सन् १९१९ में भारतीय व्यवस्थापक मंडल की स्थापना हुई। इसकी दो सभाएँ थीं, कौंसिल ऑफ़ स्टेट और लेजिस्लेटिव असेंबली। इन दोनों सभाओं के सदस्यों की संख्या मिलाकर २०५ थी। भारतवासी इस छोटी सी संख्या से संतुष्ट न थे। भारतवर्ष ऐसे बड़े देश के लिए २०५ सदस्यों का व्यवस्थापक मंडल कदापि प्रतिनिधि व्यवस्थापक मंडल न हो सकता था। अतएव भारतीय जनता चाहती थी कि निर्वाचकों और व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों की संख्या बढ़ायी जाय। नये शासन-विधान में संघीय व्यवस्थापक मंडल का आकार बढ़ाया गया है और नियम-निर्माण करने का अधिकार सम्राट के प्रतिनिधि गवर्नर जनरल और कौंसिल ऑफ़ स्टेट और हाउस ऑफ़ असेंबली को दिया गया है। क़ानूनी दृष्टि से संघीय व्यवस्थापक मंडल इन तीनों का सामूहिक नाम है। कौंसिल

ऑफ़् स्टेट के अधिक से अधिक २६० सदस्य होंगे और हाउस ऑफ़् असेंबली के ३७५। कोई मनुष्य एक ही समय में दोनों सभाओं का सदस्य न हो सकेगा।

कौंसिल ऑफ़् स्टेट का संगठन—कौंसिल ऑफ़् स्टेट के २६० सदस्यों में से १५६ ब्रिटिश भारत के होंगे और १०४ देशी रियासतों के। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि विभिन्न प्रांतों में इस प्रकार विभक्त किये गये हैं—मद्रास २०, बंबई १६, बंगाल २०, संयुक्त प्रांत २०, पंजाब १६, बिहार १६, मध्य प्रांत और बरार ८, आसाम ५, पश्चिमोत्तर प्रदेश ५, उड़ीसा ५, सिंध ५, बिलोचिस्तान १, दिल्ली १, अजमेर मारवाड़ा १, और कुर्ग १। प्रत्येक प्रांत में सांप्रदायिक आधार पर भिन्न भिन्न संप्रदायों के प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित कर दी गयी है। संयुक्त प्रांत में ११ साधारण जगहें होंगी, १ दलित जातियों की, ७ मुसल्मानों की और एक स्त्रियों की। पंजाब में सिक्खों का पृथक निर्वाचन अधिकार दिया गया है। इनके अतिरिक्त ७ प्रतिनिधि युरोपियनों के होंगे, १ एंग्लो इंडियंस का, २ भारतीय ईसाइयों के और ६ सदस्य गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत किये जायँगे। देशी नरेशों के प्रतिनिधि विभिन्न रियासतों में यथायोग्य विभक्त कर दिये गये हैं। हैदराबाद के पाँच प्रतिनिधि होंगे, मैसूर, काश्मीर, ग्वालियर, बड़ौदा आदि में से प्रत्येक के तीन, और क़लात, ट्रावनकोर, कोचिन, उदयपुर, जैपुर, जोधपुर, बीकानेर, इंदौर, भूपाल, रीवा, कोल्हापुर, पटियाला, बहावलपुर आदि में से प्रत्येक के दो। कुछ रियासतों में से प्रत्येक को एक सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया है, और कुछ के समूह बना दिये गये हैं और प्रत्येक समूह को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया है। कौंसिल ऑफ़् स्टेट का कार्य-काल नव बरस निश्चित किया गया है पर प्रत्येक तीसरे बरस उसके एक तिहाई सदस्यों का नया चुनाव होगा। इस प्रकार कौंसिल ऑफ़् स्टेट एक स्थायी संस्था होगी और उसमें नये सदस्यों का आगमन भी होता रहेगा।

कौंसिल ऑफ़् स्टेट के अधिकांश सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा होगा। साधारण, सिक्ख और मुसल्मान निर्वाचन-क्षेत्रों के प्रतिनिधि इन्हीं संप्रदायों के उन नागरिकों द्वारा चुने जायँगे जिन्हें वोट देने का अधिकार दिया जाय। एंग्लो इंडियन, युरोपियन, भारतीय ईसाइयों और दलित

जातियों के प्रतिनिधि परोक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जायँगे और इनके चुनाव में प्रत्येक संप्रदाय के वे ही व्यक्ति मताधिकारी होंगे जो प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल अथवा सभा के सदस्य हों। कौंसिल ऑफ़् स्टेट के स्त्री-सदस्य (जिनकी संख्या रिज़र्व की गयी है) उस प्रांत के व्यवस्थापक मंडल अथवा सभा के स्त्री एंव पुरुष सदयों द्वारा चुने जायँगे जिसको स्त्री-सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया है। कोई संप्रदाय कितने सदस्य कितने दिनों के लिए चुने, इसकी भी व्यवस्था कर दी गयी है। साधारण, मुसल्मान और सिक्ख निर्वाचन-क्षेत्रों के एक तिहाई सदस्य तीन वरस के लिये चुने जायँगे, एक तिहाई छः वरस के लिए और एक तिहाई नव वरस के लिए। इस समय के समाप्त होने के पश्चात् रिक्त स्थानों के प्रतिनिधि नव वरस के लिए चुने जायँगे। इस समय के समाप्त होने के पूर्व जो स्थान खाली होंगे वे केवल शेष काल के लिए ही भरे जायँगे। कौंसिल ऑफ़् स्टेट के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष उसके सदस्यों द्वारा चुने गये सदस्य होंगे। प्रत्येक सदस्य को राजभक्ति की शपथ खानी पड़ेगी। $\frac{1}{6}$ सदस्यों का कोरम होगा और साल में कम से कम एक अधिवेशन अवश्य होगा। सभा की सदस्यता छोड़ने के तीन तरीक़े निश्चित किये गये हैं—

(१) गवर्नर जनरल के पास त्याग-पत्र भेज कर।

(२) उन अयोग्यताओं के कारण जिनका उल्लेख एक्ट में किया गया है।

(३) यदि कोई सदस्य सभा की आज्ञा विना ६० दिन तक अनुपस्थित रहेगा तो सभा उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगी। इन ६० दिनों में उन दिनों की गणना न होगी जब कि सभा चार दिन से अधिक के लिए वंद कर दी गयी हो या स्थगित कर दी गयी हो।

हाउस ऑफ़् असेंवली का संगठन—असेंवली के ३७५ सदस्यों में से २५० ब्रिटिश भारत के होंगे और १२५ देशी रियासतों के। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि विभिन्न प्रांतों में इस प्रकार विभक्त कर दिये गये हैं—मद्रास ३७, वंबई ३०, वंगाल ३७, संयुक्त प्रांत ३७, पंजाव ३०, विहार ३०, मध्य प्रांत और वरार १५, आसाम १०, पश्चिमोत्तर प्रदेश ५, उड़ीसा ५, सिंध ५, ब्रिटिश विलोचिस्तान १, दिल्ली २, अजमेर मारवाड़ा १,

और कुर्ग १। शेष चार सदस्यों में से तीन उद्योग-धंधों के प्रतिनिधि होंगे और एक मजदूरों का। प्रत्येक प्रांत में सांप्रदायिक आधार पर विभिन्न संप्रदायों के प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित कर दी गयी है। संयुक्त प्रांत में उन्नीस साधारण जगहें होंगी; तीन दलित जातियों की सुरक्षित जगहें, बारह मुसल्मानों की, एक एंग्लो इंडियंस की, एक युरोपियनों की, एक भारतीय ईसाइयों की, एक जमींदारों की, एक मजदूरों की और एक महिलाओं की। इनके अतिरिक्त पंजाब में कुछ सिक्खों की जगहें होंगी और मद्रास बंबई, और बंगाल में उद्योग-धंधों की। देशी रियासतों के प्रतिनिधि विभिन्न रियासतों में यथायोग्य विभक्त कर दिये गये हैं। हैदराबाद के सोलह प्रतिनिधि होंगे, मैसूर के सात, ट्रावनकोर के पाँच, काश्मीर और ग्वालियर में से प्रत्येक के चार, बड़ौदा के तीन, इत्यादि इत्यादि। छोटी रियासतों के समूह बना दिये गये हैं और उनमें से प्रत्येक समूह को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया है। असेंबली का कार्यकाल पाँच बरस निश्चित किया गया है। इस अवधि के पूर्व भी वह भंग की जा सकेगी, पर उसका कार्यकाल बढ़ाया न जा सकेगा।

असेंबली के सदस्यों का चुनाव परोक्ष रीति से किया जायगा। उसके अधिकांश सदस्य प्रांतीय असेंबली के सदस्यों द्वारा अनुपातीय प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के अनुसार चुने जायँगे। प्रत्येक प्रांत के साधारण, मुसल्मान और सिक्ख प्रतिनिधि, इन्हीं संप्रदायों के प्रांतीय असेंबली के सदस्यों द्वारा अनुपातीय प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के अनुसार चुने जायँगे। दलित जातियों के प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए पहले एक आरंभिक चुनाव होगा जिसमें प्रत्येक स्थान के लिए चार उम्मेदवार चुने जायँगे। इस आरंभिक चुनाव में वे ही लोग वोट दे सकेंगे जो प्रांतीय असेंबली के चुनाव के लिए आरंभिक चुनाव में उम्मेदवार चुने गये हों। इसके पश्चात् दलित जातियों के प्रतिनिधि, इन उम्मेदवारों में से प्रांतीय असेंबली के साधारण सदस्यों द्वारा चुने जायँगे। महिला सदस्यों के चुनाव के लिए एक महिला निर्वाचक-संघ स्थापित किया जायगा जिसमें ब्रिटिश भारतीय प्रांतों की असेंबलियों की सारी महिला-सदस्य होंगी। यह निर्वाचक-संघ प्रांतीय महिला प्रतिनिधियों को इस प्रकार चुनेगा कि नव महिला-सदस्यों में से कम से कम दो मुसल्मान हों और एक ईसाई। एंग्लो एंडियनों, युरोपियनों और भारतीय ईसाइयों के इसी प्रकार निर्वाचन-संघ होंगे और उनके प्रति-

निधि इन्हीं निर्वाचन-संघों द्वारा चुने जायँगे। मद्रास में भारतीय ईसाइयों का प्रतिनिधि अनुपातीय प्रतिनिधित्व के आधार पर चुना जायगा। असेंबली के उद्योग-धंधों, ज़मींदारों और मज़दूरों के प्रतिनिधि, तत्संबंधी उस व्यवस्था के अनुसार चुने जायँगे जो भविष्य में की जाय। देशी नरेशों के प्रतिनिधि नव शासन-विधान की अन्य धाराओं के अंतर्गत उनके नरेशों द्वारा मनोनीत किये जायँगे। असेंबली के रिक्त स्थान शेष काल के लिए ही भरे जायँगे। उसके प्रमुख और उप-प्रमुख उसी के सदस्यों द्वारा चुने गये सदस्य होंगे। प्रत्येक सदस्य को राजभक्ति की शपथ खानी पड़ेगी। एक तिहाई सदस्यों का कोरम होगा और साल में कम से कम एक अधिवेशन अवश्य होगा। त्यागपत्र और अनुपस्थिति संबंधी नियम हाउस ऑफ़् असेंबली के वे ही हैं जो कौंसिल ऑफ़् स्टेट के।

सदस्यता संबंधी योग्यताएं और अयोग्यताएं—कौन व्यक्ति संघीय व्यवथापक मंडल की किसी सभा का सदस्य चुना जा सकेगा और कौन नहीं, इसकी व्यवस्था भी नव शासन-विधान में की गयी है। कौंसिल ऑफ़् स्टेट और हाउस ऑफ़् असेंबली दोनों के सदस्यों के लिए ब्रिटिश प्रजा, अथवा संघांतरित देशी नरेश या संघांतरित देशी नरेश की प्रजा का होना आवश्यक है। संघ-राज्य में न शामिल होने वाली देशी रियासतों के ऐसे नरेश और उनकी प्रजा किसी प्रांत की ओर से संघीय व्यवस्थापक मंडल के लिए चुने जा सकेंगे, जो उस प्रांत की असेंबली के सदस्य चुने जा सकते हों। कौंसिल ऑफ़् स्टेट के उम्मेदवारों की अवस्था कम से कम तीस वरस की होनी चाहिये और असेंबली के उम्मेदवारों की पच्चीस वरस की। देशी नरेश, जो अल्प-वयस्क नहीं हैं और स्वयं शासन करते हैं, अवस्था संबंधी इस बंधन से मुक्त कर दिये गये हैं। कौंसिल ऑफ़् स्टेट के उम्मेदवार होने के लिए उन सब योग्यताओं का होना आवश्यक है जो प्रांतीय कौंसिल ऑफ़् स्टेट के निर्वाचकों के लिए आवश्यक हों। संघीय असेंबली के लिए वे ही मनुष्य उम्मेदवार हो सकते हैं, जो प्रांतीय असेंबली के हो सकते हों। सांप्रदायिक आधार के कारण उम्मेदवारों के लिए उस संप्रदाय का होना आवश्यक समझा गया है जिसकी ओर से वे खड़े होना चाहते हों। इन योग्यताओं के अतिरिक्त निम्नलिखित अयोग्यताओं वाले मनुष्य संघीय व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा के उम्मेदवार नहीं हो सकते—

(क) संघ राज्य के मंत्रियों, प्रांतीय मंत्रियों और भारतीय नौकरियों के उन सदस्यों को, जो किसी देशी रियासत के कर्मचारी हों, छोड़कर अन्य वैतनिक सरकारी कर्मचारी।

(ख) वे मनुष्य जिनके दिमाग को उपयुक्त न्यायालय ने खराब ठहराया हो।

(ग) दिवालिये।

(घ) वे मनुष्य, सम्कौंसिल सम्राट अथवा संघीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा निर्धारित काल तक संघीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्य नहीं हो सकते जो संघ-राज्य की स्थापना के पूर्व अथवा पश्चात्, सम्कौंसिल सम्राट अथवा संघीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा निर्धारित, किसी निर्वाचन संबंधी अपराध के दोषी ठहराये गये हों।

(ङ) वे मनुष्य अपनी रिहाई के पाँच बरस बाद तक संघीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्य नहीं हो सकते जिनको संघ राज्य की स्थापना के पूर्व अथवा पश्चात् आजन्म कालेपानी की या कम से कम दो साल की क़ैद की सज़ा मिली हो। गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार इस अवधि को घटा सकते हैं। सज़ा देने का अधिकार ब्रिटिश भारतीय न्यायालयों और संघांतरित देशी रियासतों के न्यायालयों को दिया गया है।

(च) निर्वाचन के एक महीने अथवा गवर्नर जनरल द्वारा निर्धारित अवधि के बाद से पाँच बरस तक, वे मनुष्य संघीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्य नहीं हो सकेंगे जो निर्वाचन संबंधी खर्चे का ब्योरा न भेजेंगे।

वे मनुष्य व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा के सदस्य नहीं चुने जायँगे जो कालेपानी अथवा किसी फौजदारी अपराध की सज़ा भोग रहे हों। यदि कोई ऐसा व्यक्ति व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा में हाज़िर

होगा और वोट देगा, जो उपर्युक्त अयोग्यताओं के कारण सदस्यता के अधिकार से वंचित है, तो उसे ५००) रुपये रोज़ के हिसाब से जुर्माना देना पड़ेगा।

व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों को मंडल द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता मिलेगा। एक मनुष्य कितनी वार व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा का सदस्य चुना जा सकेगा, इसके लिए कोई बंधन नहीं है। इस प्रकार कई वार पुनर्निर्वाचित होने का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया है।

व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों के अधिकार—सन् १९१९ के व्यवस्थापक मंडल की भाँति, संघीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों को कुछ विशेष अधिकार दिये गये हैं। वे व्यवस्थापक सभाओं के अधिवेशनों में अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रगट कर सकेंगे, उसकी किसी कमेटी के सामने स्वतंत्र गवाही दे सकेंगे और अपना वोट अपने इच्छानुकूल दे सकेंगे। इन बातों के कारण, उनके ख़िलाफ कोई क़ानूनी कार्रवाई किसी अदालत में न की जा सकेगी। यदि व्यवस्थापक मंडल या उसकी किसी सभा द्वारा नियुक्त किसी कमेटी के सामने कोई मनुष्य गवाही देने से इनकार करेगा तो उस पर न्यायालय में मुक़दमा चलाया जा सकेगा। व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं को अपने अपने सदस्यों के अनुशासन संबंधी अधिकार दिये गये हैं। किंतु सदस्यता से वंचित करने के अतिरिक्त उन्हें और किसी प्रकार के दंड देने का अधिकार नहीं है। सदस्यों के वेतन और भत्ते की व्यवस्था का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

सभापति और प्रमुख—कौंसिल ऑफ् स्टेट और असेंबली दोनों के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष अपनी अपनी सभा द्वारा चुने गये अपनी अपनी सभा के सदस्य होंगे। संसार के सभी देशों में इन पदाधिकारियों का स्थान बड़े महत्व का समझा जाता है। दोनों सभाओं के अध्यक्ष अपनी अपनी सभा में सभापति का आसन ग्रहण करेंगे, उसका कार्य-संचालन करेंगे, उसकी शांति और सुव्यवस्था के लिए उत्तरदायी होंगे और विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय करेंगे। यह निर्णय सब सदस्यों को मानना पड़ेगा। दोनों सभाओं के अध्यक्षों को व्यवस्थापक मंडल द्वारा निर्धारित वेतन मिलेगा। इन पदाधिकारियों को स्वयं वोट देने का अधिकार न होगा, पर

किसी प्रश्न पर समान वोट आने पर वे निर्णायक वोट (casting vote) दे सकेंगे। संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में कौंसिल ऑफ् स्टेट का अध्यक्ष सभापति का आसन ग्रहण करेगा। कौंसिल ऑफ् स्टेट के अध्यक्ष और असेंबली के प्रमुख की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष एवं उप-प्रमुख इन पदाधिकारियों के स्थान पर काम करेंगे।

संघीय व्यवस्थापक मंडल के अधिकार—संसार के अन्य व्यवस्थापक मंडलों की भाँति संघीय व्यवस्थापक मंडल के तीन प्रकार के अधिकार होंगे—

(१) शासन निरीक्षणाधिकार।

(२) नियम निर्माणाधिकार। और

(३) आर्थिक अधिकार।

गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व और व्यक्तिगत् निर्णय के कामों को छोड़ कर, संघीय मंत्रिमंडल हस्तांतरित विषयों के शासन में, सामूहिक रूप से संघीय व्यवस्थापक मंडल के प्रति उत्तरदायी होगा। व्यवस्थापक मंडल के सदस्य मंत्रियों से उनके कामों के विषय में प्रश्न पूछ सकेंगे, जिनका उत्तर, मंत्रियों को साधारणतया देना होगा। शासन-विधान की ३८वीं धारा द्वारा गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार प्रमुख के परामर्श से, निर्धारित विषयों के प्रस्तावों का विचार और तत्संबंधी प्रश्नोत्तरों के बंद कराने के लिए नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। शासन-विभाग की आलोचना करते हुए, व्यवस्थापक मंडल का कोई सदस्य अधिवेशन के स्थगित करने का प्रस्ताव पेश कर सकेगा। अविश्वास के प्रस्ताव पेश करने का अधिकार भी सदस्यों को दिया गया है। मंत्रियों को व्यवस्थापक मंडल द्वारा निर्धारित वेतन मिलेगा, पर किसी मंत्रिमंडल के कार्यकाल में उसका वेतन घटाया न जा सकेगा।

संघीय व्यवस्थापक मंडल को समस्त संघीय विषयों के नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। संयुक्त विषयों के नियम साधारणतया प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल अथवा सभाएँ बनावेंगी, पर संघीय व्यवस्थापक मंडल भी तत्संबंधी नियम बना सकेगा। यदि संघीय और प्रांतीय नियमों में विरोध होगा तो साधारणतया संघीय नियम ठीक समझा जायगा और प्रांतीय नियम विरोधात्मक अंश तक रद्द समझा जायगा। शेष विषयों में

से जिन विषयों को गवर्नर जनरल संघीय विषय निर्धारित करेंगे. उनके संबंध में भी संघीय व्यवस्थापक मंडल नियम बना सकेगा और असाधारण परिस्थितियों में प्रांतीय विषयों के संबंध में भी।

संघीय व्यवस्थापक मंडल के कई आर्थिक अधिकार भी होंगे। प्रतिवर्ष वार्षिक आय-व्यय का व्योरा व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं में पेश किया जायगा। व्यय संबंधी व्योरे के दो भाग होंगे—

(१) वे मदें जिनका ख़र्च संघीय कोष से करना पड़ेगा। और
(२) वे मदें जिनके ख़र्च के विषय में संघीय असेंबली की अनुमति माँगी जायगी।

पहली मदें निम्नलिखित हैं—

(१) गवर्नर जनरल का वेतन, भत्ता तथा अन्य सारे ख़र्च।
(२) संघ राज्य के सार्वजनिक ऋण से संबंध रखने वाला ख़र्च।
(३) मंत्रियों, परामर्शदाताओं, आर्थिक परामर्शदाता और उनके दफ़्तर, एडवोकेट जनरल और चीफ़ कमिश्नरों का वेतन और भत्ता।
(४) संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन और उनकी पेंशनें और हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की पेंशनें।
(५) देश-रक्षा, ईसाई धर्म और असभ्य जातियों के संबंध का ख़र्च। ईसाई धर्म का ख़र्च, पेंशनों को छोड़कर किसी बरस ४२ लाख रुपये से अधिक न हो सकेगा।
(६) देशी रियासतों के संबंध में सम्राट के कर्तव्यपालन में होने वाला ख़र्च।
(७) किसी प्रांत के उस प्रदेश के शासन में होने वाला ख़र्च जो पृथक प्रदेश (Excluded Area) घोषित किया जाय।
(८) किसी न्यायालय के निर्णय के अनुसार चुकायी जाने वाली रकमें।

(९) कोई और मद जो शासन-विधान या संघीय व्यवस्थापक के किसी एक्ट द्वारा इस प्रकार की घोषित की जाय।

उपर्युक्त ख़र्च पर व्यवस्थापक मंडल को केवल वाद-विवाद करने का अधिकार होगा, वोट देने का नहीं। संघ राज्य की आय का लगभग ८० प्रतिशत् इस प्रकार का ख़र्च होगा। शेष २० प्रतिशत् व्यवस्थापक मंडल की अनुमति से ख़र्च किया जायगा। इस प्रकार की समस्त मांगें असेंबली में पेश की जायँगी, और साधारणतया उसी का निर्णय अंतिम निर्णय होगा। यदि असेंबली किसी मांग को स्वीकार न करेगी, तो जब तक गवर्नर जनरल न चाहें, वह मांग कौंसिल ऑफ़् स्टेट में पेश न की जायगी। यदि असेंबली किसी मांग को घटावेगी, तो जब तक गवर्नर जनरल इसके विपरीत आज्ञा न दें, कौंसिल ऑफ़् स्टेट में घटी हुई मांग ही पेश की जायगी। ख़र्चे की कोई मद प्रथम भाग की है अथवा द्वितीय, इसका निर्णय गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार करेंगे।

व्यवस्थापक मंडल की कार्य-प्रणाली—नव शासन-विधान के अनुसार संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं का अधिवेशन साल में एक बार अवश्य होगा। अधिवेशन कराने और उसके भंग करने का अधिकार गवर्नर जनरल को दिया गया है। चुनाव के पश्चात्, प्रथम अधिवेशन में, गवर्नर जनरल अथवा उनके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सम्मुख सब सदस्यों को राजभक्ति की शपथ खानी पड़ेगी। तत्पश्चात् दोनों सभाएँ अपने अपने सभापति और उप-सभापति, (असेंबली के लिए प्रमुख और उप-प्रमुख) को चुनेंगी। इसके बाद साधारणतया गवर्नर जनरल का भाषण होगा, और तत्पश्चात् दोनों सभाएँ अपना अपना काम आरंभ करेंगी।

किसी प्रस्ताव के क़ानून बनाने के लिए दोनों सभाओं का एकमत होना आवश्यक समझा गया है। यदि कोई प्रस्ताव एक सभा द्वारा पास किया जायगा और दूसरी सभा उसे अस्वीकार करेगी, या दोनों सभाओं में किसी संशोधन के विषय में मतभेद होगा, या दूसरी सभा, स्वीकृत प्रस्ताव आने के ६ महीने बाद तक उसे गवर्नर जनरल के पास न भेजेगी, तो गवर्नर जनरल संदेश अथवा सार्वजनिक घोषणा द्वारा, निर्धारित तारीख़

को, दोनों सभाओं का संयुक्त अधिवेशन करावेंगे। कौंसिल ऑफ़् स्टेट का अध्यक्ष इस अधिवेशन में सभापति का आसन ग्रहण करेगा और इस अधिवेशन के बहुमत का निर्णय दोनों सभाओं का निर्णय समझा जायगा। यदि किसी प्रस्ताव के विषय में दोनों सभाएँ एकमत होंगी तो वह प्रस्ताव गवर्नर जनरल के पास अनुमति के लिए भेजा जायगा। गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार अनुमति देने अथवा न देने या प्रस्ताव को सम्राट की आज्ञा के लिए रिज़र्व करने का अधिकार दिया गया है। यदि वे स्वयं अनुमति देने से इनकार कर देंगे तो वह प्रस्ताव रद हो जायगा। यदि वे किसी प्रस्ताव को सम्राट की आज्ञा के लिए रिज़र्व करेंगे, तो वह उस समय तक लागू न होगा, जब तक एक साल के अंदर, गवर्नर जनरल सम्राट की अनुमति की सार्वजनिक घोषणा न करें। गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त प्रस्तावों को भी सम्राट एक साल के अंदर रद कर सकेंगे। आर्थिक प्रस्तावों की कार्य-प्रणाली प्रायः वही है जो साधारण प्रस्तावों की। अंतर केवल इतना ही है कि वे मांगें जो व्यवस्थापक मंडल के वोट पर निर्भर हैं, पहले असेंबली में स्वीकृति के लिए पेश की जायँगी, और जब तक गवर्नर जनरल दूसरी बात न चाहें, असेंबली द्वारा स्वीकृत मांगें ही कौंसिल ऑफ़् स्टेट में पेश होंगी।

संघीय व्यवस्थापक मंडल के अधिकारों की सीमा— सन् १९१९ के सुधारों की भाँति नव शासन-विधान के अनुसार भी संघीय व्यवस्थापक मंडल के परिमित अधिकार हैं। कुछ विषय ऐसे हैं जिनके संबंध का कोई प्रस्ताव संघीय व्यवस्थापक मंडल के सामने न आ सकेगा, और कुछ ऐसे हैं जिनके प्रस्ताव पेश होने के पूर्व गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक होगी। हम इन विषयों की विवेचना नवें अध्याय में कर चुके हैं। नये शासन-विधान के अनुसार यद्यपि प्रत्येक सभा को अपने अपने कार्य-संचालन के नियम बनाने का अधिकार दिया गया है तो भी निम्नलिखित विषयों के नियम, सभाओं अध्यक्षों के परामर्श से, गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार बनायेंगे—

(क) ऐसे विषयों का कार्य-संचालन जिनको गवर्नर जनरल अपने विवेक एवं व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार कर सकते हैं।

(ख) देशी रियासतों के संबंध में इन विषयों के प्रस्तावों का विचार एवं प्रश्नोत्तर के बंद करने के नियम, जो संघीय विषय नहीं हैं।

(ग) ठीक समय पर धन-संबंधी कार्य-संचालन के नियम।

सभापति और प्रमुख के परामर्श से गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार निम्नलिखित विषयों के प्रस्तावों का विचार एवं प्रश्नोत्तर बंद करने के नियम बनावेंगे—

(क) सम्राट और गवर्नर जनरल का पर-राष्ट्र-संबंध।

(ख) असभ्य प्रदेशों और Excluded Areas के संबंध का वादविवाद और प्रश्नोत्तर।

(ग) अपने विवेक के अनुसार गवर्नर जनरल द्वारा किये गये किसी प्रांत संबंधी कार्य का वाद-विवाद और प्रश्नोत्तर।

(घ) देशी नरेश अथवा राजकीय वंशजों के किसी व्यक्तिगत कार्य का वादविवाद और प्रश्नोत्तर।

इन विषयों के प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद, अपने विवेक के अनुसार गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति बिना न हो सकेंगे। आर्थिक अधिकार भी परिमित हैं। लगभग ८० प्रतिशत् आय का व्यय व्यवस्थापक मंडल की अनुमति के बिना होगा, पर वह इस पर वाद-विवाद कर सकेगा। संरक्षित विषयों के शासन में व्यवस्थापक मंडल का कुछ अधिकार न होगा। इन सीमाओं के अतिरिक्त गवर्नर जनरल को ऑर्डीनेंसें जारी करने और संदेश द्वारा गवर्नर जनरल के नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। असाधारण परिस्थितियों का सामना करने के लिए, गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार व्यय करने का अधिकार दिया गया है। हम इन विषयों की विवेचना नवें परिच्छेद में कर चुके हैं।

व्यवस्थापक मंडल में देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का संबंध—नये शासन-विधान में देशी नरेशों के अधिकारों, और उनकी मानमर्यादा की रक्षा की समुचित व्यवस्था की गयी है। ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि, देशी नरेशों द्वारा समर्पित विषयों को छोड़ कर, देशी रियासतों से संबंध रखने वाले किसी अन्य

विषय पर तर्क-वितर्क न कर सकेंगे। पर देशी रियासतों के प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत की सभी बातों में हस्तक्षेप कर सकेंगे। इसके कारण, यह संभव है कि राजनीतिक दलों की तुलनात्मक शक्ति में काफ़ी रद्दोबदल हो जाय और ब्रिटिश भारत के शासन में देशी नरेशों के प्रतिनिधियों के ज़रिये से देशी नरेशों का प्रभाव बढ़ जाय। गोलमेज़ परिषदों में देशी नरेशों और उनके प्रतिनिधियों ने यह कहा था कि वे विशुद्ध ब्रिटिश भारतीय कामों में हस्तक्षेप करने के इच्छुक न थे। परंतु वे शासन-विधान में इस प्रकार की कोई धारा शामिल करने के भी पक्ष में न थे। ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि चाहते थे कि विशुद्ध ब्रिटिश भारतीय विषयों में देशी रियासतों के प्रतिनिधि वोट न दें, और अमुक विषय विशुद्ध ब्रिटिश भारतीय विषय है अथवा नहीं, इस संबंध में प्रमुख का निर्णय अंतिम और सर्वमान्य समझा जाय। ज्वाइंट सिलेक्ट कमेटी ने भी इस समस्या पर विचार किया। उसका मत था कि शासन-विधान में इस विषय की धाराओं का शामिल करना विवेकयुक्त न होगा। धाराओं की अपेक्षा यह कहीं अच्छा होगा कि इस विषय की प्रथाएँ स्थापित हो जायँ। कॉमन सभा का उदाहरण देते हुए उसने ग्लैडस्टन की उस व्यवस्था का उदाहरण दिया था जिसके ज़रिये से वे चाहते थे कि विशुद्ध इंगलैंड के विषयों में आयरलैंड के प्रतिनिधि वोट न दें। अतएव नव शासन-विधान में इस संबंध की कोई धारा शामिल नहीं की गयी है और भविष्य का संबंध प्रथाओं पर छोड़ दिया गया है। यह प्रथाएँ स्थापित होंगी अथवा नहीं, यह बतलाना इस समय संभव नहीं। देश में संघ-राज्य की स्थापना का ही विरोध हो रहा है। यदि संघ-राज्य न बना, तो न तो ये प्रथाएँ ही बनेंगी और न इनकी आवश्यकता ही होगी। पर यदि संघ-राज्य स्थापित हुआ और वह स्थापित अवश्य होगा, तब उपर्युक्त प्रथाएँ कहाँ तक चल पावेंगी, इसका उत्तर संघ-राज्य के व्यावहारिक रूप से ही मिलेगा।

संघ शासन-विधान पर दृष्टिपात—भारतीय संघ शासन-विधान संसार के अन्य संघ-विधानों के देखते हुए कुछ अपूर्व सा प्रतीत होता है। उसका उद्देश्य है संरक्षणों सहित उत्तरदायी शासन की स्थापना, और देशी रियासतों और ब्रिटिश भारतीय प्रांतों को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधना। उत्तरदायी शासन की स्थापना द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार की जायगी। संरक्षित विषयों का शासन स्वयं गवर्नर जनरल करेंगे

और वे अपनी नीति और कार्यों के लिए भारत-मंत्री के प्रति उत्तरदायी होंगे। हस्तांतरित विषयों के शासन में भी उनको काफी अधिकार दिये गये हैं। विशेष उत्तरदायित्व और विवेक और व्यक्तिगत् निर्णय के कामों के कारण उत्तरदायी शासन का रंग बहुत कुछ फीका पड़ गया है और इस बात की आशंका है कि कार्यरूप में संघीय द्वैध शासन-प्रणाली उत्तर-दायी शासन की स्थापना में उतनी ही असफल हो जितनी प्रांतीय द्वैध शासन-प्रणाली सिद्ध हो चुकी है। भारतवर्ष की राजनीतिक एकता अभी तक स्वप्नवत् दिखायी पड़ती है। कांग्रेसवादी संघ राज्य की जड़ खोदने में लगे हैं। उनका उसमें विश्वास नहीं। वे जन्म लेने के पहले ही संघ राज्य का विध्वंस करना चाहते हैं। देशी नरेश भी संघ राज्य में शामिल होने के पूर्व अपनी स्थिति अधिक से अधिक सुदृढ़ बना लेना चाहते हैं। वे नयी नयी माँगे उपस्थित करते जाते हैं, विशेषकर इस भय से कि प्रत्येक संघ राज्य कुछ दिनों के पश्चात् एकात्मक रूप धारण करने लगता है। ऐसी अवस्था में उन्हें इस बात का भय है कि सन् १९३५ के एक्ट की सुदृढ़ व्यवस्था के होते हुए भी कदाचित उनकी रियासतें क्रमशः ब्रिटिश भारत में मिला ली जायेंगी। उनकी शासन-प्रणाली और उनका रहन-सहन ही उनके इस भय का मुख्य कारण है। ब्रिटिश भारत से अधिक संपर्क स्थापित होने पर संभवतः उनकी मौजूदा अवस्था न रह जायगी। इसी लिए वे संघ-राज्य में शामिल होने के पूर्व अपनी स्थिति को अधिक से अधिक सुदृढ़ बनाने की कोशिश कर रहे हैं। इस मानसिक परिस्थिति के कारण संघ-राज्य स्थापित होने में विलंब हो रहा है और अभी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संघ राज्य कब स्थापित होगा।

किंतु यदि भारतीय संघ-राज्य स्थापित हो गया तो वह संसार का एक अपूर्व संघ-राज्य होगा। इसमें संदेह नहीं कि संसार के अन्य संघ-राज्यों की भाँति भरतीय संघ राज्य का एक लिखित और अपरिवर्तनशील शासन-विधान होगा, संघ-राज्य और उसके अंगों का वैधानिक कार्य-विभाजन होगा और संघीय न्यायालय का संघ-शासन में विशेष स्थान होगा। पर इस साधारण समानता के साथ अनेक ऐसी बातें हैं जो अन्य संघ शासन-विधानों में नहीं पायी जातीं। संयुक्त राज्य अमरीका के और जर्मनी के वाइमर शासन-विधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संघी-

तरित अंगों का शासन लोकतंत्र के सिद्धांतों के अनुसार होगा। इन देशों की संघ-सरकारों ने संघांतरित राज्यों की लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली की गारंटी की है। इस कारण इन राज्यों के सभी संघांतरित राज्यों में एक ही प्रकार की सरकार है और वह है लोकतंत्र। भारतीय संघ-राज्य में संघांतरित राज्यों में लोकतंत्र और एक सी सरकार, दोनों का अभाव होगा। ब्रिटिश भारतीय प्रांतों में यद्यपि वोटरों की संख्या बढ़ायी जायगी तो भी हम उन मताधिकारियों द्वारा स्थापित सरकार को लोकतंत्र नहीं कह सकते। अधिकांश देशी रियासतों में लोकतंत्र अभी तक स्वप्नवत् है। वहां पर निरंकुश शासन का दौर-दौरा है और शासन के सब काम नरेश के इच्छानुकूल होते हैं, जन-सम्मति के अनुसार नहीं। कुछ रियासतें प्रगतिशील अवश्य हैं और उनमें लोकतंत्र की स्थापना का श्रीगणेश भी हो चुका है। पर उनके आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि भारतीय संघ-राज्य के संघांतरित राज्यों में एक ही प्रकार की शासन-प्रणाली होगी। इस प्रकार भारतीय संघ-राज्य प्रगतिशील ब्रिटिश भारतीय प्रांतों और प्रतिक्रियावादी देशी रियासतों को एक राजनीतिक सूत्र में बाँध कर संसार का एक अपूर्व संघ-राज्य बनेगा।

भारतीय संघ-राज्य में संघीय व्यवस्थापक मंडल की रचना भी अपूर्व ढंग से की जायगी। संसार के अन्य संघ-राज्यों में व्यवस्थापक मंडल की बड़ी सभा के प्रतिनिधि राज्यों के आधार पर भेजे जाते हैं और छोटी सभा के प्रतिनिधि जनसंख्या के आधार पर। कई संघ-राज्यों की बड़ी सभा में संघांतरित राज्यों के समान प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी है। जर्मनी के वाइमर शासन-विधान में प्रत्येक संघांतरित राज्य को कम से कम एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया था। भारतीय संघ-राज्य में संघांतरित अंगों को न तो समान प्रतिनिधित्व मिलेगा और न प्रत्येक अंग को कम से कम एक प्रतिनिधि। ब्रिटिश भारतीय प्रांतों में से प्रत्येक को कम से कम एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला है पर देशी रियासतों में से बहुतेरी ऐसी हैं जिनका एक भी प्रतिनिधि न होगा। छोटी रियासतें समूहों में विभक्त कर दी गयी हैं और प्रत्येक समूह को कम से कम एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया है। देशी रियासतों में से सबसे बड़ी रियासत हैदराबाद के केवल पाँच ही प्रतिनिधि होंगे, और मध्य प्रदेश के (जिसकी जनसंख्या हैदराबाद के बराबर के लगभग है), और आसाम के

(जिसकी जनसंख्या हैदराबाद की लगभग दो तिहाई है) क्रमशः आठ और पाँच प्रतिनिधि होंगे। इतना ही नहीं, कौंसिल ऑफ़् स्टेट के सदस्य बनने के लिए दो विभिन्न रास्ते हैं। संसार के किसी संघ राज्य में ऐसी व्यवस्था नहीं है कि कुछ मनुष्य बड़ी सभा के सदस्य एक ढंग से बनें और कुछ उसके विपरीत ढंग से। संयुक्त-राज्य-अमरीका और ऑस्ट्रेलिया की बड़ी सभाएँ जनता द्वारा चुनी जाती हैं और वाइमर शासन-विधान के अनुसार जर्मनी की बड़ी सभा के सदस्यों को संघांतरित राज्यों की सरकारें मनोनीत करती थीं। भारतीय संघ राज्य में ब्रिटिश भारतीय प्रांतों के प्रतिनिधि जनता द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से चुने जायँगे और देशी रियासतों के प्रतिनिधि उनके नरेशों द्वारा मनोनीत किये जायँगे। कौंसिल ऑफ़् स्टेट की यह रचना संसार के अन्य संघ राज्यों की बड़ी सभा की रचना को देखते हुए कुछ अपूर्व सी दिखायी पड़ती है।

संघीय असेंबली भी अन्य संघ राज्यों के देखते हुए, नये ढंग की होगी। संसार के सभी संघ राज्यों में छोटी सभा का चुनाव जनसंख्या के आधार पर जनता द्वारा किया जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका, केनाडा, ऑस्ट्रेलिया और स्विटज़रलैंड की छोटी सभाओं के प्रतिनिधि जनता द्वारा चुने जाते हैं और संघांतरित रियासतों के प्रतिनिधियों की संख्या जनसंख्या पर निर्भर होती है। जर्मनी में भी वाइमर शासन-विधान के अनुसार यही व्यवस्था की गयी थी। भारतीय संघ राज्य में इस सिद्धांत के अनुसार निर्वाचन न होगा। बड़ी सभा का चुनाव तो जनता द्वारा होगा, और छोटी सभा अर्थात् हाउस ऑफ़् असेंबली का चुनाव परोक्ष रीति से प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं द्वारा किया जायगा। असेंबली में संघांतरित रियासतों और प्रांतों के प्रतिनिधियों की संख्या, जहाँ तक हो सका, जनसंख्या के आधार पर निश्चित की गयी है।

व्यवस्थापक मंडल की उपर्युक्त रचना के कारण प्रगतिशील भारतवासियों को इस बात का भय है कि कदाचित् संघीय व्यवस्थापक मंडल प्रतिक्रियावादी होगा। कौंसिल ऑफ़् स्टेट के सदस्य तो बड़े आदमी होंगे ही, संभव है कि असेंबली के सदस्य भी इसी प्रकार के हों। ऐसी अवस्था में भारतवर्ष को अपने निर्दिष्ट ध्येय की प्राप्ति में कितने दिन लगेंगे, यह बतलाना कठिन है। यदि ऐसा न हुआ और कुछ राष्ट्रवादी कौंसिल ऑफ़्

स्टेट और असेंबली में पहुँच गये तो वे इतनी अल्प संख्या में होंगे कि उनके लिए कुछ काम करना असंभव सिद्ध होगा। कौंसिल ऑफ़ स्टेट के १०४ सदस्य देशी नरेशों द्वारा मनोनीत किये जायँगे। उनमें सब नहीं, तो अधिकांश सदस्य प्रतिक्रियावादी अवश्य होंगे। ब्रिटिश भारत के १५६ सदस्यों में से केवल ७५ ही साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा चुने जायँगे। संभव है कि इन स्थानों से कुछ प्रगतिशील सदस्य चुने जायँ, पर अधिकांश स्थान प्रतिक्रियावादी सदस्यों को अवश्य मिलेंगे। युरोपियनों और एंगलो इंडियंस के प्रतिनिधि संभवतः भारतीय राष्ट्रवादियों का साथ न देंगे और गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत सदस्य भी शायद इसी प्रकार के होंगे। कुछ मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्रों से भी प्रतिक्रियावादी मनुष्यों के चुने जाने की आशंका है। इस प्रकार कौंसिल ऑफ़ स्टेट में प्रतिक्रिया-वादी सदस्यों का आधिक्य होगा और राष्ट्रवादी अल्प संख्या में होंगे। परोक्ष निर्वाचन और सांप्रदायिक आधार के कारण असेंबली की ओर से भी इसी प्रकार की आशंका है। उसके १२५ स्थान देशी रियासतों को दिये गये हैं। उनके अधिकांश सदस्य देशी नरेशों की भाँति सरकार का साथ देंगे। १०५ साधारण, १९ हरिजन और ६ सिक्ख स्थानों में संभव है कि अधिकांश उन्नतिशील मनुष्यों को मिलें। एंग्लो इंडियंस, युरोपियन, और ज़मींदारों के प्रतिनिधि साधारणतया प्रतिक्रियावादी होंगे। ८२ मुस्लिम स्थानों में से कुछ प्रतिक्रियावादियों को अवश्य मिलेंगे। इस प्रकार राष्ट्रवादियों को यह आशंका है कि शायद असेंबली में भी प्रतिक्रिया-वादियों का आधिक्य हो। यदि संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं में प्रतिक्रियावादियों का जोर हुआ, तो इसमें संदेह नहीं कि भारतीय राष्ट्रीय ध्येय को ठेस लगेगी और भारतीय राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति का काल बढ़ जायगा।

प्रतिक्रियावादी व्यवस्थापक मंडल का मंत्रिमंडल भी साधारणतया प्रतिक्रियावादी होगा। तिस पर भारत-मंत्री के निरीक्षण, गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व और विवेक और व्यक्तिगत् निर्णय के कामों की व्यवस्था की गयी है। ये सब मिल कर राष्ट्रवादियों की आशाओं पर पानी फेर देंगे। वे सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व और हिंदू-मुस्लिम झगड़ों से परेशान हैं ही, नये शासन-विधान के कारण उनकी परेशानी और भी बढ़ जायगी। प्रतिक्रिया-वादी व्यवस्थापक मंडल, प्रतिक्रियावादी मंत्रिमंडल और विशेष उत्तर-

दायित्व और विवेक और व्यक्तिगत् निर्णय के अधिकारों से सुसज्जित गवर्नर जनरल,—ये सब मिल कर भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य को अटल बना देंगे और भारतवर्ष को अपने निर्दिष्ट ध्येय की प्राप्ति में कुछ नयी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

राष्ट्रवादियों की उपर्युक्त आशंकाओं में कुछ सत्यता है इसमें संदेह नहीं। प्रांतीय द्वैध शासन-प्रणाली का अनुभव अभी तक राष्ट्रवादियों को भूला नहीं है। भूत काल के अनुभव के कारण उन्हें ब्रिटिश सरकार की प्रत्येक बात में किसी न किसी प्रकार की चाल का आभास होता है। पर इतना होने पर भी शासन-विधान के वास्तविक रूप का पता तभी चलेगा जब वह कार्यान्वित किया जाय। संभव है कि इंगलैंड के शासन-विधान के समान भारतीय संघ राज्य के शासन-विधान के क़ानूनी और वास्तविक रूप में कुछ वांछनीय अंतर हो जाय। सांसारिक और भारतीय राजनीतिक परिस्थिति के कारण ऐसी आशा बिल्कुल निर्मूल नहीं है। यदि राजनीतिक जागृति बढ़ती गयी और राष्ट्रवादियों का प्रभाव बढ़ता गया तो इसमें संदेह नहीं कि नव शासन-विधान के क़ानूनी और वास्तविक रूपों में कुछ अंतर अवश्य होगा। सांसारिक परिस्थिति के कारण भी यह संभव है कि इंगलैंड के राजनीतिज्ञ भारतीय अशांति के रोकने की चेष्टा करें और शासन-विधान का वास्तविक रूप उसके क़ानूनी रूप से कुछ भिन्न हो जाय। लेकिन इन आशाओं के आधार पर नव शासन-विधान को भारतवर्ष के लिए उपयुक्त बतलाना ठीक नहीं। क़ानूनी दृष्टि से वह प्रतिक्रियावादी है, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

प्रांतीय सरकार और प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल

ब्रिटिश भारतीय प्रांत—प्रांतीय गवर्नर और चीफ़ कमिश्नर—गवर्नरों के आदेशपत्र—प्रांतीय मंत्रिमंडल—गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व—प्रांतीय गवर्नरों के अधिकार—शासन संबंधी अधिकार; व्यवस्थापक मंडल संबंधी अधिकार; आर्थिक अधिकार; पृथक अथवा कमोवेश पृथक प्रदेशों का शासन—अधिकारों की सीमा—प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल—प्रांतीय लेजिस्लेटिव कौंसिलों की रचना—प्रांतीय असेंबलियों की रचना—प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों की योग्यताएँ—कौन व्यक्ति व्यवस्थापक मंडल के सदस्य नहीं हो सकते—लेजिस्लेटिव कौंसिलों के निर्वाचकों की योग्यताएं—लेजिस्लेटिव असेंबलियों के निर्वाचकों की योग्यताएं—दलित जातियों के स्थानों की विशेष व्यवस्था—व्यवस्थापक मंडलों की रचना पर दृष्टिपात्—वोटरों की संख्या की वृद्धि; दलित जातियों का यथेष्ट प्रतिनिधित्व; सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली; व्यवस्थापक मंडलों की बड़ी सभाएं—सभापति, उप-सभापति, स्पीकर, डिप्टी स्पीकर—सदस्यों के अधिकार—व्यवस्थापक मंडल का कार्यारंभ—व्यवस्थापक मंडल की नियम-निर्माण-प्रणाली—प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के अधिकार—शासन निरीक्षणाधिकार; नियम निर्माणाधिकार; आर्थिक अधिकार; अधिकारों की सीमा—प्रांतीय सरकार और प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल का संबंध—प्रांतीय स्वराज्य।

प्रांतीय सरकार

ब्रिटिश भारतीय प्रांत—संघ राज्य के अतिरिक्त, नये शासन-विधान की दूसरी विशेषता है प्रांतीय स्वराज्य। प्लासी के युद्ध के पश्चात् जैसे जैसे भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ता गया था, वैसे वैसे शासन सुभीते के लिए नये नये प्रांत बनते गये थे। उस समय प्रांतों के निर्माण में न तो भाषा की एकता पर ध्यान दिया गया था और न सांस्कृतिक एकता पर। शासन-संचालन में सुभीता हो, यही उन प्रांतों के निर्माण का मूल सिद्धांत था। कालांतर में भारतीय जनता ने इस अवैज्ञानिक आधार के प्रति असंतोष प्रगट किया, और इस बात पर ज़ोर दिया कि भारतीय प्रांत किसी वैज्ञानिक आधार पर बनाये जायँ। नये शासन-विधान के अनुसार, किसी वैज्ञानिक आधार पर प्रांतों का पुनर्निर्माण

तो नहीं किया गया है पर उड़ीसा और सिंध के दो नये प्रांत बनाये गये हैं और बर्मा का प्रांत ब्रिटिश भारत से अलग कर दिया गया है। आर्थिक दृष्टि-कोण से दोनों नये प्रांत संतोषप्रद नहीं हैं। उनका व्यय आय से अधिक है और अपनी आर्थिक स्थिरता के लिए वे संघ राज्य की सहायता पर निर्भर हैं।

नये शासन-विधान के अनुसार ब्रिटिश भारतीय प्रांत दो प्रकार के हैं, गवर्नरों के प्रांत और चीफ़ कमिश्नरों के प्रांत। गवर्नरों के प्रांत निम्नलिखित हैं—

पश्चिमोत्तर प्रदेश, पंजाब, संयुक्त प्रांत, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, आसाम, मद्रास, बंबई, मध्य प्रांत और बरार, और सिंध। चीफ़ कमिश्नरों के प्रांत निम्नलिखित हैं—

ब्रिटिश बिलोचिस्तान, अजमेर मारवाड़ा, दिल्ली, कुर्ग, अंडमान नीकोबार, और पंच पिपलोदा।

स-कौंसिल सम्राट को अपने ऑर्डर द्वारा नये प्रांतों के बनाने और पुराने प्रांतों के क्षेत्रफल के घटाने या बढ़ाने या सीमा परिवर्तन करने का अधिकार दिया गया है। निम्नलिखित तालिका से हमें ब्रिटिश भारतीय प्रांतों की जनसंख्या और क्षेत्रफल का पता चलता है—

प्रांत	वर्गमील क्षेत्रफल	कुल जनसंख्या	मुसल्मानों की जनसंख्या	प्रतिशत् मुसल्मान जनसंख्या
मद्रास	१,२६,६६३	४,४१,८३,६०९	३२,९०,२९४	७.४
बंबई	७७,२२१	१,८१,९२,४७५	१६,०२,३८५	८.८
बंगाल	७२,५१४	५,०१,१४,००२	२,७४,९७,६२४	५४.८
संयुक्त प्रांत	१,०६,२४८	४,८४,०८,७६३	७,११,९२७	१४.८
पंजाब	९१,९१९	२,३५,५१,२१०	१,३३,०२,९९१	५६.१
बिहार	६९,३४८	३,२३,७१,४३४	४१,४०,३२७	१२.८
मध्य प्रांत और बरार	९९,९२०	१,५५,०७,७२३	६,८२,८५४	४.४
आसाम	२७,५७२	८२,१४,०७६	२७,५३,५६३	३२.२
पश्चिमोत्तर प्रदेश	१३,५१८	२४,२५,००३	२२,२७,३०३	९१.८
उड़ीसा	३२,६८१	८१,७४,२५१	१,३१,२३३	१.६
सिंध	४६,३७८	३८,८७,०७०	२८,३०,८००	७३.१

प्रांतीय गवर्नर और चीफ़ कमिश्नर—नये शासन-विधान के अनुसार सम्राट की ओर से काम करने के लिए, चीफ़ कमिश्नरों के प्रांतों के अतिरिक्त प्रत्येक प्रांत में एक गवर्नर होता है। वह प्रांतीय सरकार का सर्वोच्च पदाधिकारी होता है और सम्राट द्वारा पाँच बरस के लिए नियुक्त किया जाता है। शासन-विधान के तीसरे परिशिष्ट के अनुसार उसे वेतन और भत्ता मिलता है। वेतन की दृष्टि से सब गवर्नरों का स्थान एकसा नहीं मालूम होता। भत्ते के अतिरिक्त, बंगाल, मद्रास, बंबई और संयुक्त प्रांत के गवर्नरों को १,२०,००० रुपये सालाना वेतन मिलता है; पंजाब और बिहार के गवर्नरों को १,००,००० रुपये सालाना; मध्य प्रांत और बरार के गवर्नरों को ७२,००० रुपये सालाना; आसाम, पश्चिमोत्तर प्रदेश, उड़ीसा और सिंध के गवर्नरों को ६६,००० रुपये सालाना। छुट्टी के भत्ते में भी इसी प्रकार की विभिन्नता है। मद्रास, बंबई, बंगाल, संयुक्त प्रांत, बिहार, और पंजाब के गवर्नरों को छुट्टी के लिए ४,००० रुपये मासिक भत्ता मिलता है; मध्य प्रदेश के गवर्नर को ३,००० रुपये मासिक, और आसाम, पश्चिमोत्तर प्रदेश, सिंध और उड़ीसा के गवर्नरों को २,७५० रुपये मासिक। इसके अतिरिक्त पुरानी प्रथा के अनुसार बंबई, मद्रास, और बंगाल के गवर्नरों को सम्राट भारत-मंत्री की सिफ़ारिश पर नियुक्त करते हैं और अन्य प्रांतों के गवर्नरों को वाइसराय की सिफ़ारिश पर। बंगाल, मद्रास और बंबई के गवर्नर, भारत-मंत्री से सीधे पत्र-व्यवहार कर सकते हैं, और भारत-सरकार के किसी ऑर्डर के प्रतिकूल उनसे अपील कर सकते हैं। अन्य प्रांतों के गवर्नरों को ये अधिकार नहीं दिये गये हैं। बंबई, मद्रास और बंगाल के गवर्नर साधारणतया इंगलैंड के सार्वजनिक जीवन के प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं और अन्य प्रांतों के गवर्नर भारतीय सिविल सर्विस के पुराने और अनुभवी सदस्य। नये शासन-विधान में भारतवासियों की इस मांग की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है कि गवर्नरों के पदों पर इंगलैंड के सार्वजनिक जीवन के ही प्रभावशाली व्यक्ति नियुक्त किये जायँ, सिविल सर्विस के सदस्य नहीं। कितने गवर्नरों के पद पर भारतवासी नियुक्त किये जायँगे, एक्ट में इस विषय की भी कोई धारा नहीं है।

चीफ़ कमिश्नरों के प्रांत गवर्नर जनरल के अधीन हैं। वे इन प्रांतों का शासन चीफ़ कमिश्नरों के ज़रिये से करते हैं। इन पदाधिकारियों को

वे अपने इच्छानुकूल अधिकार समर्पित करते हैं और अपने विवेक के अनुसार नियुक्त करते हैं। नये शासन-विधान में ब्रिटिश बिलोचिस्तान की विशेष व्यवस्था की गयी है। संघ राज्य का कोई एक्ट ब्रिटिश बिलोचिस्तान पर तब तक लागू न होगा जब तक गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार तत्संबंधी सार्वजनिक घोषणा न करें। ऐसी घोषणा करते समय गवर्नर जनरल उस एक्ट में, ब्रिटिश बिलोचिस्तान के लिए, जो संशोधन आवश्यक समझेंगे, कर सकेंगे। ब्रिटिश बिलोचिस्तान की शांति और सुव्यवस्था के लिए गवर्नर जनरल को नियम बनाने का अधिकार दिया गया है, और इन नियमों के जरिये से, वे संघीय व्यवस्थापक मंडल के बनाये गये नियमों में, ब्रिटिश बिलोचिस्तान के लिए आवश्यकतानुकूल संशोधन कर सकते हैं।

गवर्नरों के आदेशपत्र—गवर्नर जनरल की भांति गवर्नरों को भी, नियुक्ति के समय एक आदेशपत्र मिलता है। इसमें इस बात का उल्लेख होता है कि वे अपने अधिकारों का उपयोग किस प्रकार से करेंगे। गवर्नर जनरल के आदेशपत्र की भांति इन आदेशपत्रों का भी मसविदा अथवा उनके संशोधन का मसविदा, भारत-मंत्री पार्लमेंट में पेश करते हैं, और जब तक पार्लमेंट की दोनों सभाएँ सम्राट से उनके जारी करने की प्रार्थना न करें, तब तक उन पर कोई कार्रवाई नहीं की जाती। गवर्नरों के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वे आदेशपत्रों के अनुसार ही काम करें। नये शासन-विधान की ५३ (२) धारा में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि गवर्नर आदेशपत्र के प्रतिकूल कोई काम करेंगे तो आदेशपत्र के आधार पर वह काम गलत न ठहराया जा सकेगा। गवर्नरों के आदेशपत्रों की महत्वपूर्ण धाराओं का भावार्थ निम्नलिखित है—

मंत्रिमंडल को बनाते समय गवर्नर उस व्यक्ति के परामर्श से मंत्रियों को नियुक्त करेंगे, जिसके साथ उनके विचार में प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल का बहुमत हो। वे अल्प संख्यक जन-समुदायों के प्रतिनिधियों को, जहाँ तक हो सकेगा, शामिल करने की कोशिश करेंगे, और इस बात का ध्यान रखेंगे कि समस्त मंत्रिमंडल में व्यवस्थापक मंडल का विश्वास हो। वे मंत्रिमंडल के संयुक्त उत्तरदायित्व पर जोर देंगे।

प्रांतीय गवर्नर अपने शासन संबंधी अधिकारों का उपयोग मंत्रियों के

परामर्श से तव तक करेंगे जव तक उनके विशेष उत्तरदायित्व की वातों पर बुरा असर न पड़ता हो। विशेष उत्तरदायित्व पर बुरा असर पड़ने पर, वे मंत्रियों के परामर्श के प्रतिकूल व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार कार्य संपादन करेंगे, पर इस बात का ध्यान रखते हुए कि उनके विशेष उत्तर-दायित्व के सहारे, मंत्री लोग उस उत्तरदायित्व से मुक्त न हो जायँ, जो वास्तव में उनका है।

समस्त प्रांतीय गवर्नरों के आदेशपत्र प्रायः एकसे होते हैं। मध्य-प्रांत और वरार के गवर्नर के आदेशपत्र में निज़ाम के संवंध की दो अधिक धाराएं होती हैं, और पश्चिमोत्तर प्रदेश के गवर्नर के आदेशपत्र में ट्राइवल प्रदेशों के संवंध की एक अधिक धारा।

प्रांतीय मंत्रिमंडल—नये शासन-विधान के अनुसार प्रत्येक प्रांत के शासन में गवर्नर की सहायता करने और उनको परामर्श देने के लिए एक मंत्रिमंडल होता है। एक्ट में मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या अनिश्चित छोड़ दी गयी है। गवर्नर अपने विवेक के अनुसार मंत्रियों को नियुक्त करते हैं, और अपने विवेक के अनुसार मंत्रिमंडल के अधिवेशनों में सभापति का आसन ग्रहण कर सकते हैं। शासन-विधान की धाराओं के अनुसार गवर्नर किसी भी व्यक्ति को मंत्री के पद पर नियुक्त कर सकते हैं, पर इस शर्त पर कि नियुक्ति के पश्चात् छः मास के अंदर वह व्यवस्थापक मंडल का सदस्य वन जाय। इस धारा के अनुसार वह मनुष्य जो व्यवस्थापक मंडल अथवा असेंवली[1] का सदस्य नहीं है, छः महीने से अधिक मंत्री नहीं रह सकता। मंत्रियों का कार्यकाल गवर्नर की इच्छा पर निर्भर होता है। उन्हें प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल या असेंवली द्वारा निर्धारित वेतन मिलता है, पर इस शर्त पर कि उनके कार्यकाल में उनका वेतन घटाया नहीं जा सकता। किसी न्यायालय में यह नहीं पूछा जा सकता कि मंत्रियों ने गवर्नर को परामर्श दिया अथवा नहीं और यदि

---

(१) नये शासन-विधान के अनुसार छः प्रांतों में नियम-निर्माण के लिए, लेजिस्लेटिव कौंसिल और लेजिस्लेटिव असेंवली, इन दो सभाओं की व्यवस्था की गयी है। इन दोनों सभाओं का सामूहिक नाम व्यवस्थापक मंडल है। जिन प्रांतों में केवल एक ही सभा है, वहां उसको असेंवली या व्यवस्थापक सभा कहते हैं।

दिया तो क्या परामर्श दिया। प्रांतीय शासन संबंधी नव शासन-विधान की उपर्युक्त धाराओं का वास्तविक अर्थ समझने के लिए आदेशपत्र की तत्संबंधी धाराओं का ज्ञान आवश्यक है। संघ-शासन की भाँति प्रांतीय शासन के क़ानूनी और वास्तविक रूप में आदेशपत्रों के कारण काफ़ी अंतर हो गया है। आदेशपत्र की इस संबंध की महत्वपूर्ण धाराओं का भावार्थ ऊपर दिया जा चुका है।

गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व—नये शासन-विधान के अनुसार प्रांतों में द्वैध शासन-प्रणाली का तो अंत हो गया है, पर उनको पूर्ण रूप से उत्तरदायी शासन नहीं दिया गया है। गवर्नर जनरल की भाँति गवर्नरों के भी कई विशेष उत्तरदायित्व निर्धारित किये गये हैं जिनकी पूर्ति के लिए उन्हें व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार काम करने का अधिकार मिला है। उनका भावार्थ निम्नलिखित है—

(१) प्रांत या उसके किसी भाग में शांति भंग करने वाले ख़तरों का निवारण।

(२) अल्प संख्यक जन-समुदायों के उचित हितों की रक्षा करना।

(३) सरकारी नौकरियों के सदस्यों और उनके आश्रितों को शासन-विधान द्वारा दिये गये अधिकारों को दिलाना और उनके उचित अधिकारों की रक्षा करना।

(४) युनाइटेड किंगडम और वर्मा के बने हुए आयात-माल के संबंध में ऐसे कामों को रोकना जिनके कारण इस माल के साथ भेदभाव संबंधी नीति का व्यवहार होता हो।

(५) प्रांत के जिन भागों को, नये शासन-विधान के अनुसार पृथक् प्रदेश (Excluded areas) घोषित किया जाय उनके शासन और सुव्यवस्था की व्यवस्था करना।

(६) देशी रियासतों के अधिकारों और उनके नरेशों के अधिकारों और मर्यादा की रक्षा करना।

(७) गवर्नर जनरल के उन आदेशों पर अमल करना जो वे अपने व्यक्तिगत् निर्णय अथवा विवेक के कामों के लिए जारी करें।

उपर्युक्त विषयों का शासन प्रांतीय गवर्नर व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार करते हैं। इनके अतिरिक्त वे अनेक काम अपने विवेक के अनुसार भी कर सकते हैं। प्रांतीय शासन में विवेक और व्यक्तिगत् निर्णय के कामों में वही अंतर है जो संघीय शासन में। विवेक और व्यक्तिगत् निर्णय के कामों को गवर्नर, गवर्नर जनरल के निरीक्षण में उनके आदेशानुकूल करते हैं।

विशेष उत्तरदायित्व, और विवेक एवं व्यक्तिगत् निर्णय के कामों के कारण कुछ लोग कहते हैं, कि प्रांतों में द्वैध शासन-प्रणाली का अस्तित्व अब तक बाक़ी है। केवल उसका नाम बदल दिया गया है। कुछ अंश में यह बात ठीक भी मालूम होती है। किंतु भारतीय राजनीतिक परिस्थिति के कारण, यह संभव है कि शायद इस प्रकार की भी द्वैध शासन-प्रणाली प्रांतों में न रह पाये। प्रांतीय शासन के कार्यान्वित रूप की विवेचना हम आगे चलकर करेंगे।

प्रांतीय गवर्नरों के अधिकार—नये शासन-विधान में प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था होते हुए भी, गवर्नरों को कई महत्वपूर्ण अधिकार दिये गये हैं। हम उनको निम्नलिखित चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(अ) शासन संबंधी अधिकार—गवर्नरों को अपने विवेक के अनुसार मंत्रियों को नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है और मंत्री लोग तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक गवर्नर चाहें। आदेशपत्र की धाराओं के कारण गवर्नर इस अधिकार का उपयोग उस प्रकार नहीं कर सकते जैसा उपर्युक्त भाषा से विदित होता है। अपने विवेक के अनुसार गवर्नर को मंत्रिमंडल के अधिवेशनों में सभापति का आसन ग्रहण करने का अधिकार दिया गया है। व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार गवर्नर प्रांतीय एडवोकेट जनरल को नियुक्त करते हैं, उसका वेतन निर्धारित करते हैं, और उसको बरख़ास्त कर सकते हैं।

शासन-विधान की ५७ धारा के अनुसार, शांति और सुव्यवस्था का विभाग मंत्रियों के अधीन होने पर भी, गवर्नर, नियमानुकूल स्थापित सरकार को उलटने वाले षड़यंत्रों के कारण अथवा ऐसे हिंसात्मक आचरणों के कारण, जिनसे प्रांत की शांति और सुव्यवस्था के भंग होने की

आशंका है, ऐसी घोषणा कर सकते हैं कि इन ख़तरों का मुक़ाबला करने के लिए, जब तक इस संबंध की दूसरी घोषणा न की जाय, वे अपने विवेक के अनुसार प्रांतीय शासन का संचालन करेंगे। इस संबंध की घोषणा जब तक जारी रहेगी, तब तक के लिए, गवर्नर प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा अथवा दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में भाग लेने के लिए किसी सरकारी पदाधिकारी को नियुक्त कर सकते हैं। इन पदाधिकारियों को केवल वादविवाद में भाग लेने का अधिकार दिया गया है, वोट देने का अधिकार नहीं।

नये शासन-विधान के अनुसार गवर्नरों को अपने विवेक के अनुसार ऐसे नियमों के बनाने का अधिकार दिया गया है जिनके कारण उपर्युक्त अपराधों की सूचना कैसे मिली, इस विषय के कागज़ात पुलिस का एक सदस्य दूसरे सदस्य को, पुलिस इंसपेक्टर जनरल अथवा कमिश्नर के आदेश के अनुकूल ही दिखा सके। सूचना देने के संबंध में भी ऐसी ही व्यवस्था की गयी है। जब तक गवर्नर अपने विवेक के अनुसार इस संबंध का आदेश न दें तब तक किसी अन्य व्यक्ति को न तो इस प्रकार की सूचना ही दी जा सकती है और न कागज़ात ही दिखाये जा सकते हैं। प्रांतीय सरकारी नौकर भी गवर्नर के ऐसे आदेश के अनुकूल ही, इस संबंध की सूचना दूसरे मनुष्यों को दे सकते हैं।

प्रांतीय शासन के सारे काम गवर्नर के नाम पर किये जाते हैं। उनके नाम पर जारी किये गये सारे ऑर्डर और किये गये सारे काम नियमानुकूल और ठीक समझे जाते हैं। प्रांतीय शासन-संचालन की सुगमता के लिए वे नियम बनाते हैं और मंत्रियों का काम निर्धारित करते हैं। इन नियमों में वे नियम भी शामिल हैं जिनके कारण मंत्रियों या गवर्मेंट सिकतरियों को प्रांतीय शासन के नियमानुकूल निर्धारित मामलों की सारी सूचना गवर्नर को देनी पड़ती है, विशेष रूप से उन मामलों की सूचना जिनका गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व पर कुछ प्रभाव पड़ता हो। उपर्युक्त नियमों के बनाने के पूर्व गवर्नर अपने मंत्रियों का परामर्श लेते हैं, पर नियमों का अंतिम रूप उनके विवेक पर निर्भर होता है।

विधानयुक्त शासन के असफल होने पर, गवर्नर अपने विवेक के अनुसार घोषणा द्वारा घोषणांतरित सारे काम अपने विवेक के अनुसार

कर सकते हैं, और आवश्यकतानुसार, हाई कोर्ट के अधिकारों के अतिरिक्त, किसी प्रांतीय पदाधिकारी अथवा संस्था के अधिकारों को स्वयं ले सकते हैं। इस प्रकार की घोषणा की सूचना बज़रिये भारत-मंत्री पार्लमेंट को देनी पड़ती है और दूसरी घोषणा द्वारा रद की जा सकती है। यदि छः महीने के अंदर रद की जाने वाली घोषणा न की जाय तो इस अवधि के पश्चात् वह स्वयं समाप्त समझी जाती है। यदि पार्लमेंट की दोनों सभाएं इस घोषणा के काल बढ़ाने के पक्ष में प्रस्ताव पास करें, तो एक एक साल करके अधिक से अधिक तीन साल तक इसका कार्यकाल बढ़ाया जा सकता है।

(व) व्यवस्थापक मंडल संबंधी अधिकार—प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल का साल में कम से कम एक अधिवेशन अवश्य होता है, किंतु गवर्नर को अपने विवेक के अनुसार प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं अथवा एक सभा के बुलाने एवं विसर्जित करने और प्रांतीय असेंबली को भंग करने का अधिकार दिया गया है। अपने विवेक के अनुसार गवर्नर प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन अथवा किसी सभा के अधिवेशन में भाषण दे सकते हैं और अपना संदेश भेज सकते हैं। गवर्नर या उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सम्मुख व्यवस्थापक मंडल अथवा सभा के सदस्यों को राजभक्ति की शपथ खानी पड़ती है। यदि कोई सदस्य व्यवस्थापक मंडल से अलग होना चाहता है तो वह अपना त्यागपत्र गवर्नर के पास भेजता है। यदि कोई व्यक्ति व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं का सदस्य चुना जाता है तो गवर्नर के व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार बनाये गये नियमों के अनुकूल उसे एक सभा की सदस्यता छोड़नी पड़ती है। यदि कोई व्यक्ति संघीय और प्रांतीय दोनों व्यवस्थापक मंडलों का सदस्य चुना जाता है तो गवर्नर के व्यक्तिगत् निर्णय के द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार, उसका स्थान प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल में रिक्त हो जाता है, यदि वह निर्धारित अवधि के पूर्व संघीय व्यवस्थापक मंडल की सदस्यता को न त्याग दे।

प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल अथवा प्रांतीय असेंबली द्वारा पास किये गये प्रस्ताव गवर्नर की अनुमति बिना क़ानून नहीं बन सकते। गवर्नर को अपने विवेक के अनुसार किसी प्रस्ताव के संबंध में अनुमति देने, न देने या उसे गवर्नर जनरल की आज्ञा के लिए रिज़र्व करने का अधिकार

दिया गया है। वे अपने विवेक के अनुसार किसी प्रस्ताव को व्यवस्थापक मंडल में पुनर्विचार के लिए भेज सकते हैं, और शासन-विधान की ८६ (२) धारा के अनुसार शांति और सुव्यवस्था संबंधी विशेष उत्तर-दायित्व से संबंध रखने वाले व्यवस्थापक मंडल के विचाराधीन किसी प्रस्ताव का विचार बंद करा सकते हैं। यदि व्यवस्थापक मंडल की एक सभा किसी प्रस्ताव को पास करती है, और दूसरी सभा उसको पास नहीं करती या दूसरी सभा में भेजे जाने के एक बरस बाद तक वह प्रस्ताव गवर्नर के पास अनुमति के लिए नहीं भेजा जाता तो गवर्नर दोनों सभाओं का संयुक्त अधिवेशन करा सकते हैं। इस प्रकार के संयुक्त अधिवेशन के बहुमत का निर्णय दोनों सभाओं का निर्णय समझा जाता है।

नये शासन-विधान की ८८ और ८९ धाराओं के अनुसार गवर्नरों को ऑर्डीनेंसें जारी करने का अधिकार दिया गया है। ८८ वीं धारा के अनुसार जब व्यवस्थापक मंडल अथवा असेंबली का अधिवेशन न होता हो उस समय गवर्नर व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार किसी विशेष परिस्थिति के कारण ऑर्डीनेंसें जारी कर सकते हैं। ऐसी ऑर्डीनेंसें व्यवस्थापक मंडल के अधिवेशन आरंभ होने के छः सप्ताह पश्चात् स्वयं समाप्त हो जायँगी और इसके पहले भी यदि व्यवस्थापक मंडल अथवा सभा उनके वापस लिये जाने का प्रस्ताव पास करे या गवर्नर स्वयं उनको वापस कर लें। ८९ वीं धारा के अनुसार गवर्नर को किसी विशेष परिस्थिति के कारण उन विषयों के संबंध में ऑर्डीनेंसें जारी करने का अधिकार दिया गया है जो उनके व्यक्तिगत् निर्णय और विवेक पर छोड़ दिये गये हैं। ऐसी ऑर्डीनेंसों का कार्यकाल अधिक से अधिक छः महीना हो सकता है पर वह छः महीने के लिए और बढ़ाया जा सकता है। ये ऑर्डीनेंसें सम्राट द्वारा रद्द की जा सकती हैं और गवर्नरों द्वारा वापस ली जा सकती हैं।

शासन-विधान की ९० धारा में गवर्नर के एक्ट की व्यवस्था की गयी है। विवेक और व्यक्तिगत् निर्णय के कामों को संतोषपूर्वक करने के लिए गवर्नरों को अपने एक्ट जारी करने का अधिकार दिया गया है। ऐसे एक्टों की सूचना वज़रिये गवर्नर जनरल भारत-मंत्री को देनी पड़ती है और वे उन्हें पार्लमेंट के समक्ष उपस्थित करते हैं।

(स) आर्थिक अधिकार—नये शासन-विधान में गवर्नरों को

कुछ आर्थिक अधिकार भी दिये गये हैं। प्रांतीय व्यय की सारी माँगें गवर्नर की सिफ़ारिश पर प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल अथवा सभा में पेश की जाती हैं। प्रतिवर्ष गवर्नर प्रांतीय आय-व्यय का व्योरा व्यवस्थापक मंडल में पेश कराते हैं। व्यय के दो भाग होते हैं—

(१) प्रांतीय व्यय का वह भाग जिसका उल्लेख एक्ट में किया गया है।

(२) वह प्रांतीय व्यय जिसकी माँग प्रथम भाग के अतिरिक्त पेश की जाती है।

अमुक माँग प्रथम भाग की है अथवा द्वितीय, इसका निर्णय गवर्नर अपने विवेक के अनुसार करते हैं। प्रथम भाग की मांग पर प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल अथवा सभा को वोट देने का अधिकार नहीं है पर वह उस पर तर्क-वितर्क अवश्य कर सकता है। द्वितीय भाग की माँगें प्रांतीय असेंवली के वोट पर निर्भर होती हैं। यदि असेंवली किसी माँग को मंजूर नहीं करती या उसको कम करती है, और उसका संवंध गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व से होता है, तो गवर्नर घटायी गयी अथवा अस्वीकृत माँग को पुनः असेंवली में पेश करा सकते हैं। इस वार उस पर न तो वहस ही हो सकती है और न वोटिंग। वह मांग अव स्वतः मंजूर समझी जाती है। स्वीकृत रकम के समाप्त हो जाने के पश्चात्, गवर्नर व्यवस्थापक मंडल अथवा सभा के सामने पूरक माँगे (Supplementary demands) पेश करा सकते हैं।

(द) पृथक अथवा कमोवेश पृथक प्रदेशों का शासन—स-कौंसिल सम्राट अपने ऑर्डर द्वारा प्रांत के पृथक (Excluded) अथवा कमोवेश पृथक (Partially Excluded) प्रदेशों की घोषणा कर सकते हैं। इन प्रदेशों का शासन प्रांतीय सरकार के अधीन होता है पर संघीय अथवा प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल का कोई नियम गवर्नर की सार्वजनिक घोषणा के विना इन प्रदेशों पर लागू नहीं हो सकता। घोषणा में यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि अमुक एक्ट इन प्रदेशों पर कहाँ तक लागू होगा। इन प्रदेशों की शांति और सुशासन के लिए गवर्नर को अपने नियम वनाने का अधिकार दिया गया है और इन नियमों द्वारा उपर्युक्त प्रदेशों के शासन के लिए कोई भी संघीय, प्रांतीय अथवा भारतीय नियम संशोधित एवं रद्द किया जा सकता है। इन प्रदेशों का शासन गवर्नर अपने विवेक के अनुसार करते हैं।

गवर्नर को अपने विवेक के अनुसार ऐसी व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया है जिसके कारण ⅓ सदस्य तीन बरस के लिए चुने जायँ, ⅓ छः बरस के लिए, और शेष ⅓ नव बरस के लिए। कौंसिल का कोई स्थान यदि रिक्त हो जाता है तो नया सदस्य पूर्व सदस्य के शेष काल के ही लिए चुना जाता है।

प्रांतीय असेंबलियों की रचना—प्रांतीय असेंबलियों की रचना का पता हमें निम्नलिखित तालिका से चलता है—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९
		साधारण स्थान												महिलाओं के स्थान				
प्रांत	कुल स्थान	कुल साधारण स्थान	दलित जातियों के लिए सुरक्षित साधारण स्थान	असभ्य जिलों और जातियों के प्रतिनिधियों के स्थान	सिक्ख	मुसलमान	ऐंग्लो-इंडियन	यूरोपियन	भारतीय ईसाई	वाणिज्य व्यवसाय आदि	ज़मींदार	विश्वविद्यालय	मज़दूर	साधारण	सिक्ख	मुसलमान	ऐंग्लो-इंडियन	भारतीय ईसाई
मद्रास ..	२१५	१४६	३०	१	०	२८	२	३	८	६	६	१	६	६	०	१	०	१
बंबई ..	१७५	११४	१५	१	०	२९	२	३	३	७	२	१	७	५	०	१	०	०
बंगाल ..	२५०	७८	३०	०	०	११७	३	११	२	१९	५	२	८	२	०	२	१	०
संयुक्त प्रांत ..	२२८	१४०	२०	०	०	६४	१	२	२	३	६	१	३	४	०	२	०	०
पंजाब ..	१७५	४२	८	०	३१	८४	१	१	२	१	५	१	३	१	१	२	०	०
बिहार ..	१५२	८६	१५	७	०	३९	१	२	१	४	४	१	३	३	०	१	०	०
मध्यप्रांत और बरार	११२	८४	२०	१	०	१४	१	१	०	२	३	१	२	३	०	०	०	०
आसाम ..	१०८	४७	७	९	०	३४	०	१	१	११	०	०	४	१	०	०	०	०
पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत	५०	९	०	०	३	३६	०	०	०	०	२	०	०	०	०	०	०	०
उड़ीसा ..	६०	४४	६	५	०	४	०	०	१	१	२	०	१	२	०	०	०	०
सिंध ..	६०	१८	०	०	०	३३	०	२	०	२	२	०	१	१	०	१	०	०

इस तालिका से हमें विदित होता है कि असेंबली के निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रांत सांप्रदायिक आधार पर बारह प्रकार के निर्वाचन-संघों में विभक्त किया गया है। संयुक्त प्रांत में १४० सदस्य साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों से चुने जायँगे, ६४ मुस्लिम, १ ऐंग्लो इंडियन, २ युरोपियन, ३ वाणिज्य-व्यवसाय आदि, ६ ज़मींदार, १ विश्वविद्यालय, ३ मज़दूर, और ६ महिला-निर्वाचन-क्षेत्रों से। साधारण स्थानों में से २० स्थान दलित जातियों के लिए सुरक्षित कर दिये गये हैं। कुछ प्रांतों में असभ्य प्रदेशों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी है और पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश में सिक्खों के प्रतिनिधित्व की। महिला-स्थान भी साधारण और मुस्लिम महिला-स्थानों के अतिरिक्त सिक्ख, ऐंग्लो इंडियन, और भारतीय ईसाई महिला-स्थानों में विभक्त किये गये हैं। इस प्रकार दलित जातियों के सुरक्षित स्थान, और महिला-स्थानों के वितरण को मिला कर असेंबली के निर्वाचन के लिए भारतीय प्रांत सत्रह प्रकार के प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों में विभक्त किये गये हैं और उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो सांप्रदायिक आधार पर बनाये गये हैं। असेंबली का कार्यकाल पाँच वरस निश्चित किया गया है। वह इसके पहले भी भंग की जा सकती है। पाँच वरस समाप्त होने पर वह स्वतः भंग हो जाती है चाहे उसके भंग होने की घोषणा की जाय अथवा न की जाय। असेंबली के रिक्त स्थान पूर्व सदस्यों के शेष काल के लिए ही भरे जाते हैं।

प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों की योग्यताएं— नव शासन-विधान के पाँचवें परिशिष्ट में व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों की योग्यताओं का उल्लेख किया गया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) ब्रिटिश प्रजा होना, या संधांतरित देशी नरेश होना, अथवा देशी रियासत की प्रजा होना या किसी ऐसी देशी रियासत की प्रजा अथवा नरेश होना जिसकी व्यवस्था कर दी जाय।

(२) लेजिस्लेटिव कौंसिल के लिए कम से कम ३० वरस की आयु का होना और असेंबली के लिए २५ वरस की।

(३) उस निर्वाचक-संघ में जहाँ से वह खड़ा हो रहा है या उसी प्रकार के अन्य निर्वाचक-संघों में मताधिकारी होना।

(४) उन अयोग्यताओं से मुक्त होना जिनका उल्लेख नये शासन-विधान की ६९ वीं धारा में किया गया है।

कौन व्यक्ति व्यवस्थापक मंडल के सदस्य नहीं हो सकते—जिन मनुष्यों में उपर्युक्त योग्यताएँ नहीं हैं वे व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा के सदस्य नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त निम्न-लिखित अयोग्यताओं वाले मनुष्य भी व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं की सदस्यता से वंचित रखे गये हैं।

(१) वैतनिक सरकारी कर्मचारी, जब तक वे किसी ऐसे पद पर न हों जिसको प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल इस अयोग्यता से मुक्त कर दे।

(२) वे मनुष्य जिनके दिमाग़ को उपयुक्त न्यायालय ने ख़राब ठहराया हो।

(३) दिवालिये

(४) वे मनुष्य स-कौंसिल सम्राट अथवा प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा निर्धारित काल के लिए प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्य नहीं हो सकते जो स-कौंसिल सम्राट अथवा प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा निर्धारित किसी निर्वाचन संबंधी मामले में प्रांतीय स्वराज्य के स्थापित होने के पूर्व अथवा पश्चात् दोषी ठहराये गये हों।

(५) वे मनुष्य अपनी रिहाई के पाँच बरस बाद तक प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्य नहीं हो सकते जिनको प्रांतीय स्वराज्य की स्थापना के पूर्व अथवा पश्चात् आजन्म काले पानी की सज़ा मिली हो या कम से कम दो बरस के क़ैद की। गवर्नर अपने विवेक के अनुसार इस अवधि को घटा सकते हैं। सज़ा देने का अधिकार ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के न्यायालयों को दिया गया है।

(६) स-कौंसिल सम्राट के आर्डर या संघीय व्यवस्थापक मंडल के नियम द्वारा निर्धारित अवधि के बाद से पाँच बरस तक वे मनुष्य प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्य नहीं हो सकते जो निर्वाचन संबंधी व्यय का ब्योरा नहीं भेजते।

वे मनुष्य व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा के सदस्य नहीं चुने जा सकते जो काले पानी अथवा किसी फ़ौजदारी अपराध की सज़ा भोग रहे

हों। यदि कोई ऐसा व्यक्ति व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा में बैठता है और वोट देता है जो उपर्युक्त अयोग्यताओं के कारण सदस्यता के अधिकार से वंचित है तो उससे ५०० रुपये रोज़ के हिसाब से जुर्माना लेने की व्यवस्था की गयी है।

लेजिस्लेटिव कौंसिलों के निर्वाचकों की योग्यताएँ—
प्रांतीय लेजिस्लेटिव कौंसिलों के निर्वाचकों की योग्यताएं विभिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न रखी गयी हैं। साधारणतया हम उनको चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) निवास संबंधी योग्यताएँ।

(२) साधारण योग्यताएँ।

(३) स्त्रियों की विशेष योग्यताएँ। और

(४) दलित जातियों की योग्यताएँ।

किसी निर्वाचन-क्षेत्र में वे ही मनुष्य वोट दे सकते हैं जिनका नाम निर्वाचकों की सूची में लिखा हो। निर्वाचकों की सूची में नाम लिखाने के लिए संयुक्त प्रांत में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

(१) निवास संबंधी योग्यताएँ—निर्वाचन-क्षेत्र का निवासी होना। इसका मतलब यह है कि या तो वह मनुष्य साधारणतया उस निर्वाचन क्षेत्र में रहता हो, या वहाँ पर उसका ऐसा मकान हो जिसमें वह कभी कभी रहता हो।

(२) साधारण योग्यताएँ—(अ) गत् वर्ष में ४००० रुपये या अधिक आय पर आय-कर देने वाले व्यक्ति।

(ब) दीवान बहादुर, सरदार बहादुर, खां बहादुर, राय बहादुर, राव बहादुर या इनसे ऊँची पदवी (टाइ-टिल) प्राप्त व्यक्ति।

(स) २५० रुपये माहवारी पेंशन पाने वाले व्यक्ति। और

(द) वे मनुष्य जो निम्नलिखित पदों पर कभी रहे हैं या उस समय हैं—

(१) ब्रिटिश भारत के किसी व्यवस्थापक मंडल के ग़ैर-सरकारी सदस्य।

(२) ब्रिटिश भारत की किसी एक इक्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य अथवा मंत्री।

(३) ब्रिटिश भारतीय नियम द्वारा संस्थापित किसी विश्वविद्यालय के चांसेलर, प्रो-चांसेलर, वाइस चांसेलर, प्रो-वाइस चांसेलर, फेलो या कोर्ट या सेनेट के सदस्य।

(४) संघीय न्यायालय, या ब्रिटिश भारत की हाई कोर्ट, चीफ़ कोर्ट या जुडीशियल कमिश्नर की कोर्ट के न्यायाधीश।

(५) कलकत्ता, बंबई और मद्रास के मेयर और शेरिफ।

(६) संयुक्त प्रांत की किसी म्युनिसिपिल्टी या जिला बोर्ड के ग़ैर-सरकारी सभापति।

(७) किसी सेंट्रेल कोऑपेरेटिव सोसाइटी के ग़ैर-सरकारी सभापति। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित योग्यता वाले मनुष्यों को भी वोट देने का अधिकार दिया गया है—

(क) वे मनुष्य जो १००० रुपये सालाना या अधिक मालगुज़ारी देते हों।

(ख) वे मनुष्य जो ऐसी माफ़ी जमीन के मालिक हैं जिसकी मालगुज़ारी अन्य सब टैक्सों को मिला कर १००० रुपये सालाना हो जाती हो।

(ग) ऐसे असामी जो १५०० रुपये सालाना लगान देते हों।

(३) स्त्रियों की विशेष योग्यताएँ—उपर्युक्त योग्यताओं के अतिरिक्त ऐसी स्त्रियों को भी वोट देने का अधिकार दिया गया है जिनके पतियों में निम्नलिखित योग्यताएँ पायी जायँ—

(क) गत् वर्ष में १०,००० रुपये या अधिक आय पर आय-कर देने वाले व्यक्ति।

(ख) ५००० रुपये सालाना मालगुज़ारी देने वाले व्यक्ति।

(ग) ऐसी माफ़ी ज़मीन के मालिक जिसकी मालगुज़ारी अन्य टैक्सों को मिलाकर ५००० रुपये सालाना हो जाती हो। और

(घ) दीवान बहादुर, सरदार बहादुर, खाँ बहादुर, राय बहादुर, राव बहादुर या इनसे ऊँचे टाइटिल-प्राप्त व्यक्ति या २५० रुपये सरकारी पेंशन पाने वाले व्यक्ति।

(४) दलित जातियों की विशेष योग्यताएँ—दलित जातियों के निर्वाचकों के लिए निम्नलिखित विशेष योग्यताएँ निर्धारित की गयी हैं—

(क) गत् वर्ष में २००० रुपये या अधिक आय पर आय-कर देने वाले व्यक्ति।

(ख) २०० रुपये सालाना मालगुज़ारी देने वाले व्यक्ति।

(ग) ऐसी माफ़ी ज़मीन के मालिक जिसकी मालगुज़ारी अन्य टैक्सों को मिला कर २०० रुपये सालाना हो जाती हो।

(घ) ऐसे असामी जो ५०० रुपये या अधिक सालाना लगान देते हों। और

(ङ) जिनको गवर्नर जनरल ने कोई टाइटिल दिया हो।

लेजिस्लेटिव असेंबलियों के निर्वाचकों की योग्यताएँ— प्रांतीय कौंसिलों की भाँति प्रांतीय असेंबलियों के निर्वाचकों की योग्यताएँ विभिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न रखी गयी हैं। साधारणतया हम उनको निम्नलिखित छः भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) निवास संबंधी योग्यताएँ।

(२) टैक्स संबंधी योग्यताएँ।

(३) धन-संपत्ति संबंधी योग्यताएँ।

(४) शिक्षा संबंधी योग्यताएँ।

(५) सरकारी नौकरी संबंधी योग्यताएँ। और

(६) स्त्रियों की विशेष योग्यताएँ।

किसी निर्वाचन-क्षेत्र में वे ही मनुष्य वोट दे सकते हैं जिनका नाम वोटरों की सूची में लिखा हो। वोटरों की सूची में नाम लिखाने के लिए संयुक्त प्रांत में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

(अ) निर्वाचन-क्षेत्र का निवासी। इसका मतलब यह है कि या तो साधारणतया वह उस निर्वाचन-क्षेत्र में रहता हो या वहाँ पर उसका ऐसा मकान हो जिसमें वह कभी कभी रहता हो।

(ब) गत् वर्ष में आय-कर अथवा म्युनिसिपल टैक्स देने वाले व्यक्ति। म्युनिसिपल टैक्स कम से कम १५० रुपये वार्षिक आमदनी पर होना चाहिये।

(स) २४ रुपये सालाना किराये के मकान के मालिक या किरायेदार; ५ रुपये सालाना मालगुजारी की ज़मीन के मालिक; ऐसी भूमि के असामी जिसके लिए कम से कम १० रुपये सालाना लगान देना पड़ता हो; अवध में ऐसी भूमि के अधिकारी जिसके लिए कम से कम १० रुपये सालाना किराया देना पड़ता हो इत्यादि, इत्यादि।

(द) अपर प्राइमरी या अपर प्राइमरी के बराबर अन्य दर्जा पास व्यक्ति।

(य) सम्राट की स्थायी (Regular) सेना के अवकाश-गृहीत, या पेंशन-प्राप्त या छुड़ाये गये या बिना कमीशन के अफ़सर या सिपाही।

उपर्युक्त योग्यताओं के अतिरिक्त निम्नलिखित योग्यताओं वाली महिलाओं को वोट देने का अधिकार दिया गया है—

(अ) जो सम्राट की स्थायी (Regular) सेना के अफ़सर या बिना कमीशन के अफ़सर या सैनिक की पेंशन-प्राप्त विधवाएँ अथवा माताएँ हों।

(ब) जो निर्धारित सीमा तक साक्षर हों।

(स) जो ऐसे व्यक्तियों की पत्नियाँ हों जिनमें निम्नलिखित योग्यताएँ पायी जायँ—

(क) निर्वाचन-सीमा के अंदर ऐसे मकान के मालिक या किरायेदार जिसका सालाना किराया ३६ रुपये हो।

(ख) २०० रुपये सालाना आमदनी पर म्युनिसिपिल्टी को आय-कर देने वाले व्यक्ति।

(ग) २५ रुपये सालाना मालगुज़ारी देने वाली ज़मीन के मालिक।

(घ) ऐसी ज़मीन के असामी जिसके लिए ५० रुपये सालाना लगान देना पड़ता हो।

(ङ) जिस मनुष्य ने गत् वर्ष आय-कर दिया हो। और

(च) सम्राट की स्थायी सेना के अवकाश-गृहीत, पेंशन-प्राप्त, या छुड़ाये गये, या बिना कमीशन के अफ़सर या सिपाही।

दलित जातियों के स्थानों की विशेष व्यवस्था—नये शासन-विधान के अनुसार दलित जातियों के चुनाव की विशेष व्यवस्था की गयी है। प्रधान मंत्री के सांप्रदायिक निर्णय द्वारा दलित जातियों को पृथक निर्वाचन का अधिकार दिया गया था। हिंदू लोकमत इसका विरोधी था। गांधी जी अपने इस संबंध के विचारों को द्वितीय गोलमेज़ परिषद् में प्रगट कर चुके थे और तत्पश्चात् यरवदा जेल से इस विषय का एक पत्र भी प्रधान मंत्री के पास भेज चुके थे। सांप्रदायिक निर्णय के प्रकाशित होने पर उन्होंने दलित जातियों के पृथक निर्वाचन का विरोध आमरण व्रत घोषित करके किया। व्रत पाँच दिन तक चलता रहा। इसी बीच में भारतीय नेताओं ने पूना-पैक्ट के द्वारा हरिजनों के पृथक निर्वाचन मिटाने के पक्ष में समझौता किया और उसकी सूचना ब्रिटिश सरकार को दी। ब्रिटिश सरकार ने यथाशीघ्र पूना-पैक्ट के स्वीकृति की घोषणा की और तब गांधी जी ने अपना व्रत तोड़ा।

पूना-पैक्ट के अनुसार प्रत्येक प्रांत के साधारण स्थानों में से कुछ स्थान दलित जातियों के लिए सुरक्षित कर दिये गये हैं। उनके भरने के लिए प्रत्येक दलित जाति के स्थान के लिए, आरंभिक चुनाव में दलित जातियों के निर्वाचकों द्वारा चार चार उम्मेदवार चुने जाते हैं और फिर इन चार उम्मेदवारों में से संयुक्त निर्वाचन-संघ द्वारा दलित जातियों के प्रतिनिधि चुने जाते हैं।

व्यवस्थापक मंडलों की रचना पर दृष्टिपात—नये शासन-विधान के अनुसार संगठित प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल की निम्न-लिखित बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(१) वोटरों की संख्या की वृद्धि—सन् १९१९ के एक्ट के अनुसार समस्त पुरुष जनसंख्या के केवल ३ प्रतिशत् पुरुषों को ही वोट देने का अधिकार था। नये शासन-विधान के अनुसार १४ प्रतिशत् पुरुषों को वोट देने का अधिकार दिया गया है। स्त्री-मताधिकारियों की भी संख्या बढ़ी है। सन् १९१९ के एक्ट के अनुसार समस्त भारतवर्ष में केवल ३,१५,००० स्त्रियाँ वोट दे सकती थीं। नये शासन-विधान के अनुसार उनकी संख्या लगभग ६०,००,००० हो गयी है। वोटरों की इस वृद्धि के कारण राजनीतिक शक्ति, जो अब तक प्रधानतया मध्य श्रेणी के मनुष्यों के हाथ में थी, क्रमशः तीसरी श्रेणी के मनुष्यों के हाथ में आती दिखायी पड़ती है। अब तक तीसरी श्रेणी के समस्त स्त्री-पुरुष मतदाता नहीं बनाये गये हैं। केवल उन्हीं को वोट देने का अधिकार दिया गया है जिनमें शिक्षा एवं संपत्ति संबंधी योग्यताएं हैं। फिर भी कृषकों और गरीबों के वोट के कारण मध्य श्रेणी के मनुष्यों और जमींदारों के राजनीतिक प्रभाव के घटने की आशंका निर्मूल नहीं है।

(२) दलित जातियों का यथेष्ट प्रतिनिधित्व—नये शासन-विधान में दलित जातियों के यथेष्ट प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी है। प्रधान-मंत्री के सांप्रदायिक निर्णय की अपेक्षा पूना-पैक्ट के द्वारा उनको अधिक स्थान मिले हैं। सिंध और पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़ कर प्रत्येक प्रांत में उनके लिए स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। सुरक्षित स्थान पंजाब में ४.५ प्रतिशत् से लेकर बंगाल में १४ प्रतिशत् तक हैं। दलित जातियों के उपर्युक्त प्रतिनिधित्व के कारण अब न तो उनके मत की उपेक्षा की जा सकती है और न उनके हितों की। स्त्रियों के विषय में भी कुछ अंश तक यही बात कही जा सकती है।

(३) सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली—नये शासन-विधान के अनुसार व्यवस्थापक मंडल का निर्वाचन सांप्रदायिक आधार पर किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि अधिकांश मुसलमान सांप्रदायिक निर्वा-चन-प्रणाली के पक्ष में हैं। पर यह बात भी निर्विवाद है कि सांप्रदायिक

निर्वाचन-प्रणाली के कारण, भारतवर्ष के राष्ट्रीय उत्थान में अनावश्यक विलंब हो रहा है। ब्रिटिश सरकार और भारतीय नेताओं दोनों का यह कर्त्तव्य है कि वे राष्ट्रीयता के इस विलंब के रोकने का यथा-शक्ति प्रबंध करें। सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली में भी बंगाल के हिंदुओं के लिए, जो वहां अल्प संख्या में हैं वह व्यवस्था नहीं की गयी है जो अन्य प्रांतों में अल्पसंख्यक मुसलमानों के लिए की गयी है। सांप्रदायिक आधार के कारण निर्वाचन क्षेत्रों का क्षेत्रफल बहुत ज्यादा है। अतएव निर्वाचकों और उनके प्रतिनिधियों में यथोचित संपर्क होने की आशा बहुत कम है।

(४) व्यवस्थापक मंडलों की बड़ी सभाएं—नये शासन-विधान की अन्य धाराओं को ध्यान में रखते हुए, छः प्रांतों के व्यवस्थापक मंडलों की बड़ी सभाएं अनावश्यक प्रतीत होती हैं। उनमें साधारणतया अनुदार और प्रतिक्रियावादी सदस्यों का बहुमत होगा। अतएव उदार-वादियों और राष्ट्रवादियों को इस बात की आशंका है कि उनके कारण छोटी सभाएं सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शिक्षा-संबंधी सुधार उतनी शीघ्रता एवं सुगमता से न कर सकेंगी जितनी से वे बड़ी सभाओं के बिना कर सकने के योग्य हैं।

सभापति, उप-सभापति, स्पीकर, डिप्टी स्पीकर— लेजिसलेटिव कौंसिल के सभापति और उप-सभापति, और असेंबली के प्रमुख (Speaker) और उप-प्रमुख (Deputy Speaker) अपनी अपनी सभाओं के सदस्यों द्वारा चुने गये सदस्य होते हैं। यदि किसी अयोग्यता के कारण वे अपनी अपनी सभा के सदस्य नहीं रह जाते तो वे स्वतः इन पदों से भी हट जाते हैं। गवर्नर के पास त्यागपत्र भेज कर वे अपने पदों को छोड़ सकते हैं। अपनी अपनी सभाओं के समस्त सदस्यों के बहुमत द्वारा पास किये गये अविश्वास के प्रस्ताव के कारण भी उन्हें अपने पद से हटना पड़ता है। अविश्वास के प्रस्ताव के लिए चार दिन पहले नोटिस आना आवश्यक है। प्रांतीय असेंबली के भंग होने के पश्चात् नयी निर्वाचित असेंबली का जब तक प्रथम अधिवेशन न हो और वह अपने पदाधिकारियों को न चुन ले तब तक पुरानी असेंबली के प्रमुख अपने पद पर बने रहते हैं। सभापति और प्रमुख की अनुपस्थिति में उप-सभापति और उप-प्रमुख उनका काम करते हैं। दोनों की अनुपस्थिति में अन्य सदस्य सभाओं के नियमानुकूल इन पदाधिकारियों के आसन

ग्रहण करते हैं और नियमों के न होने पर सभाओं के सदस्य अमुक दिन की बैठक के लिए सभापति और प्रमुख को चुन लेते हैं। दोनों स्थानों के रिक्त होने पर गवर्नर अपने विवेक के अनुसार सभापति और प्रमुख को नियुक्त करते हैं। सभापति और उप-सभापति, और प्रमुख और उप-प्रमुख को प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के एक्ट द्वारा निर्धारित वेतन मिलता है। सभापति या प्रमुख को वोट देने का अधिकार नहीं होता। वे केवल निर्णायक वोट ही दे सकते हैं। दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में कौंसिल का सभापति, अध्यक्ष का आसन ग्रहण करता है।

सदस्यों के अधिकार—संघीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों की भांति प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों के कई अधिकार निर्धारित किये गये हैं। वे व्यवस्थापक मंडल के अधिवेशनों में अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक प्रगट कर सकते हैं, इसको किसी कमेटी के सामने स्वतंत्रतापूर्वक गवाही दे सकते हैं और अपना वोट अपने इच्छानुकूल दे सकते हैं। इन बातों के कारण उनके प्रतिकूल कोई क़ानूनी कार्रवाई नहीं की जा सकती। सदस्यों को व्यवस्थापक मंडल द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता मिलता है। वे उन सब सुविधाओं के भी अधिकारी होते हैं जो समय समय पर प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल उनके लिए मंजूर करे। व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाएं अपने अपने सदस्यों के अनुशासन की देखभाल करती हैं पर सदस्यता के अधिकार से वंचित करने के अतिरिक्त वे कोई दूसरा दंड नहीं दे सकतीं। व्यवस्थापक मंडल द्वारा नियुक्त कमेटियों के सम्मुख यदि कोई मनुष्य गवाही देने से इनकार करता है तो उसके प्रतिकूल न्यायालय में मुक़दमा चलाया जा सकता है।

व्यवस्थापक मंडल का कार्यारंभ—निर्वाचन के पश्चात् छः महीने के अंदर व्यवस्थापक मंडल का अधिवेशन अवश्य होना चाहिये। तत्पश्चात् साल में कम से कम एक अधिवेशन की व्यवस्था की गयी है। शासन-विधान की ६२ वीं धारा के अनुसार गत अधिवेशन के आख़िरी दिन और नये अधिवेशन के पहले दिन के बीच में बारह महीने का अंतर न होना चाहिये। उपर्युक्त शर्तों के अंतर्गत गवर्नर अपने विवेक के अनुसार व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं अथवा एक सभा का अधिवेशन निर्धारित समय और स्थान पर करा सकते हैं। निर्वाचन के पश्चात्

व्यवस्थापक मंडल के प्रत्येक सदस्य को गवर्नर या उनके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सामने राजभक्ति की शपथ खानी पड़ती है। फिर दोनों सभाएं अपना अपना सभापति और उप-सभापति चुनती हैं और तत्पश्चात् व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाएं अपना अपना काम आरंभ करती हैं। गवर्नर अपने विवेक के अनुसार प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में, अथवा दोनों सभाओं के अलग अलग अधिवेशन में अथवा उन प्रांतों की असेंबली में जिनमें कौंसिल की व्यवस्था नहीं की गयी है, अपना भाषण दे सकते हैं। कार्रवाई आरंभ होने के पूर्व प्रतिदिन कुछ समय प्रश्नोत्तर के लिए दिया जाता है।

व्यवस्थापक मंडल की नियम-निर्माण-प्रणाली— जिन प्रस्तावों पर प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल में विचार किया जाता है वे दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—

(१) सरकारी प्रस्ताव। और

(२) ग़ैर-सरकारी प्रस्ताव।

प्रत्येक अधिवेशन में कुछ दिन ग़ैर-सरकारी काम के लिए नियत कर दिये जाते हैं। साधारण प्रस्ताव व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा में पेश किये जा सकते हैं किंतु आर्थिक प्रस्ताव पहले असेंबली में ही पेश होते हैं। जिन प्रांतों में केवल असेंबली ही है वहां नियम बनाने का ढंग बिल्कुल सीधा है। असेंबली द्वारा अस्वीकृत होने पर विचाराधीन प्रस्ताव गिर जाता है और असेंबली द्वारा स्वीकृत होने पर वह गवर्नर के पास उनकी अनुमति के लिए भेजा जाता है। गवर्नर की अनुमति प्राप्त कर के वह प्रस्ताव नियम बन जाता है यदि सम्राट उसे रद न करें। सम्राट द्वारा रद किये जाने की सार्वजनिक घोषणा करनी पड़ती है। अनुमति न देकर गवर्नर किसी प्रस्ताव को स्वयं रद कर सकते हैं या उसे असेंबली में पुनर्विचार के लिए भेज सकते हैं, या उसे गवर्नर जनरल की आज्ञा के लिए रिज़र्व कर सकते हैं। गवर्नर की भांति गवर्नर जनरल भी या तो अपनी अनुमति दे सकते हैं या अनुमति देने से इनकार कर सकते हैं या उसे पुनर्विचार के लिए वापस कर सकते हैं या उसे सम्राट की आज्ञा के लिए रिज़र्व कर सकते हैं। सम्राट के विचारार्थ रिज़र्व किये प्रस्ताव स्वतः रद हो जाते हैं यदि गवर्नर के समक्ष पेश

किये जाने के बारह महीने के अंदर सम्राट की अनुमति की सार्वजनिक घोषणा न की जाय।

जिन प्रांतों के व्यवस्थापक मंडल में दो सभाएं हैं वहां की नियम-निर्माण-प्रणाली इससे कुछ जटिल है। साधारण नियम यह है कि गवर्नर के समक्ष पेश किये जाने के पूर्व किसी प्रस्ताव के संबंध में व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं को एकमत होना चाहिये। दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव उसी प्रकार नियम बनते हैं जिस प्रकार उन प्रांतों में जहां केवल असेंबली ही है। दोनों सभाओं के एकमत होने के विषय में निम्न-लिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) यदि कोई प्रस्ताव व्यवस्थापक मंडल अथवा व्यवस्थापक सभा के विचाराधीन है और इस बीच में व्यवस्थापक मंडल अथवा सभा विसर्जित कर दी जाती है तो वह प्रस्ताव रद्द नहीं होता।

(ब) ऐसे प्रस्ताव जो कौंसिल के विचाराधीन हैं और असेंबली द्वारा पास नहीं किये गये हैं वे असेंबली के भंग किये जाने से रद्द नहीं हो जाते।

(स) ऐसे प्रस्ताव जिनको असेंबली ने पास कर दिया है और जो कौंसिल के विचाराधीन हैं, या जो असेंबली के विचाराधीन हैं, असेंबली के भंग होने पर रद्द हो जाते हैं।

(द) ऐसे प्रस्तावों के लिए, जो असेंबली द्वारा स्वीकृत होने पर, कौंसिल में पेश किये जाते हैं, और कौंसिल में पेश होने के बारह महीने बाद तक, गवर्नर के पास अनुमति के लिए नहीं भेजे जाते, गवर्नर को दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन कराने का अधिकार दिया गया है। यदि प्रस्ताव का संबंध किसी ऐसे विषय से है जिसका गवर्नर के किसी विशेष उत्तरदायित्व पर प्रभाव पड़ता हो, तो बारह महीने की अवधि के पूर्व भी गवर्नर संयुक्त अधिवेशन करा सकते हैं। संयुक्त अधिवेशन में कौंसिल का सभापति अध्यक्ष का आसन ग्रहण करता है और उसके बहुमत का निर्णय दोनों सभाओं का निर्णय समझा जाता है। इसके बाद गवर्नर, गवर्नर जनरल और सम्राट की अनुमति के विषय में वे सब बातें पूरी करनी पड़ती हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

आर्थिक प्रस्तावों के विषय में नये शासन-विधान में विशेष व्यवस्था की गयी है। वे प्रथम असेंबली में ही पेश किये जाते हैं। शासन-विधान की ८२ वीं धारा के अनुसार वे आर्थिक प्रस्ताव गवर्नर की सिफ़ारिश के बिना प्रांतीय असेंबली में पेश नहीं किये जा सकते, जो

(१) नया कर लगाते हों या मौजूदा कर को बढ़ाते हों।

(२) जो प्रांतीय ऋण को नियंत्रित करते हों या प्रांत की ओर से कोई गारंटी देते हों या वर्तमान अथवा भविष्यत् की प्रांतीय आर्थिक ज़िम्मेदारी से संबंध रखने वाले किसी नियम को संशोधित करते हों।

(३) जो किसी ख़र्च को प्रांतीय आय से दिया जाने वाला ख़र्च घोषित करते हों।

उपर्युक्त विशेष व्यवस्था के अतिरिक्त आर्थिक प्रस्तावों के पास किये जाने की प्रणाली वही है, जो अन्य प्रस्तावों के पास किये जाने की है।

प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के अधिकार—संघीय व्यवस्थापक मंडल की भांति प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के तीन प्रकार के अधिकार हैं—

(१) शासन निरीक्षणाधिकार—प्रांतीय गवर्नर अपने विवेक और व्यक्तिगत् निर्णय के कामों को छोड़ कर शेष सब कामों को मंत्रिमंडल के परामर्श और सहायता से करते हैं। विवेक और व्यक्तिगत् निर्णय के कामों पर प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल का कोई अधिकार नहीं। वे गवर्नर द्वारा गवर्नर जनरल के निरीक्षण मे उनके आदेशानुकूल किये जाते हैं। पर मंत्रिमंडल की सहायता और परामर्श से किये गये कामों का उत्तरदायित्व प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के प्रति है। व्यवस्थापक मंडल का कोई सदस्य मंत्रिमंडल से शासन संबंधी प्रश्न पूछ सकता है, सूचना मांग सकता है और उसकी नीति का विरोध करने के लिए अधिवेशन को स्थगित करा सकता है। विरोधात्मक प्रस्ताव पास करके व्यवस्थापक मंडल, मंत्रिमंडल के किसी प्रस्ताव का विरोध कर सकता है, और अविश्वास के प्रस्ताव को पास करके उसे पदच्युत कर सकता है।

(२) नियम निर्माणाधिकार—प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल समस्त प्रांतीय विषयों से संबंध रखने वाले नियम बना सकता है। उसे संयुक्त

विषयों के भी नियम बनाने का अधिकार है पर इस शर्त पर कि इन विषयों के संघीय नियम प्रांतीय नियमों से उच्चतर समझे जायँगे, और प्रांतीय नियम संघीय नियमों से असंगत होने पर असंगत अंश तक रद समझे जायँगे। संयुक्त विषयों का कोई प्रांतीय नियम, यदि गवर्नर जनरल अथवा सम्राट के विचारार्थ रिज़र्व किये जाने के पश्चात्, उनकी अनुमति प्राप्त कर लेता है, तो संघीय नियमों से असंगत होने पर भी, वह उस प्रांत के लिए संघीय नियमों से उच्चतर समझा जाता है।

(३) आर्थिक अधिकार—प्रतिवर्ष प्रांतीय आय-व्यय का व्योरा प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल में पेश किया जाताहै। व्यय संबधी व्योरे के दो भाग होते हैं—

(१) वे मदें जिनका खर्च प्रांतीय कोष से करना पड़ता है। और

(२) वे मदें जिनके खर्च के विषय में प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल की अनुमति मांगी जाती है।

पहले भाग की मदें निम्नलिखित हैं—

(१) गवर्नर का वेतन, भत्ता और उनके कार्यालय का वह खर्च जिसकी व्यवस्था स-कौंसिल सम्राट द्वारा की गयी है।

(२) प्रांतीय सार्वजनिक ऋण संबंधी खर्च।

(३) मंत्रियों और एडवोकेट जनरल का वेतन और भत्ता।

(४) हाई कोर्ट के न्यायाधीशों का वेतन और भत्ता।

(५) पृथक प्रदेशों (Excluded Areas) के शासन का खर्च।

(६) किसी न्यायालय के निर्णय के अनुसार चुकायी जाने वाली रक़म।

(७) कोई और खर्च जो शासन-विधान और प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा इस प्रकार का घोषित किया गया हो।

उपर्युक्त ख़र्च के विषय में प्रांतीय असेंबली तर्क-वितर्क कर सकती है पर वोट नहीं दे सकती। शेष ख़र्च असेंबली के मतानुकूल किया जाता है। यदि असेंबली किसी ख़र्च को पास नहीं करती अथवा उसकी रक़म घटाती है और उसका संबंध गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व से होता है तो गवर्नर उस रक़म को परिशिष्ट (Schedule) के रूप में असेंबली के समक्ष पुनः पेश करा सकते हैं। इस बार उस पर न तो बहस होती है और न वोटिंग। इस प्रकार गवर्नर को प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा अस्वीकृत अथवा घटायी गयी रक़म को स्वयं मंजूर कर लेने का अधिकार दिया गया है। ख़र्च की कोई रक़म गवर्नर की सिफ़ारिश के बिना असेंबली में पेश नहीं की जा सकती। ख़र्चे की कोई मद प्रथम भाग की है अथवा द्वितीय, इसका निर्णय गवर्नर अपने विवेक के अनुसार करते हैं।

(४) व्यवस्थापक मंडल के अधिकारों की सीमा—संघीय व्यवस्थापक मंडल की भांति प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के परिमित अधिकार हैं। शासन निरीक्षणाधिकार में गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व और उनके विवेक एवं व्यक्तिगत् निर्णय के काम उसके निरीक्षण से परे हैं। आर्थिक अधिकार इतने परिमित हैं कि बजट का एक बड़ा भाग उसकी अनुमति के बिना ही ख़र्च किया जा सकता है। नियम निर्माणाधिकार भी अनियंत्रित नहीं। कुछ ऐसे विषय हैं जिनसे संबंध रखने वाला कोई प्रस्ताव प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल में नहीं रखा जा सकता और कुछ ऐसे हैं जिनके प्रस्ताव पेश करने के पूर्व गवर्नर की पूर्व अनुमति आवश्यक होती हैं। हम इन विषयों की विवेचना नवें परिच्छेद में कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त गवर्नर की पूर्व अनुमति के बिना निम्नलिखित विषयों के प्रस्ताव अथवा संशोधन प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल में नहीं पेश किये जा सकते—

(अ) जो गवर्नर के एक्ट अथवा ऑर्डीनेंस को रद या संशोधित करते हों या उससे असंगत हों।

(ब) जो पुलिस संबंधी किसी एक्ट को रद या संशोधित करते हों अथवा उस पर बुरा असर डालते हों।

शासन-विधान के अनुसार यद्यपि प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल की प्रत्येक सभा को अपने कार्य-संचालन संबंधी नियम बनाने का अधिकार दिया गया है तो भी निम्नलिखित विषयों के नियम कौंसिल और असें-

वली के सभापति और प्रमुख के परामर्श से गवर्नर अपने विवेक के अनुसार बनाते हैं—

(१) ऐसे विषयों के कार्य-संचालन संबंधी नियम जो गवर्नर अपने विवेक और व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार करते हैं।

(२) ठीक समय पर धन-संबंधी कार्य-संचालन के नियम।

(३) देशी रियासतों के संबंध में उन विषयों के प्रस्ताव अथवा प्रश्नों के बंद करने के नियम जिनका संबंध प्रांतीय सरकार अथवा प्रांतीय नागरिक से नहीं है। प्रांतीय सरकार अथवा प्रांतीय नागरिक से संबंध रखने पर भी विना गवर्नर की अनुमति के न तो इन विषयों के प्रस्ताव पेश किये जा सकते हैं और न प्रश्न ही पूछे जा सकते हैं।

सभापति और प्रमुख के परामर्श से गवर्नर को अपने विवेक के अनुसार निम्नलिखित विषयों के प्रस्तावों का विचार अथवा प्रश्नोत्तरों के बंद करने के नियम बनाने का अधिकार दिया गया है—

(१) सम्राट और गवर्नर जनरल के पर-राष्ट्र-संबंध संबंधी वादविवाद और प्रश्नोत्तर।

(२) असभ्य प्रदेश (Tribal Areas) और पृथक प्रदेश (Excluded Areas) संबंधी वादविवाद और प्रश्नोत्तर।

(३) देशी नरेश अथवा राजकीय वंशजों के किसी व्यक्तिगत् कार्य-संबंधी वादविवाद और प्रश्नोत्तर।

उपर्युक्त सीमाओं के अतिरिक्त, प्रांतीय नियमों के बनाने के दो और तरीक़े हैं। प्रांतीय गवर्नरों को जब व्यवस्थापक मंडल के अधिवेशन न होते हों, और जब अधिवेशन होते हों, तब भी, ऑर्डिनेंसें जारी करने का अधिकार दिया गया है। वे अपने संदेश के द्वारा गवर्नर के एक्ट भी बना सकते हैं।

प्रांतीय सरकार और प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल का संबंध—शासक-मंडल और व्यवस्थापक मंडल के संबंध के आधार पर सरकार के सभात्मक और अध्यक्षात्मक दो प्रकार के भेद किये जा सकते हैं। सभात्मक सरकार को उत्तरदायी सरकार भी कहते हैं। ऐसी सरकार में शासक-मंडल व्यवस्थापक मंडल का अंग होता है और अपनी नीति और कामों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी होता है। यदि व्यवस्थापक मंडल का शासक-मंडल में विश्वास न रह जाय और वह उसके प्रतिकूल अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे तो उसे अपने पद से हटना पड़ता है। २० अगस्त, सन् १९१७ की घोषणा के अनुसार ब्रिटिश सरकार की नीति भारतवर्ष को इसी निर्दिष्ट ध्येय की ओर लिये जा रही है।

उत्तरदायी शासन की सफलता के लिए निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

(क) शिक्षित निर्वाचक—उत्तरदायी शासन की सफलता एवं असफलता बहुत अंश में व्यवस्थापक मंडल पर निर्भर होती है और व्यवस्थापक मंडल का उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त होना निर्वाचकों पर। यदि किसी देश के निर्वाचक शिक्षित होते हैं और राजनीतिक बातों में दिलचस्पी लेते हैं तो साधारणतः वे अपने वोट को सोच विचार कर देते हैं और अपने प्रतिनिधियों के कामों की देखभाल किया करते हैं। ऐसी अवस्था में उत्तरदायी शासन साधारणतया सफल होता है। यदि ऐसा न हुआ तो उसकी सफलता में बाधा पड़ने की आशंका रहती है। नये शासन-विधान के अनुसार न तो भारतवर्ष के समस्त वयस्क स्त्रियों और पुरुषों को वोट देने का अधिकार दिया गया है और न उनमें इस काम की यथेष्ट योग्यता ही है। लगभग ७५ बरस के शासन में भारतवर्ष की अंगरेज़ी सरकार इस देश की सारी जनता को साक्षर न बना सकी। अतएव इन दुर्बलताओं के कारण भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन की सफलता में कुछ बाधा पड़ने की आशंका अवश्य है। भाग्यवश सरकार का ध्यान क्रमशः इस ओर आकर्षित होता गया है और नये शासन-विधान के अंतर्गत संगठित कांग्रेसी मंत्रिमंडल, थोड़े ही दिनों में सारी जनता को शिक्षित बनाने की कोशिश कर रहे हैं।

(ख) योग्य और स्वार्थरहित सदस्य—उत्तरदायी शासन की सफलता का दूसरा साधन है योग्य और स्वार्थरहित सदस्य। निर्वाचकों को तो योग्य और शिक्षित होना ही चाहिये पर उनका प्रभाव उत्तरदायी सरकार पर केवल परोक्ष रूप से ही पड़ता है। वास्तव में व्यवस्थापक मंडल के सदस्य ही उत्तरदायी शासन को सफल अथवा असफल बनाते हैं। यदि व्यवस्थापक मंडल के सदस्य योग्य व्यक्ति होते हैं और उनमें स्वार्थ-त्याग का भाव होता है तो देश का सार्वजनिक जीवन उच्च और शुद्ध बना रहता है और इसलिए उत्तरदायी शासन भी सफल होता है। पर यदि व्यवस्थापक मंडल के सदस्य योग्य नहीं होते, यदि वे स्वार्थ-सिद्धि के लिए देश के हित का बलिदान करने में नहीं हिचकते, यदि वे अपने को एक टाइटिल से आभूषित करने ही के लिए व्यवस्थापक मंडल के सदस्य बनते हैं तो उत्तरदायी शासन की सफलता में बाधा पड़ने की आशंका रहती है। भाग्यवश भारतवर्ष में योग्य और स्वार्थरहित पुरुषों का अभाव नहीं है। पर उनमें से कुछ ऐसे अवश्य हैं जो कारण विशेष से अपने को व्यवस्थापक मंडल की सदस्यता से अलग रखते हैं। सदस्यों की योग्यता और स्वार्थ-त्याग की दृष्टि से भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन की सफलता में किसी प्रकार की बाधा पड़ने की आशंका नहीं है।

(ग) राजनीतिक दल—उत्तरदायी शासन की सफलता का तीसरा साधन है निश्चित राजनीतिक दल। उत्तरदायी शासन में साधारणतया व्यवस्थापक मंडल अथवा उसकी छोटी सभा के बहुसंख्यक राजनीतिक दल का ही मंत्रिमंडल बनाया जाता है और इस प्रकार परोक्ष रूप से बहुसंख्यक राजनीतिक दल का ही शासन होता है। दूसरे दलों का या उनमें से कुछ को मिला कर, विरोधी दल बनता है। यह मंत्रिमंडल के कामों और उसकी नीति की आलोचना किया करता है और इस प्रकार उसको सतर्क रखता है और ज्यादती करने से रोकता है। यदि किसी देश में दो ही प्रमुख राजनीतिक दल होते हैं तो उत्तरदायी शासन स्थिर और इस कारण सफल होता है। इंगलैंड में उत्तरदायी शासन की स्थिरता और सफलता का मूल मंत्र केवल दो ही प्रमुख राजनीतिक दलों का अस्तित्व है। पर यदि किसी देश में बहुत से राजनीतिक दल होते हैं या सरकारी दल विरोधी दल की अपेक्षा बहुत

शक्तिशाली होता है तो उत्तरदायी शासन न तो स्थिर ही रहता है और न वास्तव में सफल ही होता है। अनेक दलों के होने से उनके परस्पर मेल और विच्छेद के कारण उत्तरदायी शासन अस्थिर रहता है। फ्रांस और जर्मनी की परिस्थिति इसी प्रकार की है। एक दल के अति अधिक शक्तिशाली होने के कारण विरोधी दल की आलोचना निरर्थक हो जाती है और सरकारी दल का अधिनायकत्व स्थापित हो जाता है।

मंत्रिमंडल बनाने और उसकी आलोचना करने के अतिरिक्त उत्तर-दायी शासन में राजनीतिक दल और भी कई काम करते हैं। वे चुनाव लड़ते हैं और जनता में राजनीतिक शिक्षा का प्रचार करते हैं। वे राज-नीतिक जागृति को उन्नत अवस्था में रखते हैं और निर्वाचकों की रह-नुमाई करके उनके अशिक्षित होने का दोष बहुत कुछ मिटा देते हैं। चुनाव के पश्चात् भी वे व्यवस्थापक मंडल के सदस्यों को निर्दिष्ट पथ से विचलित नहीं होने देते और यदि कोई सदस्य अपने दल के उद्देश्यों से विचलित होता है तो उसे अनुशासन संबंधी दंड देते हैं।

भारतवर्ष में अभी तक राजनीतिक दल आरंभिक अवस्था में हैं और उनकी संख्या भी दो से अधिक है। इस समय देश में कांग्रेसवादी समाजवादी, उदारवादी, मुस्लिम लीग और हिंदू सभा के अनुयायी, ज़मींदार आदि अनेक राजनीतिक दल हैं। इनमें से कांग्रेसवादी ही भली भांति संगठित हैं। देश के गाँव गाँव में कांग्रेस कमेटियों का जाल फैला हुआ है और इसकी सहायता से कांग्रेसवादी दल भी इस देश का प्रमुख एवं सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक दल बन गया है। उदारवादियों की अखिल भारतीय, प्रांतीय और कुछ ज़िलों की संस्थाएँ हैं पर उनका संपर्क जनता से बहुत कम है। समाजवादी क्रमशः अपने को अधिकाधिक संगठित करते जाते हैं और उनकी संस्थाओं का जाल देश भर में फैलता जाता है। वे मज़दूरों और किसानों के हितों का बीड़ा उठाये हुए हैं, और इस कारण उनका प्रभाव भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इस समय वे कांग्रेस के साथ हैं और निकट भविष्य में कांग्रेस के इन दोनों दलों में मतभेद होने की आशंका बहुत कम है। मुस्लिम लीग का संगठन क्रमशः सुदृढ़ होता जाता है। इसके अनुयाइयों की राय में कांग्रेस केवल हिंदुओं की ही संस्था है। अतएव वे चाहते हैं कि मुसल्मानों में मुस्लिम लीग का वही स्थान हो जो हिंदुओं में कांग्रेस का

बारहवाँ परिच्छेद

संघीय न्यायालय और हाईकोर्ट

संघ शासन-विधानों में न्यायालयों का विशेष स्थान—भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति—संघीय न्यायालय और अखिल भारतीय न्यायालय—संघीय न्यायालय का संगठन—संघीय न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र—मौलिक अधिकार; अपील सुनने का अधिकार—प्रिवी कौंसिल का स्थान—संघीय न्यायालय पर दृष्टिपात्—ब्रिटिश भारतीय हाईकोर्ट—नये शासन-विधान द्वारा हाईकोर्टों में किये गये परिवर्तन—हाईकोर्टों का संगठन—हाईकोर्टों के अधिकार—जिला और सेशन जज—अन्य अदालतें—सम्राट के विशेष अधिकार—भारतीय क़ानून—शासन-विभाग और न्याय-विभाग का प्रथक्करण—

संघीय न्यायालय

संघ शासन-विधानों में न्यायालयों का विशेष स्थान— एकात्मक और संघ शासन-विधानों में एक महत्वपूर्ण अंतर यह होता है कि एकात्मक शासन-विधान की अपेक्षा संघ शासन-विधान में न्यायालयों का स्थान विशेष महत्व का होता है। साधारणतया संघ सरकार संघांतरित सरकारों के इक़रारनामें से स्थापित होती है। यह इक़रारनामा हमेशा के लिए किया जाता है और संघ राज्य और उसके सब उपांगों की अनुमति के बिना संशोधित नहीं किया जा सकता। इक़रारनामें की शर्तें शासन-विधान के रूप में सर्व-श्रेष्ठ समझी जाती हैं। वे लिखित होती हैं और आसानी से बदली नहीं जा सकतीं। उन्हीं के अनुसार संघ-सरकार और संघांतरित सरकारों में कार्य-विभाजन किया जाता है और प्रत्येक को अपने अपने कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र शासन करने का अधिकार दिया जाता है।

चूंकि संघ राज्यों में शासन-विधान की ही प्रभुता होती है इस लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक संघ राज्य में कुछ ऐसे निष्पक्ष एवं स्वतंत्र अधिकारी हों जो शासन-विधान की धाराओं का वास्तविक एवं सर्वमान्य अर्थ बतला सकें। संघ-सरकार और संघांतरित सरकारों दोनों

में इस काम की क्षमता नहीं हो सकती। यदि वे निष्पक्ष और अन्याय-रहित हुई भी, तो भी मतभेद के अवसरों पर वे एक दूसरे को पक्षपाती और अन्यायी ही समझेंगी। अतएव प्रत्येक संघ राज्य में शासन-विधान की धाराओं का वास्तविक अर्थ समझाने का काम न्यायालयों को दिया जाता है। वे शासन-विधान के संरक्षक की हैसियत से काम करते हैं और उसके विरुद्ध कुछ नहीं होने देते। संघ-सरकार और संघांतरित सरकारों या संघांतरित सरकारों में मतभेद के अवसरों पर वे ही निर्णायक की हैसियत से मतभेद को दूर करते हैं और संघीय और संघांतरित सरकारों के नियमों का पर्यायलोचन करके यह निश्चित करते हैं कि अमुक नियम विधानयुक्त है अथवा विधान-विरुद्ध। यदि वे किसी नियम को विधान-विरुद्ध ठहराते हैं तो वह कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सकता।

भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति—नये शासन-विधान के पूर्व समस्त भारतवर्ष का कोई न्यायालय न था। कलकत्ता, बंबई, मद्रास, इलाहाबाद, लाहौर, पटना के हाईकोर्ट, अवध का चीफ़ कोर्ट, और पश्चिमोत्तर प्रदेश और सिंध, और मध्य प्रदेश और बरार के जुडीशियल कमिश्नरों के न्यायालय ही सर्व-प्रधान न्यायालय थे और उनके निर्णयों की अपीलें प्रिवी कौंसिल में होती थीं। बहुत दिनों से भारतवर्ष के कुछ प्रभावशाली व्यक्ति एक अखिल भारतीय न्यायालय (Supreme Court of India) स्थापित करने के पक्ष में थे। २० अगस्त, सन् १९१७ की घोषणा के पश्चात् उनकी यह मांग और भी ज़ोरदार हुई थी। इस घोषणा के अनुसार भारतवर्ष को अंत में ब्रिटिश साम्राज्य के स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों का सा दर्जा मिलने को था। चूँकि ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के प्रत्येक स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेश में एक सार्वदेशीय न्यायालय है इसलिए भारतवर्ष में भी एक ऐसे ही न्यायालय के स्थापित करने की मांग स्वाभाविक थी। इसी उद्देश्य से फ़रवरी सन् १९२५ में सर हरी सिंह गौड़ ने भारतीय असेंबली में एक अखिल भारतीय न्यायालय स्थापित करने का प्रस्ताव पेश किया था। प्रस्तावक महोदय ने न्यायालय के पक्ष में निम्नलिखित दलीलें पेश की थीं—

(१) अन्य स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों में ऐसा न्यायालय था, इसलिए भारतवर्ष में भी एक ऐसा न्यायालय होना चाहिये।

(२) शासन-विधान संबंधी मतभेद की बातों का निर्णय न्यायालय द्वारा ही किया जाना उचित है। तत्कालीन शासन-विधान के अनुसार यह अधिकार गवर्नर जनरल या गवर्नर को था। यह बात सर्वथा अनुचित थी।

(३) भारतवर्ष में क़ानून के इतने विशेषज्ञ थे कि ऐसा न्यायालय आसानी से स्थापित किया जा सकता था।

(४) प्रिवी कौंसिल को इतना समय न मिलता था कि वह भारतीय हाईकोर्टों की सब अपीलों को सुन कर संतोषपूर्वक निर्णय कर सके।

(५) भारतीय हाईकोर्टों के निर्णयों में समानता बनाये रखने के लिए एक ऐसे न्यायालय की आवश्यकता थी। और

(६) ऐसे न्यायालय के स्थापित करने में अधिक व्यय न होगा और व्यय की अपेक्षा सुविधाएँ अधिक होंगी।

असेंबली में पं० मोतीलाल जी नेहरू और सरकार ने इस प्रस्ताव का विरोध किया जिससे वह गिर गया। तत्पश्चात् गोलमेज़ परिषदों के पूर्व इस विषय की विशेष चर्चा न हुई।

ब्रिटिश भारत के कुछ प्रभावशाली व्यक्ति तो अखिल भारतीय न्यायालय के पक्ष में थे ही, साथ ही देशी नरेश भी एक ऐसे ही न्यायालय के पक्ष में थे। उनके परस्पर झगड़ों के निबटाने के लिए कोई न्यायालय न था। कभी कभी उनमें और अधिपति शक्ति में मतभेद होता था। ऐसे अवसरों पर अधिपति शक्ति ही निर्णायक की हैसियत से मतभेद का फैसला करती थी। देशी नरेश इस व्यवस्था से संतुष्ट न थे। भारत-सरकार का पोलीटिकल (Political) विभाग, संधियों और सनदों के प्रतिकूल भी देशी रियासतों के प्रति व्यवहार करता था जिसके कारण उनके अधिकारों पर आघात होता था और उन्हें ऐसे आघातों को चुपचाप सहना पड़ता था। अतएव देशी नरेश भी एक ऐसे न्यायालय

के पक्ष में थे जो उनके परस्पर और उनके और अधिपति-शक्ति के मतभेद को निबटावे और उनके अधिकारों पर आघात न होने दे।

संघीय न्यायालय और अखिल भारतीय न्यायालय— गोलमेज परिषदों में यह बात एक प्रकार से मान सी ली गयी थी कि संघीय न्यायालय संघ शासन-विधान का एक अनिवार्य अंग है। फेडेरल स्ट्रक्चर कमेटी (Federal Structure Committee) का निर्णय संघीय न्यायालय के पक्ष में था। साथ ही ब्रिटिश भारत के कुछ प्रतिनिधि एक अखिल भारतीय न्यायालय के भी पक्ष में थे। वे चाहते थे कि संघीय न्यायालय को अखिल भारतीय न्यायालय के भी अधिकार दिये जायँ। इस विषय में गोलमेज परिषदों के डेलीगेटों में कुछ मतभेद था। देशी रियासतों के प्रतिनिधि विशेष रूप से इस अतिरिक्त अधिकार के विरोधी थे। इस विषय में सर अकबर हैदरी[1] ने अपने विचारों को इस प्रकार प्रगट किया था—संघीय न्यायालय संघ शासन-विधान की एक वैधानिक आवश्यकता है। अखिल भारतीय न्यायालय की तत्कालीन परिस्थिति में विशेष आवश्यकता न थी। उसका संबंध तो केवल ब्रिटिश भारत से ही था—ब्रिटिश भारत के भी कुछ प्रतिनिधि अखिल भारतीय न्यायालय के विरोधी थे। उनकी धारणा थी कि प्रिवी कौंसिल के कारण अखिल भारतीय न्यायालय अनावश्यक था। साथ ही इस बात की भी आशंका थी कि दोनों न्यायालयों के लिए पर्याप्त न्यायाधीश न मिल सकेंगे। व्यय के भी बढ़ने का भय था। स्वेतपत्र (White Paper) में संघीय और अखिल भारतीय दोनों न्यायालयों की व्यवस्था की गयी थी। परंतु संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी सरकारी प्रस्ताव से सहमत न थी। उसके विचार में इस प्रकार के दो स्वतंत्र न्यायालयों में अधिकार-संबंधी झगड़ों के होने की आशंका थी। अतएव कमेटी ने यह सिफ़ारिश की कि संघीय व्यवस्थापक मंडल को यह अधिकार दिया जाय कि वह संघीय न्यायालय के अधिकार बढ़ा कर उसे ब्रिटिश भारतीय हाईकोर्टों की अपीलें सुनने का अधिकार दे सके। ऐसी अवस्था में संघीय न्यायालय के दो भाग होंगे, पर न्यायाधीशों का प्रथक्करण न किया जायगा। एक

---

(१) सर अकबर हैदरी हिज़ इक्ज़ाल्टेड हाईनेस निज़ाम की सरकार की ओर से गोलमेज परिषद में शामिल हुए थे।

ही व्यक्ति प्रधान न्यायाधीश के आदेश अथवा न्यायालय के नियमों के अनुसार दोनों भागों में न्यायाधीश की हैसियत से काम कर सकेगा। संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की सिफारिशों को ही अंत में ब्रिटिश पार्लमेंट ने स्वीकार करके शासन-विधान में शामिल किया।

संघीय न्यायालय का संगठन—संघीय न्यायालय के संगठन का विवरण नये शासन-विधान की २०० से २०३ तक, इन चार धाराओं में दिया गया है। इनके अनुसार संघीय न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश और इतने न्यायाधीश होंगे जितने सम्राट को आवश्यक प्रतीत हों। किंतु जब तक संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाएं, वज़रिये गवर्नर जनरल के, सम्राट से न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने की प्रार्थना न करें तब तक न्यायाधीशों की संख्या ६ से अधिक न होगी[1]। प्रधान न्यायाधीश और न्यायाधीशों को नियुक्त करने का अधिकार सम्राट को दिया गया है। उन्हें स-कौंसिल सम्राट द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता[2] मिलता है और वह उनके कार्यकाल में घटाया नहीं जा सकता। अपना काम आरंभ करने के पूर्व प्रधान न्यायाधीश और प्रत्येक न्यायाधीश को राजभक्ति की शपथ[3] खानी पड़ती है। कोई

---

(१) ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेश, ऑस्ट्रेलिया में संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या निश्चित करने का अधिकार संघीय व्यवस्थापक मंडल को दिया गया है। भारतवर्ष के संघीय न्यायालय की यह व्यवस्था कुछ अनोखी सी मालूम होती है। उसके अनुसार यह संभव है कि संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या कभी भी छः से अधिक न हो। यदि संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाएं वज़रिये गवर्नर जनरल सम्राट से प्रार्थना न करें तो वैधानिक दृष्टि से सम्राट को न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने का अधिकार न होगा।

(२) प्रधान न्यायाधीश का वेतन ७,००० रुपये सालाना नियत किया गया है और अन्य न्यायाधीशों का ५, ५०० रुपये सालाना।

(3) The form of oath is the following—

"I, A. B., having been appointed Chief Justice (or a Judge) of the......court, do solemnly swear (or affirm) that I will be faithful and bear true allegiance to His

व्यक्ति ६५ बरस की अवस्था के पश्चात् प्रधान न्यायाधीश अथवा न्यायाधीश के पद पर नहीं रह सकता[1]।

संघीय न्यायालय के न्यायाधीश और प्रधान न्यायाधीश गवर्नर जनरल के पास त्यागपत्र भेज कर अपने पद से अलग हो सकते हैं। प्रधान न्यायाधीश के त्यागपत्र देने पर गवर्नर जनरल को स्थानापन्न प्रधान न्यायाधीश के नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। दुर्व्यवहार और शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता के कारण सम्राट प्रधान न्यायाधीश अथवा किसी न्यायाधीश को ६५ बरस की अवस्था के पूर्व भी अपने पद से अलग कर सकते हैं। दुर्व्यवहार और शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता की जांच करने का अधिकार प्रिवी कौंसिल को दिया गया है। प्रिवी कौंसिल सम्राट के कहने पर इस विषय की जांच करेगी और सम्राट प्रिवी कौंसिल की रिपोर्ट के आधार पर कार्रवाई करेंगे।

संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

(१) ब्रिटिश भारत या संघांतरित देशी रियासतों के हाईकोर्टों[2] के पाँच साल के अनुभव के न्यायाधीश;

Majesty, the King Emperor of India, his heirs and successors, and that I will faithfully perform the duties of my office *to the best of my ability, knowledge and* judgement.

(१) अमरीका, ऑस्ट्रेलिया और केनाडा में संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों की अधिक से अधिक अवस्था निर्धारित नहीं की गयी है। वे आमरण नियुक्त किये जाते हैं, यदि वे अन्य अयोग्यताओं से मुक्त रहें।

(२) देशी रियासतों की हाईकोर्टों की व्याख्या शासन-विधान की २१७ धारा में की गयी है। वह धारा इस प्रकार है—

Reference in any portion of this part of this Act to a High Court in a Federated State shall be construed as references to any court which His Majesty may, after communication with the Ruler of the State declare to be a High Court for the purposes of that provision.

(२) इंगलैंड या उत्तरी आयरलैंड के दस बरस के अनुभव के बैरिस्टर या इसी काल के अनुभव के स्कॉटलैंड की फैकल्टी ऑफ़् एडवोकेट्स के सदस्य; या

(३) ब्रिटिश भारतीय हाईकोर्ट या देशी रियासतों के हाईकोर्ट या दोनों को मिला कर दस बरस के अनुभव के वकील।

प्रधान न्यायाधीश के लिए उपर्युक्त पहली योग्यता में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया है परंतु दूसरी और तीसरी योग्यताओं में दस बरस के स्थान में पंद्रह बरस का अनुभव आवश्यक है। नियुक्ति के समय प्रधान न्यायाधीश को इंगलैंड या उत्तरी आयरलैंड का बैरिस्टर या स्कॉटलैंड का एडवोकेट या भारतवर्ष का वकील होना चाहिये। पहली योग्यतावाले प्रधान न्यायाधीश को भी अपनी नियुक्ति के समय बैरिस्टर एडवोकेट या वकील होना चाहिये। संघीय न्यायालय अपना काम साधारणतया भारतवर्ष की राजधानी, दिल्ली में करेगा। परंतु प्रधान न्यायाधीश को गवर्नर जनरल की अनुमति से अन्य स्थानों में भी न्यायालय के अधिवेशन करने का अधिकार दिया गया है। संघीय न्यायालय का सारा काम काज अंगरेज़ी भाषा में होगा।

१ अक्टूबर, सन् १९३७ को भारतवर्ष का संघीय न्यायालय स्थापित हो चुका है। इस समय उसमें प्रधान न्यायाधीश और केवल दो न्यायाधीश हैं।

संघीय न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र—संघीय न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मौलिक अधिकार-क्षेत्र और (२) अपीलों के सुनने का अधिकार-क्षेत्र।

मौलिक अधिकार-क्षेत्र—मौलिक अधिकार-क्षेत्र का विवरण नये शासन-विधान की २०४ धारा में दिया गया है। वे मामले जो संघ राज्य या ब्रिटिश भारतीय प्रांत या संघांतरित देशी रियासतों के बीच में किसी ऐसे प्रश्न के संबंध में होंगे जिस पर कोई क़ानूनी अधिकार या उसकी मात्रा निर्भर है, संघीय न्यायालय में ही आरंभ होंगे। परंतु देशी रियासतों से संबंध रखने वाले, उनके इस विषय के अधिकार कुछ सीमाबद्ध कर दिये गये हैं। संघीय न्यायालय को देशी रियासतों से संबंध रखने वाले केवल

ऐसे ही प्रश्नों पर विचार करने का अधिकार दिया गया है जिनका संबंध शासन-विधान की धाराओं या स-कौंसिल सम्राट द्वारा जारी किये गये किसी ऑर्डर की व्याख्या से होगा या देशी नरेशों के प्रवेश प्रार्थना-पत्र द्वारा प्रदान किये गये संघ-राज्य के शासन या नियम-निर्माण संबंधी अधिकारों से। ऐसे प्रश्न जिनके विषय में देशी रियासतों ने, इक़रारनामें के ज़रिये से संघीय व्यवस्थापक मंडल को नियम वनाने का अधिकार दिया है, और ऐसे नियमों के रियासतों में कार्यान्वित होने से संबंध रखने वाले मामले भी संघीय न्यायालय में ही शुरू होंगे। संघ-राज्य स्थापित होने के पश्चात् सम्राट के प्रतिनिधि की स्वीकृति से, यदि देशी रियासतें संघ राज्य या ब्रिटिश भारतीय प्रांतों से कोई इक़रारनामा करेंगी, तो उस इक़रारनामें से संबंध रखने वाले सारे प्रश्न संघीय न्यायालय में आरंभ होंगे, मगर इस शर्त पर, कि इक़रारनामें में ही संघीय न्यायालय को ऐसा अधिकार दिया गया हो। इन विषयों के वे मामले, जिन पर विचार करने का अधिकार संघीय न्यायालय को नहीं दिया गया है संघीय न्यायालय में दायर न किये जा सकेंगे। उपर्युक्त मामलों पर संघीय न्यायालय को केवल (Declaratory Judgment) देने का अधिकार होगा।

अपीलों के सुनने का अधिकार-क्षेत्र—संघीय न्यायालय को दो प्रकार की अपीलें सुनने का अधिकार दिया गया है—

(१) ब्रिटिश भारत के हाईकोर्टों के निर्णयों की अपीलें सुनने का अधिकार। और

(२) देशी रियासतों के हाईकोर्टों के निर्णयों की अपीलें सुनने का अधिकार।

ब्रिटिश भारतीय हाईकोर्टों के ऐसे निर्णयों की अपीलें संघीय न्यायालय में की जा सकेंगी जिनका संबंध शासन-विधान की धाराओं या उसके लिए स-कौंसिल सम्राट द्वारा जारी किये गये किसी ऑर्डर की व्याख्या से हो और जिनके विषय में हाईकोर्ट यह सर्टीफाई करे कि उनका संबंध इस प्रकार के प्रश्नों से है। हाईकोर्टों का यह कर्तव्य होगा कि वह प्रत्येक विचाराधीन मामले के विषय में यह जांच करें कि उसका संबंध नये शासन-विधान की धाराओं या उसके लिए जारी किये गये स-कौंसिल

सम्राट के किसी ऑर्डर की व्याख्या से है अथवा नहीं, और इसके बाद अपने इच्छानुकूल अपील करने का प्रमाण-पत्र दें। ऐसे प्रमाण-पत्र मिलने के पश्चात् किसी मामले के वादी और प्रतिवादी दोनों को अधिकार होगा कि वे हाईकोर्ट के निर्णय की अपील संघीय न्यायालय में इस आधार पर कर सकें कि हाईकोर्ट ने ग़लत निर्णय दिया है या किसी अन्य आधार पर भी यदि उपर्युक्त प्रमाण-पत्र नहीं दिया गया है, पर इस शर्त पर कि उसकी अपीलें, बिना विशेष आज्ञा, प्रिवी कौंसिल में हो सकती हों। संघीय न्यायालय की विशेष आज्ञा से किसी अन्य निर्णय की भी अपील उस न्यायालय में की जा सकती है। उपर्युक्त प्रकार के किसी मामले की अपीलें विशेष आज्ञा से अथवा बिना विशेष आज्ञा से सीधे प्रिवी कौंसिल में न होंगी।

शासन-विधान की २०६ धारा के अनुसार संघीय व्यवस्थापक मंडल को यह अधिकार दिया गया है कि वह संघीय न्यायालय को नियम द्वारा दिवानी के मामलों की अपीलें सुनने का अधिकार प्रदान करे। ये अपीलें हाईकोर्ट के उपर्युक्त प्रमाणपत्र के बिना हो सकेंगी पर इस शर्त पर कि जिस मामले की अपील की जाय वह आरंभ में कम से कम ५०,००० रुपये और अपील के समय कम से कम १५,००० रुपये का हो। संघीय न्यायालय की विशेष आज्ञा से भी इस प्रकार की अपीलें उस न्यायालय में की जा सकेंगी। इस प्रकार के नियम बनाने के पश्चात हाईकोर्टों के निर्णयों की अपीलें विशेष आज्ञा से अथवा बिना विशेष आज्ञा से, प्रिवी कौंसिल में न की जा सकेंगी। इस संबंध का कोई प्रस्ताव गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना, संघीय व्यवस्थापक मंडल की किसी सभा में न पेश किया जायगा।

शासन-विधान की २०७ धारा के अनुसार संघीय न्यायालय को देशी रियासतों के हाईकोर्टों के निर्णयों की अपीलें सुनने का अधिकार दिया गया है। अपीलें केवल इस आधार पर की जा सकेंगी कि किसी ऐसे क़ानूनी प्रश्न पर ग़लत फैसला दिया गया है जिसका संबंध शासन-विधान की किसी धारा अथवा उसके लिए स-कौंसिल सम्राट द्वारा जारी किये गये किसी ऑर्डर की व्याख्या से है। देशी नरेशों के प्रवेश-प्रार्थना-पत्र द्वारा संघ राज्य को समर्पित किये गये शासन एवं नियम-निर्माण संबंधी अधिकारों के मामलों की अपीलें या देशी नरेशों के ऐसे इक़रार-

नामों से संबंध रखने वाले मामलों की अपीलें जिनका संबंध संघीय नियमों को रियासतों में कार्यान्वित करने से है, संघीय न्यालयाय में होगी। इस प्रकार की अपीलें दो तरह से हो सकेंगी—

(१) देशी रियासतों के हाईकोर्ट स्वयं किसी मामले को संघीय न्यायालय में सलाह के लिए भेज सकेंगे।

(२) संघीय न्यायालय स्वयं किसी ऐसे मामले को अपने सामने पेश करने की आज्ञा जारी कर सकेगा।

यदि संघीय न्यायालय अपील सुनने के पश्चात् किसी निर्णय में परिवर्तन करने का निश्चय करेगा, तो वह उस परिवर्तन की सूचना उस न्यायालय को देगा जिसके निर्णय की अपील की गयी है, और वह न्याया-लय अपने निर्णय के स्थान पर संघीय न्यायालय के निर्णय को कार्यान्वित करेगा। यदि कोई मामला संघीय न्यायालय के विचाराधीन है, तो जब तक संघीय न्यायालय का निर्णय न हो जाय, तब तक नीचे के न्यायालय के निर्णय पर कोई कार्रवाई न की जायगी। संघ-राज्य के सिविल और न्याय-विभाग के समस्त पदाधिकारी और कर्मचारी संघीय न्यायालय से सहयोग करेंगे। लोगों को बुलाने और काग़ज़ आदि तलब कराने के संघीय न्यायालय के वे ही अधिकार हैं जो हाईकोर्टों के।

शासन-विधान की २१३ धारा के अनुसार, संघीय न्यायालय को किसी क़ानूनी प्रश्न पर, निम्नलिखित परिस्थिति में गवर्नर जनरल को, परामर्श देने का अधिकार दिया गया है—

यदि किसी समय गवर्नर जनरल को यह प्रतीत हो कि कोई ऐसा क़ानूनी प्रश्न उपस्थित हो गया है या उपस्थित होने वाला है जो सार्व-जनिक महत्व का है और जिस पर संघीय न्यायालय का परामर्श लेना आवश्यक है तो वे अपने विवेक के अनुसार उस प्रश्न को संघीय न्याया-लय के पास परामर्श के लिए भेज सकेंगे और संघीय न्यायालय जांच करने के पश्चात् अपने मत की सूचना गवर्नर जनरल को देगा। इस प्रकार की सूचना गवर्नर जनरल को तभी भेजी जायगी जब उस मामले पर खुली अदालत में विचार हुआ हो और निर्णय बहु-संख्यक न्याया-धीशों का निर्णय हो। यदि कोई न्यायाधीश बहु-संख्यक निर्णय से सहमत नहीं है तो वह विरोधात्मक मत प्रगट कर सकता है। संघीय न्यायालय के अन्य निर्णय भी इसी प्रकार किये जाते हैं।

प्रिवी कौंसिल का स्थान—नये शासन-विधान की २०८ धारा के अनुसार संघीय न्यायालय के निर्णयों की अपीलें प्रिवी कौंसिल में होंगी। अपील करने के लिए यह आवश्यक है कि अपील वाले मामले का संबंध या तो नये शासन-विधान की किसी धारा या उसके लिए स-कौंसिल सम्राट द्वारा जारी किये गये किसी ऑर्डर की व्याख्या से हो, या देशी नरेशों के प्रवेश-प्रार्थना-पत्र द्वारा संघ राज्य को समर्पित किये गये शासन या नियम-निर्माण संबंधी अधिकार से हो, या नरेशों द्वारा किये गये ऐसे इक़रारनामों से हो जिनका संबंध संघीय नियमों को रियासतों में कार्यान्वित करने से है। संघीय न्यायालय के निर्णयों की अपीलें प्रिवी कौंसिल में या तो संघीय न्यायालय की आज्ञा से होंगी या स-कौंसिल सम्राट की आज्ञा से।

संघीय न्यायालय पर दृष्टिपात—भारतीय संघ राज्य संसार का एक अपूर्व संघ राज्य है। उसके व्यवस्थापक मंडल से संबंध रखने वाली विचित्र बातों का विवरण पहले लिखा जा चुका है। यहां पर हम भारतवर्ष के संघीय न्यायालय की कुछ ऐसी बातों पर प्रकाश डालेंगे जो संसार के अधिकांश संघ-राज्यों में नहीं पायी जातीं।

भारतवर्ष के संघीय न्यायालय की पहली असाधारण बात यह है कि उसके न्यायाधीशों की संख्या सम्राट की इच्छा पर छोड़ दी गयी है। पर शासन-विधान में स्पष्ट रूप से यह भी लिख दिया गया है कि न्यायाधीशों की संख्या छः से अधिक तभी की जायगी जब संघीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाएँ बज़रिये गवर्नर जनरल के, सम्राट से अधिक न्यायाधीशों के नियुक्त करने की प्रार्थना करें। इस व्यवस्था के कारण संघीय न्यायालय के काम में अड़चन पड़ने की आशंका है। यदि संघीय व्यवस्थापक मंडल कभी अड़ंगा-नीति का सहारा पकड़े और शासन-विधान को असफल करने पर उद्यत हो जाय, तो इस बात की आशंका है कि व्यवस्थापक मंडल की एक सभा अथवा दोनों सभाएँ, संघीय न्यायालय के काम बढ़ने पर भी, सम्राट से न्यायाधीशों के बढ़ाने की प्रार्थना न करें। ऐसी परिस्थिति में संघीय न्यायालय का काम सुगमता से चलाने के लिए, सम्राट न्यायाधीशों को बढ़ावेंगे अथवा नहीं और यदि बढ़ावेंगे तो कैसे—इन बातों के कारण

वैधानिक संकट उपस्थित होने की आशंका है। साथ ही न्यायाधीशों के बढ़ाने की व्यवस्था भी दोषपूर्ण है। अधिक अच्छा होता यदि न्यायाधीशों के बढ़ाने का अधिकार, सम्राट की अनुमति से संघीय व्यवस्थापक मंडल को प्रदान किया जाता। केनाडा, ऑस्ट्रेलिया, और अमरीका में न्यायाधीशों के बढ़ाने का अधिकार वहाँ के व्यवस्थापक मंडलों को ही दिया गया है। केनाडा और ऑस्ट्रेलिया के न्यायाधीशों को वहाँ के गवर्नर जनरल और अमरीका के न्यायाधीशों को वहाँ के राष्ट्रपति सेनेट की अनुमति से, नियुक्त करते हैं।

संघीय न्यायालय की दूसरी असाधारण बात है त्याग-पत्र देने की व्यवस्था। नियुक्त करने का अधिकार सम्राट को दिया गया है, पर त्याग-पत्र स्वीकार करने का अधिकार गवर्नर जनरल को। यह व्यवस्था शायद इस लिए की गयी है कि किसी पद के खाली होने पर संघीय न्यायालय के काम में अनावश्यक रुकावट न पड़े। न्यायाधीशों को बरखास्त करने का अधिकार सम्राट को दिया गया है। वे इस प्रकार की कार्रवाई, प्रिवी कौंसिल की रिपोर्ट के आधार पर करेंगे। अन्य संघ राज्यों की व्यवस्था इस प्रकार की नहीं है। वहाँ के न्यायाधीश साधारणतः व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाओं की प्रार्थना पर सर्वोच्च शासक द्वारा निकाले जाते हैं। ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों में भी न्यायाधीशों के बरखास्त करने में प्रिवी कौंसिल और सम्राट का बिल्कुल हाथ नहीं है। अमरीका के संघीय न्यायालय के न्यायाधीश केवल इंपीचमेंट[1] के द्वारा अपने स्थान से अलग किये जा सकते हैं।

संघीय न्यायालय की तीसरी असाधारण बात है, न्यायाधीशों की योग्यताएं और उनके अवकाश ग्रहण करने की व्यवस्था। केनाडा और दक्षिणी अफ्रीका के शासन-विधानों में न्यायाधीशों की योग्यताओं का उल्लेख नहीं है। अमरीका की भी ऐसी ही परिस्थिति है। इन सब देशों के न्यायाधीश अपने जीवन काल के लिए नियुक्त किये जाते हैं और जब तक दुर्व्यवहार न करें वे अपने पद से हटाये नहीं जा सकते। भारतवर्ष में ६५ वर्ष की अवस्था के पश्चात् कोई व्यक्ति प्रधान न्यायाधीश अथवा

---

(१) इंपीचमेंट की प्रथा के अनुसार छोटी सभा दोषारोपण करती है और बड़ी सभा मामले को सुनकर निर्णय देती है।

न्यायाधीश नहीं रह सकता। इन दोनों बातों में भारतवर्ष के संघीय न्यायालय की व्यवस्था अन्य देशों की अपेक्षा श्रेष्ठतर जान पड़ती है।

संघीय न्यायालय की चौथी असाधारण बात है न्यायालय का कार्यक्षेत्र। शासन-विधान के अनुसार संघीय न्यायालय को शासन-विधान की धाराओं और उनके लिए जारी किये गये स-कौंसिल सम्राट के ऑर्डरों की व्याख्या करने का अधिकार दिया गया है। प्रायः प्रत्येक संघ राज्य में संघीय न्यायालय को यह अधिकार दिया जाता है। संघ राज्यों में शासन-विधान की प्रभुता होती है. और संघीय न्यायालय शासन-विधान की व्याख्या एवं रक्षा करता है। साथ ही भारतवर्ष का संघीय न्यायालय देशी नरेशों के प्रवेश-प्रार्थना-पत्र द्वारा संघ राज्य को दिये गये शासन एवं नियम-निर्माण संबंधी अधिकारों के मामलों या देशी नरेशों के इक़रारनामों से संबंध रखने वाले ऐसे मामलों का निर्णय करेगा जिनका संबंध संघीय नियमों को रियासतों में कार्यान्वित करने से है। इस अधिकार के कारण संघीय न्यायालय संघीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा बनाये गये नियमों का निरीक्षण करेगा और यह बतलावेगा कि अमुक नियम विधानयुक्त है अथवा नहीं। अमरीका के संघीय न्यायालय के इस प्रकार के अधिकार वास्तविक अधिकार हैं। संघीय न्यायालय गवर्नर जनरल के एक्टों और उनके द्वारा जारी की गयी ऑर्डीनेंसों के विधानयुक्त होने की परीक्षा कर सकेगा अथवा नहीं, यह बात शासन-विधान के कार्यान्वित रूप से ही प्रगट हो सकेगी।

संघीय न्यायालय की पाँचवीं असाधारण बात है प्रिवी कौंसिल का स्थान। अमरीका, स्विटज़रलैंड आदि संघ राज्यों के संघीय न्यायालय ही अंतिम एवं सर्वमान्य निर्णय देते हैं। ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों में प्रिवी कौंसिल को अपीलें सुनने का अधिकार था पर यह अधिकार उपनिवेशों और मातृदेश की समानता के कारण क्रमशः लुप्त होता जाता है। भारतवर्ष के संघीय न्यायालय के निर्णयों की अपीलें प्रिवी कौंसिल में होंगी और प्रिवी कौंसिल का यह अधिकार केवल क़ानूनी अधिकार नहीं, बल्कि वास्तविक अधिकार होगा।

हाईकोर्ट

ब्रिटिश भारतीय हाईकोर्ट—संघीय न्यायालय समस्त भारतवर्ष का न्यायालय है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में कई प्रांतीय न्यायालय भी हैं। वे आवश्यकतानुकूल समय समय पर स्थापित किये गये हैं। कलकत्ता, बंबई और मद्रास के हाईकोर्ट सन् १८६२ में स्थापित हुए थे, इलाहाबाद का सन् १८८६ में, लाहोर और पटना के सन् १९११ में और नागपूर का सन् १९३६ में। इनके अतिरिक्त कुछ और भी न्यायालय हैं जिनका नाम तो हाईकोर्ट नहीं है पर जिन्हें हाईकोर्ट का सम्मान और अधिकार प्राप्त हैं, जैसे अवध का चीफ़ कोर्ट, और पश्चिमोत्तर प्रदेश और सिंध के जुडीशियल कमिश्नर के कोर्ट। नये शासन-विधान के पूर्व उपर्युक्त न्यायालय अपने अपने प्रांतों के सर्वोच्च न्यायालय थे और उनके निर्णयों की अपीलें प्रिवी कौंसिल में होती थीं।

हाईकोर्टों का संबंध संघीय गवर्मेंट से हो अथवा प्रांतीय, इस विषय में गोलमेज़ परिषदों में विभिन्न लोगों ने अपने विचार भिन्न भिन्न पक्ष की ओर प्रगट किये थे। कुछ लोगों की सम्मति थी कि भारतवर्ष के सब न्यायालय संघ-सरकार के अधीन हों और कुछ की सम्मति थी कि हाईकोर्टें प्रांतीय सरकार के अधीन रहें। प्रांतीय संबंध की निम्नलिखित दलीलें उल्लेखनीय हैं—

(१) संघ-सरकार को स्थानीय परिस्थिति का समुचित ज्ञान न होगा।

(२) अवध का चीफ़ कोर्ट अपने अधीन न्यायालयों के कार्यालय के कर्मचारियों को दंड दे सकता है। यदि यह न्यायालय संघ-सरकार के अधीन किया जायगा तो संभव है कि प्रांतीय सरकार, संघ-सरकार को इस अधिकार पर अमल न करने दे।

(३) नये शासन-विधान के अनुसार प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था की गयी है। न्याय में भी प्रांतीय स्वराज्य होना चाहिये।

(४) यदि हाईकोर्टें संघ-सरकार के अधीन की जायँगी तो उनका ख़र्च संघ-सरकार को बरदाश्त करना पड़ेगा।

इन दलीलों के कारण हाईकोर्टों के संबंध में सन् १९१९ के

सुधारों की व्यवस्था स्थायी कर दी गयी है और कलकत्ता का हाईकोर्ट भी बंगाल-सरकार के अधीन कर दिया गया है।

नये शासन-विधान द्वारा हाईकोर्टों में किये गये परिवर्तन—नये शासन-विधान द्वारा हाईकोर्टों के संगठन और अधिकारों में निम्नलिखित परिवर्तन किये गये हैं—

(१) नये शासन-विधान के पूर्व हाईकोर्ट के न्यायाधीश तब तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक सम्राट चाहें। सन् १९३५ के शासन-विधान के अनुसार ६० बरस की अवस्था प्राप्त करने पर प्रत्येक न्यायाधीश को अवकाश ग्रहण करना पड़ेगा।

(२) सन् १९१९ के शासन-विधान के अनुसार हाईकोर्टों के न्यायाधीशों की संख्या प्रधान न्यायाधीश को मिला कर अधिक से अधिक बीस हो सकती थी और अतिरिक्त न्यायाधीशों को गवर्नर जनरल दो बरस के लिए नियुक्त करते थे। नये शासन-विधान के अनुसार प्रत्येक हाईकोर्ट में प्रधान न्यायाधीश और न्यायाधीशों को मिला कर उतने न्यायाधीश होंगे जितने को सम्राट नियुक्त करें। पर न्यायाधीशों की संख्या स-कौंसिल सम्राट द्वारा निर्धारित संख्या से अधिक न होगी और अतिरिक्त न्यायाधीशों और स्थानापन्न प्रधान न्यायाधीश को गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार नियुक्त करेंगे।

(३) नये शासन-विधान के पूर्व हाईकोर्ट के न्यायाधीशों में से कम से कम एक तिहाई बैरिस्टर होते थे, एक तिहाई सिविल सर्विस के सदस्य और शेष एक तिहाई भारतीय वकील आदि। स्थायी प्रधान न्याया-धीश के लिए यह आवश्यक था कि वह इंगलैंड या आयरलैंड का बैरिस्टर या स्काटलैंड की फैकल्टी आफ् एडवोकेट्स का सदस्य या भारतीय वकील हो। बहुत दिनों से भारतीय लोकमत सिविल सर्विस के न्यायाधीशों का विरोध कर रहा था। नये शासन-विधान द्वारा न्यायाधीशों के उपर्युक्त विभाजन को समाप्त कर दिया गया है और प्रधान न्यायाधीश के पद पर बैरिस्टरों और भारतीय वकीलों के अतिरिक्त सिविल सर्विस के सदस्यों के भी नियुक्त किये जाने की व्यवस्था की गयी है यदि वे तीन बरस तक हाईकोर्ट के न्यायाधीश

रह चुके हों। इस प्रकार नये शासन-विधान में, भारतीय मांग के अनुसार सिविल सर्विस के सदस्यों का न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जाना तो बंद नहीं किया गया है उल्टे उनको प्रधान न्यायाधीश के पद पर भी नियुक्त किये जाने का अधिकार मिल गया है।

(४) नये शासन-विधान के पूर्व न्यायाधीशों के वेतन, पेंशन, भत्ता आदि के निर्धारित करने का अधिकार स-कौंसिल भारत-मंत्री को था। नये शासन-विधान के अनुसार न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, पेंशन आदि को स-कौंसिल सम्राट निश्चित करते हैं।

(५) नये शासन-विधान के पूर्व कलकत्ते के हाईकोर्ट का संबंध प्रधानतया भारत-सरकार से था। उसके न्यायाधीश स-कौंसिल गवर्नर जनरल के पास त्यागपत्र भेजते थे, बंगाल के गवर्नर के पास नहीं। अतिरिक्त न्यायाधीशों के भी नियुक्त करने का अधिकार स-कौंसिल गवर्नर जनरल को था। नये शासन-विधान के द्वारा यह व्यवस्था समाप्त हो गयी है। अब कलकत्ते के हाईकोर्ट का बंगाल-सरकार से वही संबंध है, जो अन्य हाईकोर्टों का अपनी प्रांतीय सरकारों से है।

(६) नये शासन-विधान के पूर्व हाईकोर्टों के निर्णयों की अपीलें सीधे प्रिवी कौंसिल में होती थीं। अब उनकी कुछ अपीलें संघीय न्यायालय में होंगी, और अन्य अपीलें भी, यदि संघीय व्यवस्थापक-मंडल, संघीय न्यायालय के अपील संबंधी अधिकार बढ़ाने का प्रस्ताव पास करे।

हाईकोर्टों का संगठन—सन् १९३५ के पहले ब्रिटिश भारतीय हाईकोर्टों के संगठन और अधिकार के विषय में, ब्रिटिश पार्लमेंट ने सन् १८६१, १८६५ और १९११ के हाईकोर्ट्स एक्ट पास किये थे। नये शासन-विधान की २१९ धारा से लेकर २३१ धारा तक का संबंध हाईकोर्टों के संगठन और अधिकारों से है। २२० धारा के अनुसार प्रत्येक हाईकोर्ट में प्रधान न्यायाधीश के अतिरिक्त इतने न्यायाधीश होंगे जितने को सम्राट नियुक्त करें, पर अतिरिक्त न्यायाधीशों के सहित किसी हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की संख्या स-कौंसिल सम्राट द्वारा निर्धारित संख्या से अधिक न होगी। न्यायाधीशों के नियुक्त करने का अधिकार सम्राट को दिया गया है और ६० बरस की अवस्था प्राप्त

करने पर प्रत्येक न्यायाधीश के अवकाश ग्रहण करने की व्यवस्था की गयी है। गवर्नर के पास त्यागपत्र भेज कर भी कोई न्यायाधीश अपने पद से अलग हो सकता है। सम्राट किसी न्यायाधीश को ६० बरस की अवस्था के पूर्व भी दुराचरण और शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता के लिए अलग कर सकते हैं। दुराचरण और शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता की जाँच करने का अधिकार प्रिवी कौंसिल को दिया गया है। प्रिवी कौंसिल सम्राट के कहने पर इस विषय की जाँच करेगी और सम्राट प्रिवी कौंसिल की रिपोर्ट के आधार पर कार्रवाई करेंगे। हाईकोर्ट के न्यायाधीशों में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

(अ) इंगलैंड या उत्तरी आयरलैंड के दस बरस के अनुभव के बैरिस्टर या इसी काल के अनुभव के स्कॉटलैंड की फैकल्टी ऑफ़् एडवोकेट्स के सदस्य।

(ब) दस बरस के अनुभव के भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य जो कम से कम तीन बरस तक ज़िला जज या कम से कम पाँच बरस तक जज खफ़ीफ़ा के पद पर रहे हों। या

(स) हाईकोर्ट या दूसरे न्यायालयों के दस बरस के अनुभवी वकील।

प्रधान न्यायाधीश के लिए उपर्युक्त पहली और तीसरी योग्यताएं वे ही हैं जो न्यायाधीशों के लिए। पर दूसरी योग्यता वाले वे ही व्यक्ति प्रधान न्यायाधीश बनाये जा सकते हैं जो तीन बरस तक हाईकोर्ट के न्यायाधीश रह चुके हों। अपना काम आरंभ करने के पूर्व प्रत्येक न्यायाधीश को राजभक्ति की शपथ खानी पड़ती है। न्यायाधीशों के वेतन, पेंशन, भत्ता, छुट्टी आदि को स-कौंसिल सम्राट निश्चित करते हैं और न्यायाधीशों के कार्यकाल में ये इस प्रकार नहीं बदले जा सकते जिससे उनको हानि पहुँचे। स्थानापन्न न्यायाधीश अथवा प्रधान न्यायाधीश और काम अधिक होने पर अतिरिक्त न्यायाधीशों को गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार नियुक्त करते हैं। अतिरिक्त न्यायाधीश केवल दो बरस के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

शासन-विधान की २२९ धारा के अनुसार सम्राट किसी प्रांत अथवा उसके एक भाग के लिए नया हाईकोर्ट स्थापित कर सकते हैं, या ऐसे प्रदेशों

के मौजूदा हाईकोर्टों को नये सिरे से संगठित कर सकते हैं और यदि किसी प्रांत में दो हाईकोर्ट हों तो उनको मिला कर एक ही हाईकोर्ट स्थापित कर सकते हैं, पर इस शर्त पर कि प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल अथवा जिन प्रांतों में व्यवस्थापक मंडल नहीं हैं वहां की असेंबली, प्रांतीय गवर्नर के पास इस आशय का आवेदन-पत्र सम्राट की सेवा में उपस्थित करने के लिए भेजें। यदि सम्राट मौजूदा हाईकोर्टों के पुनर्संगठन करने अथवा दो हाईकोर्टों को मिलाकर एक हाईकोर्ट स्थापित करने की आज्ञा निकालेंगे, तो उसी आज्ञा में न्यायालयों के न्यायाधीशों, पदाधिकारियों और नौकरों के लिए ऐसी व्यवस्था की जायगी जिससे जब तक परिवर्तन अथवा पुनर्संगठन न हो जाय, वे पुराने न्यायालयों का काम करने के लिए अपने पद पर बने रहें। इसी आज्ञा में सम्राट, परिवर्तन अथवा पुनर्संगठन संबंधी कोई अन्य व्यवस्था भी, जो उन्हें आवश्यक प्रतीत हो, शामिल कर सकेंगे। स-कौंसिल सम्राट किसी हाईकोर्ट का अधिकार-क्षेत्र प्रांत के बाहर किसी ब्रिटिश भारतीय प्रदेश में बढ़ा सकते हैं, यदि उन्हें यह विश्वास हो जाय कि उन प्रदेशों की सरकारों ने इस आशय का आपसी समझौता कर लिया है।

हाईकोर्टों के अधिकार—कलकत्ता, बंबई और मद्रास के हाईकोर्टों में कुछ मुक़दमें आरंभ हो सकते हैं। पर साधारणतया हाईकोर्टों में अपीलें ही सुनी जाती हैं। ये अपीलें फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के मुक़दमों की होती हैं। हाईकोर्टों के निर्णय के प्रतिकूल संघीय न्यायालय और प्रिवी कौंसिल में अपील की जा सकती है। आजकल किसी दीवानी मुक़दमें की अपील प्रिवी कौंसिल में तब तक नहीं हो सकती जब तक वह १०,००० रुपये से अधिक का न हो। संघीय व्यवस्थापक मंडल प्रस्ताव पास करके संघीय न्यायालय का अपील संबंधी अधिकार-क्षेत्र बढ़ा सकता है।

अपील सुनने और मुक़दमों का निर्णय करने के अलावा हाईकोर्टों के कई निरीक्षण-संबंधी अधिकार हैं। इनका विवरण शासन-विधान की २२४ और २२५ धाराओं में दिया गया है। २२४ धारा के अनुसार प्रत्येक हाईकोर्ट के अपने अधीन न्यायालयों के संबंध में निम्नलिखित निरीक्षण के अधिकार हैं—

(१) किसी मामले के कागजों को तलब करना।

(२) इन न्यायालयों की कार्य-पद्धति के नियम बनाना।

(३) इन न्यायालयों के रजिस्टर, हिसाब आदि रखने के ढंग को निर्धारित करना।

(४) अदालतों, शेरिफ, क्लर्क और अन्य कर्मचारियों की फ़ीस की दर निश्चित करना।

नये शासन-विधान की २२५ धारा के अनुसार यदि संघ-राज्य के एडवोकेट जनरल किसी संघीय एक्ट के विषय में और प्रांत के एडवोकेट जनरल किसी प्रांतीय एक्ट के विषय में हाइकोर्ट का ध्यान इस ओर आकर्षित करेंगे कि किसी अधीन न्यायालय के विचाराधीन मामले का संबंध संघीय अथवा प्रांतीय एक्ट की विधान-युक्तता से है तो हाइकोर्ट उस मामले को अपने विचाराधीन कर सकेगा। इसके अतिरिक्त किसी मामले या उसकी अपील को एक न्यायालय से दूसरे समान या उच्च न्यायालय में बदलने का अधिकार भी हाइकोर्ट को है। संघीय न्यायालय की भाँति हाइकोर्टों की सारी कार्रवाई अंगरेज़ी भाषा में होती है।

ज़िला और सेशन जज— संघीय न्यायालय और हाइकोर्टों के अतिरिक्त समस्त भारतवर्ष में अनेक छोटी अदालतों का जाल फैला हुआ है। हम उनको दीवानी न्यायालय और फ़ौजदारी न्यायालय, इन दो भागों में बाँट सकते हैं। ज़िले की सबसे बड़ी दीवानी अदालत ज़िला जज की अदालत है। ज़िला जज ज़िले के अन्य न्यायालयों का निरीक्षण करता है। उसकी अदालत में अधिक से अधिक १०,००० रुपये के मामले दायर हो सकते हैं। ज़िला जज की अदालत ज़िले की सबसे बड़ी फ़ौजदारी अदालत भी है। इस हैसियत में वह सेशन जज कहलाता है। सेशन जज फ़ौजदारी मामलों का निर्णय जूरर्स और असेसर्स की सहायता से करता है पर उनकी राय का मानना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। ज़िला जज के निर्णय की अपील हाइकोर्ट में होती है।

नये शासन-विधान की २५४ धारा में ज़िला और सेशन जजों[1] की

(१) नये शासन-विधान की २५४ धारा में ज़िला जज की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

योग्यताओं का उल्लेख है। व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार गवर्नरों को ज़िला जजों के नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। इसके पूर्व कि गवर्नर से किसी व्यक्ति के ज़िला जज नियुक्त करने की सिफ़ारिश की जाय, हाईकोर्ट का परामर्श लेना आवश्यक है। सम्राट के नौकरों को छोड़ कर अन्य मनुष्य ज़िला जज के पद पर तभी नियुक्त किये जा सकते हैं जब वे पाँच बरस के अनुभवी बैरिस्टर, या स्कॉटलैंड की फैकल्टी ऑफ़् एडवोकेट्स के सदस्य या भारतीय वकील हों और हाईकोर्ट उनकी सिफ़ारिश करे।

अन्य अदालतें—ज़िले के जज की अदालत को छोड़ कर प्रत्येक ज़िले में फ़ौजदारी और दीवानी की कई अन्य अदालतें होती हैं। दीवानी अदालतों में सब-जज और मुंसिफ की अदालतें उल्लेखनीय हैं और फौजदारी अदालतों में प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी के मेजिस्ट्रेटों की अदालतें। प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी के मेजिस्ट्रेट क्रमशः दो बरस, छः महीने और एक महीने की सज़ा और १,०००, २००, और ५० रुपये जुर्माने का हुक्म दे सकते हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक ज़िले में कुछ ऑनरेरी मेजिस्ट्रेट होते हैं जो बिना वेतन के मुक़दमें किया करते हैं। ऑनरेरी मेजिस्ट्रेट उपर्युक्त तीनों श्रेणियों के होते हैं। छावनी के मामलों को तय करने के लिए, छावनी (Cantonment) मेजिस्ट्रेट होते हैं।

शासन-विधान की २५५ धारा में ज़िला जज के नीचे वाले दीवानी के न्यायाधीशों की योग्यताओं का उल्लेख है। प्रांतीय पब्लिक सर्विस कमीशन और प्रांतीय हाईकोर्ट के परामर्श से, प्रांतीय गवर्नर इन न्यायाधीशों की योग्यता संबंधी नियम बनादेंगे। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति, तरक्क़ी, छुट्टी आदि हाईकोर्ट के अधीन रखी गयी हैं।

सम्राट के विशेष अधिकार—नये शासन-विधान की २९५ धारा में न्यायालयों के निर्णय संबंधी, सम्राट के विशेष अधिकारों का

---

pression "District Judge" includes Additional District Judge, Joint District Judge, Assistant District Judge, Chief Judge of a Small Causes Court, Chief Presidency Magistrate, Sessions Judge, Additional Sessions Judge and Assistant Sessions Judge."

उल्लेख है। नये शासन-विधान की किसी धारा के अनुसार सम्राट के उस अधिकार में किसी प्रकार की कमी न होगी जिसके कारण वे किसी सज़ा को माफ़ कर सकते हैं या उसको घटा सकते हैं या उसको स्थगित करा सकते हैं। यदि सम्राट गवर्नर जनरल को उपर्युक्त अधिकार प्रदान करें तो वे भी इन अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि किसी प्रांत में किसी अभियुक्त को प्राण-दंड मिले, तो गवर्नर जनरल उसको, प्रांतीय स्वराज्य के पूर्व सकौंसिल गवर्नर जनरल के अधिकारों के अनुसार, माफ़, स्थगित और कम कर सकते हैं।

भारतीय क़ानून—न्यायालयों के उपर्युक्त संगठन और अधिकारों के विवरण के पश्चात् यह बतलाना आवश्यक है कि भारतीय न्यायालय किन नियमों के अनुसार अपने निर्णय देते हैं। देश के दो प्रमुख जन-समुदाय हिंदू और मुसल्मान हैं। उनके अलग अलग नियम हैं और उनकी ईश्वरीय उत्पत्ति है। जब ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन आरंभ हुआ, बहुत से नये नियम बने जिनके कारण हिंदुओं और मुसल्मानों के पुराने नियमों में काफ़ी रद्दोबदल हो गया। न्यायालयों के निर्णयों की परंपरा का भी ऐसा ही परिणाम हुआ। अतएव सन् १८३३ में लॉर्ड मेकॉले की अध्यक्षता में एक लॉ कमीशन नियुक्त हुआ। इसके और इस प्रकार के अन्य कमीशनों के कारण सन् १८५९ में सिविल प्रोसीड्यूर कोड, सन् १८६० में क्रिमनल प्रोसीड्यूर कोड, और सन् १८६१ में पीनल कोड पास हुये। आजकल प्रायः इन्हीं कोडों के अनुसार मुक़दमों का निर्णय किया जाता है। कुटुंब, उत्तराधिकार आदि के विषय में प्रत्येक संप्रदाय के निजी क़ानून काम में लाये जाते हैं। नये शासन-विधान की २९२ धारा में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रांतीय स्वराज्य आरंभ होने के पूर्व, ब्रिटिश भारत में जो नियम लागू थे, वे ही लागू रहेंगे जब तक वे किसी अधिकार-प्राप्त व्यवस्थापक सभा द्वारा परिवर्तित, संशोधित या रद्द न किये जायँ।

शासन-विभाग और न्याय-विभाग का पृथक्करण—भारतवर्ष की वर्तमान व्यवस्था में ज़िले के कलक्टरों को मालगुज़ारी और पुलिस के अधिकारों के अतिरिक्त मुक़दमें करने का भी अधिकार दिया गया है। शासन-विभाग के पदाधिकारियों के उपर्युक्त न्याय-संबंधी अधिकार

सिद्धांत में दोषपूर्ण और व्यवहार में अनुपयुक्त हैं। यदि शासन-विभाग के अधिकारी किसी अभियुक्त को पकड़ कर उस पर मुक़दमा चलावेंगे और स्वयं उस मुक़दमें का निर्णय करेंगे तो इस बात की आशंका है कि शायद पर्याप्त न्याय न हो सके। साथ ही ठीक ठीक न्याय करने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीश निर्भीक और पक्षपात-रहित हों। यदि शासन-विभाग और न्याय-विभाग के कर्मचारियों का प्रथक्करण नहीं होता, तो इस बात की आशंका बनी रहती है कि न्यायाधीश निर्भीक और पक्षपात-रहित न रह सकेंगे। अतएव बहुत दिनों से भारतीय लोकमत शासन-विभाग और न्याय-विभाग के प्रथक्करण पर ज़ोर देता आया है। भारतीय कांग्रेस कई बार इस आशय के प्रस्ताव पास कर चुकी है। उन सब प्रस्तावों का लिखना यहां संभव नहीं, पर सन् १९०४ में कांग्रेस द्वारा पास किये गये निम्नलिखित प्रस्ताव से इस प्रश्न संबंधी कांग्रेस की नीति का पता चलता है—

"यह कांग्रेस अपने पिछले अधिवेशनों से सहमत होती हुई भारत-सरकार और भारत-मंत्री से यह प्रार्थना करती है कि फौजदारी मामलों में शासन और न्याय-कार्य के अलग करने में बिल्कुल विलंब न करें। इसकी आवश्यकता सरकार ने बहुत दिनों से स्वीकार कर ली है और यदि ज़रूरत पड़े तो कुछ अधिक ख़र्च करके इसको कार्यान्वित करने की संभावना कई बार दिखायी जा चुकी है"।

नये शासन-विधान के बनने के पूर्व तक प्रस्तावित प्रथक्करण नहीं किया गया था। नये शासन-विधान के अनुसार, भारतवर्ष के कुछ प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का शासन स्थापित हुआ है। संभव है कि ये मंत्रिमंडल भारतीय लोकमत की उक्त मांग पूरी कर सकें और शासन-विभाग और न्याय-विभाग के पदाधिकारियों का प्रथक्करण हो जाय।

तेरहवाँ परिच्छेद

सरकारी नौकरियाँ

सुशासन और सरकारी नौकर—भारतीय सिविल सर्विस—भारतीय सिविल सर्विस का ऐतिहासिक सिंहावलोकन—सन् १६०० से १७७२ तक; सन् १७७३ से १७९३ तक; सन् १७९४ से १८५८ तक; सन् १८५९ से १८८५ तक; एटचीसन कमीशन १८८६; इसलिंगटन कमीशन की सिफ़ारिशें, सन् १९१३; यूरोपीय महासमर, और मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार; ली कमीशन की सिफ़ारिशें, सन् १९२३; साइमन कमीशन—नया शासन-विधान और सैनिक नौकरियाँ—नया शासन-विधान और सिविल सर्विसें—सिविल सर्विसों का वर्गीकरण; सिविल सर्विसों का कार्यकाल; सिविल सर्विसों की नियुक्ति; सिविल सर्विसों का वेतन, हरजाना आदि; सिविल सर्विसों का बचाव—पब्लिक सर्विस कमीशन—सिविल सर्विस संबंधी समस्याएं—उत्तरदायी शासन और सिविल सर्विसों के अधिकार; मंत्रियों और सिविल सर्विसों का सहयोग, सिविल सर्विसों का भारतीयकरण; आर्थिक अधिकार; जनता के साथ सहानुभूति।

सुशासन और सरकारी नौकर—पिछले चार परिच्छेदों में हमने संघीय शासन और व्यवस्थापक मंडल, प्रांतीय शासन और व्यवस्थापक मंडल और संघीय न्यायालय का विस्तार-पूर्वक विवरण लिखा है। उनके अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्रिटिश पार्लमेंट ने देश की शांति और व्यवस्था की, जहाँ तक हो सका, समुचित व्यवस्था कर दी है। पर केवल इतने ही से शांति और सुव्यवस्था की आशा करना एक निर्मूल बात है। किसी देश का शासन-विधान चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो और उसके उच्च पदाधिकारी चाहे कितने ही योग्य क्यों न हों, परंतु योग्य और निष्पक्ष सरकारी नौकरों के सहयोग के बिना, वहाँ पर सुशासन स्थापित नहीं किया जा सकता। केंद्रीय और प्रांतीय सरकारें तो केवल शासन की नीति ही निर्धारित करती और कर सकती हैं। उसके कार्यान्वित करने का भार सरकारी नौकरों पर होता है। यदि वे योग्य, निष्पक्ष और संकीर्णता से मुक्त न हुए, तो केंद्रीय

और प्रांतीय सरकारें अपनी नीति और उद्देश्य में असफल होती हैं और देश की शांति और व्यवस्था में बाधा पड़ती है। सौभाग्य से भारतीय नौकरियाँ हमेशा से अपनी योग्यता और निष्पक्षता के लिए प्रसिद्ध रही हैं। इसके लिए उन्हें संसार के सब देशों की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता है और उनके आश्रितों के उचित हितों और अधिकारों की रक्षा की जाती है।

भारतीय सिविल सर्विस—'सिविल सर्विस' सामूहिक नाम है उन सब नौकरियों का जो फ़ौजी (Military) नाविक (Maritime) और धार्मिक (Ecclesiastical) नहीं हैं। इस नाम का प्रयोग ईस्ट-इंडिया कंपनी के ही ज़माने में आरंभ हुआ था और सन् १७६५ तक भली भाँति प्रचलित हो चुका था। इस साल के एक पत्र में इस प्रकार लिखा हुआ है—"धनी और बड़े होने का एकमात्र तरीक़ा कंपनी की सिविल सर्विस[1] है"। सन् १७९३ में इसका नाम कंपनी की सिविल सर्विस से बदल कर कॉवेनेंटेड (Covenanted) सिविल सर्विस रखा गया और यह भी तय कर दिया गया कि प्रत्येक प्रेसीडेंसी के रिक्त सिविल स्थानों पर उसी प्रेसीडेंसी के सिविल सर्वेंट्स नियुक्त किये जायँगे। इस प्रकार बंगाल, मद्रास और बंबई की अलग अलग सिविल सर्विसें बनीं। सन् १८७८ में उपर्युक्त सिविल सर्विसों के किसी सदस्य के लिए भारतवर्ष के किसी भाग में काम करना अनिवार्य कर दिया गया और इस प्रकार भारतीय सिविल सर्विस (Indian Civil Service) का जन्म[2] हुआ।

भारतीय सिविल सर्विस ब्रिटिश साम्राज्य की महान् सिविल सर्विसों में से एक है। अन्य देशों की नौकरियों की अपेक्षा, भारतवर्ष के शासन में उसका बहुत ज्यादा हाथ रहा है और अब भी है। अन्य देशों के

(१) Blunt: The I.C.S. p. 11.

(२) 'भारतीय सिविल सर्विस' इस नाम का प्रयोग लगभग चालीस बरस से हो रहा है। इस नौकरी का वास्तविक नाम है 'सिविल सर्विस ऑफ़ इंडिया'। किंतु प्रचलित होने के कारण भारतीय सिविल सर्विस (Indian Civil Service), इस नाम का प्रयोग करना अनुचित नहीं मालूम होता।

सरकारी नौकरों का काम सरकार द्वारा निर्धारित नीति को उसके आदेशानुकूल कार्यान्वित करना होता है। भारतीय सिविल सर्विस यह काम तो करती ही आयी है, साथ ही साथ सरकारी नीति का निर्धारित करना भी बहुत कुछ उसके हाथ में रहा है। इस नौकरी के सदस्य सरकार के प्रत्येक विभाग के ऊंचे ऊंचे पदों पर नियुक्त किये जाते हैं। गवर्नर जनरल की कौंसिल के कुछ सदस्य, बंगाल, बंबई और मद्रास के गवर्नरों को छोड़ कर प्राय: सभी प्रांतों के गवर्नर, प्रांतीय इकज़ीक्यूटिव कौंसिलों के कुछ सदस्य, हाईकोर्टों के कुछ न्यायाधीश आदि इसी नौकरी के सदस्य होते हैं। इन स्थानों में काम करने के कारण, भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों का सरकारी नीति के निर्धारित करने में बहुत कुछ हाथ होता है। सन् १९१९ में उत्तरदायी शासन के श्रीगणेश के कारण, सरकार की नीति के निर्धारित करने में, उसका भाग कुछ कम हो चला था, और संभव है कि सन् १९३५ के शासन-विधान के कारण और भी कम हो जाय, फिर भी निकट भविष्य में यह बात असंभव सी प्रतीत होती है कि देश के शासन में भारतीय सिविल सर्विस का केवल वही स्थान रह जाय जो अन्य देशों के शासन में वहाँ की सिविल सर्विस का होता है।

भारतीय सिविल सर्विस का ऐतिहासिक सिंहावलोकन—भारतीय सिविल सर्विस की वर्तमान परिस्थिति के समझने के लिए उसके क्रमिक विकास पर थोड़ा बहुत प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। सन् १६०० से सन् १९३५ तक के भारतीय सिविल सर्विस के इतिहास को हम निम्निलिखित विभिन्न कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(अ) सन् १६०० से १७७२ तक—सन् १६०० से सन् १७४० तक ईस्ट इंडिया कंपनी प्रधानतया एक व्यापारी संस्था थी। भारतीय व्यापार से लाभ उठाना उसके अस्तित्व का मुख्य उद्देश्य था। कंपनी के सौदागर,[1] जिनको फैक्टर्स (Factors) कहते थे विभिन्न स्थानों में,

(१) कहा जाता है कि भारतीय राजे महाराजे कंपनी के सौदागरों से ही व्यवहार करने में संकोच करते थे। अतएव इंगलैंड के सम्राट ने सर टामस रो को अपने राजदूत की हैसियत से मुग़ल दरबार में भेजा था। फिर भी कंपनी का सारा कामकाज प्रधानतया सौदागरों के ही हाथ में था।

व्यापारिक केंद्रों को स्थापित करके कंपनी का और निजी व्यापार करते थे। इन केंद्रों को फैक्ट्रीस (Factories) कहते थे। सन् १६६५ तक कंपनी का व्यापार और शासन इन्हीं फैक्टर्स के हाथ में था। पर उक्त प्रकार के अनुभवी सौदागरों की संख्या परिमित थी। अतएव क्रमशः कंपनी के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वह इंगलैंड के नवयुवकों को भारतवर्ष में अपना काम करने के लिए भेजे ! इनमें से कुछ लेखक (Writers)[1] का काम करते थे और कुछ अप्रैंटिस (Apprentices) थे। फैक्टरी के सर्वोच्च अधिकारी को एजेंट कहते थे। इस प्रकार सन् १७४० तक कंपनी का व्यापार और उसकी फैक्टरियों का शासन पांच प्रकार के कर्मचारियों के अधीन था—एजेंट, बड़े सौदागर (Senior Factors) छोटे सौदागर (Junior Factors) लेखक (Writers) और अप्रैंटिस लोग। इस काल में कंपनी की नौकरी की कोई खास शर्तें न थीं। अच्छा लिखना और हिसाव-किताव का जानना कंपनी की नौकरी के लिए पर्याप्त योग्यताएं थीं। सन् १७१४ में एक ऐसा नियम बना जिसके कारण कंपनी के प्रत्येक नयें नौकर को कोई न कोई संरक्षक (Director) मनोनीत करता था[2]। तत्पश्चात् उसे ५०० पौंड की दो ज़मानतें देनी पड़ती थीं और अच्छे चालचलन की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। कंपनी के नौकरों को पर्याप्त वेतन[3] भी न मिलता था। फिर भी लोग भारतवर्ष में कंपनी की नौकरी करने के लिए उत्सुक थे। इसके चार कारण थे—

(१) कंपनी के व्यापार में हिस्सा और उसका लाभ।

(२) निजी व्यापार और उसका लाभ।

---

(१) सन् १६६५ में सूरत की फैक्टरी ने कुछ ऐसे नीच जाति के नवयुवकों के भेजनें की प्रार्थना की थी जो साफ़ साफ़ लिख सकते हों। अतएव कंपनी ने इस प्रकार के वारह लेखक और दो अप्रैंटिस भेजे थे।

(२) कंपनी की नौकरी के लिए इंगलैंड के निवासी इतने उत्सुक थे कि कभी कभी एक उम्मेदवार को मनोनीत करने के लिए संरक्षक लोग २००० पौंड से ३००० पौंड तक वसूल करते थे।

(३) मद्रास प्रेसीडेंसी में अप्रैंटिस को ५ पौंड, लेखक को १० पौंड, छोटे सौदागर को ४० पौंड, बड़े सौदागर को ५० पौंड और एजेंट को ३०० पौंड सालाना वेतन मिलता था। Blunt: The I. C. S. p. 66

(३) भारतवर्ष के लोगों की भेंटें। और
(४) भारतीय राजाओं और सरदारों के ऋण का अपरिमित ब्याज।

इन कारणों से कंपनी के नौकर थोड़े ही दिनों में धनाढ्य हो जाते थे और इंगलैंड वापस जाकर अपना शेष जीवन शान-शौकत से व्यतीत करते थे।

सन् १७५० के पश्चात् कंपनी क्रमशः भारतीय राजाओं के परस्पर झगड़ों में हस्तक्षेप करने लगी और सन् १७५७ से सन् १७६५ तक बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी उसके हाथ में आ गयी। अब कंपनी सौदागर भी थी और शासक भी। अपने प्रांतों के सुशासन के लिए वह किसी के प्रति उत्तरदायी न थी। अतएव अपनी नयी स्थिति में उसने और उसके नौकरों ने अनियमित और अनैतिक ढंग से धन एकत्रित करना शुरू किया। निजी व्यापार से बेहद लाभ उठाया[1] यथा देशी राजाओं और सरदारों से जबरदस्ती भेंटें[2] मांगी गयीं, और उनको कंपनी के नौकरों ने अपरिमित ब्याज की दर पर ऋण दिया[3]। इस

---

(१) उदाहरण के लिए निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—कंपनी के एक नौकर को चार बरस के लिए अफ़ीम का ठेका मिला था और उसने उसे तुरंत ही ४०,००० पौंड को बेच दिया था। एक मनुष्य जो ४१ बरस की अवस्था में लेखक के पद पर नियुक्त हुआ था, २० बरस की नौकरी में १,००,००० पौंड एकत्रित कर सका था।

(२) इस विषय का सब से भयानक उदाहरण है बंगाल का। सिराजुद्दौला ने क्लाइव को हाथी और जवाहिरात आदि की भेंट दी थी। गवर्नर बनाये जाने के पश्चात् मीरजाफ़र ने लगभग ३०,००,००० पौंड की भेंट चढ़ायी थी। इसके पश्चात् कंपनी के कर्मचारी प्रत्येक नये गवर्नर से जबरदस्ती भेंट मांगते थे और कभी कभी सिर्फ़ भेंट लेने के ही लिए गवर्नर बदले जाते थे।

(३) कंपनी के नौकरों ने अरकाट के नवाब को खूब रुपया उधार दिया था। सन् १७८४ में इस विषय की जांच की गयी थी और परिणामस्वरूप यह मालूम हुआ था कि नवाब पर ३४,४०,००० पौंड का ऋण है। जब यह रकम अदा हो गयी तब यह मालूम हुआ कि नवाब पर ३०,००,००० पौंड का एक दूसरा ऋण भी है।

प्रकार थोड़े ही दिनों में कंपनी के नौकर अपरिमित धन एकत्रित करके अपने देश को लौटने लगे। इंगलैंड के और लोग भी इस परिस्थिति से लाभ उठाना चाहते थे। वे भारतवर्ष में कंपनी की नौकरी करने के लिए उत्सुक थे। पहले कंपनी की नौकरी के लिए केवल साधारण लोग ही आते थे। अब इंगलैंड के उच्च घराने के लोग भी भारतवर्ष में कंपनी की नौकरी करने के लिए आने लगे। उनके आने का मुख्य उद्देश्य था कम से कम समय में अधिक से धन एकत्रित करना।

(ब) सन् १७७३ से १७९३ तक—रेग्यूलेटिंग एक्ट के पास होने के पश्चात् वॉरेन हैस्टिंग्स बंगाल के गवर्नर जनरल हुए। अपने कार्य-काल में उन्होंने शासन-संबंधी कई सुधार किये। हिंदुस्तानी कलक्टरों के स्थान पर कंपनी के नौकर मालगुज़ारी वसूल करने लगे। अदालतें नये ढंग से संगठित की गयीं और व्यापार की अनेक प्रचलित कुप्रथाएं बंद की गयीं। सन् १७८१ तक मालगुज़ारी का महकमा और अदालतें अंगरेज़ अफ़सरों के हाथ में आ गयीं। इसी समय से भारतीय सिविल सर्विस का श्रीगणेश हुआ।

वॉरेन हैस्टिंग्स को कंपनी के नौकरों की, किसी न किसी प्रकार से धन एकत्रित करने वाली मनोवृत्ति नापसंद थी। उसने इसके भी सुधारने की कोशिश की, और कुछ अंश में सफलता प्राप्त की। कंपनी के नौकरों को अब बंगाल में उतना धन न मिलता था जितना उनके पूर्वजों को मिलता था[1]।

लॉर्ड कॉर्नवालिस के शासन-काल में कंपनी के नौकरी में और भी

---

(१) जब पिट्स इंडिया बिल कॉमन सभा के विचाराधीन था उस समय मेजर स्कॉट ने अपनी वक्तृता में, बंगाल की सिविल सर्विस का निम्नलिखित चित्र खींचा था—सन १६७२ से सन् १७८४ तक ५०८ सिविल नौकर नियुक्त किये गये। इनमें से १५० भारतवर्ष में ही मृत्यु को प्राप्त हुए, ३७ विलायत को लौटे, और ३२१ भारतवर्ष में ही रहे। शायद वे घर लौटने के योग्य न थे। जितने लोग घर लौटे उनमें से केवल दो ही पार्लमेंट के सदस्य चुने गये। किसी के पास बहुत ज्यादा धन था। बहुतों के पास २०,००० पौंड से कम था और कुछ के पास एक शिलिंग भी न था। O. Malley: The Indian Civil Service p. 31

कई सुधार हुए। सन् १७९३ के चार्टर एक्ट के अनुसार यह निश्चित कर दिया गया था कि कौंसिल की मेंबरी को छोड़ कर, प्रत्येक प्रेसीडेंसी के रिक्त सिविल स्थानों पर उसी प्रेसीडेंसी के सिविल नौकर नियुक्त किये जायँगे। वेतन के अनुसार अनुभव का काल भी निर्धारित किया गया था। ५०० पौंड सालाना की नौकरी के लिए तीन बरस का अनुभव आवश्यक था; १५०० पौंड की नौकरी के लिए छः बरस का अनुभव; ३००० पौंड की नौकरी के लिए नव बरस का अनुभव; और ४००० पौंड की नौकरी के लिए बारह बरस का अनुभव। इसी एक्ट के अनुसार संरक्षकों को अपने चुनाव के समय यह शपथ खानी पड़ती थी कि वे किसी व्यक्ति को मनोनीत करने के लिए किसी प्रकार से रुपया न लेंगे। इसी साल सरकारी नौकरों का वेतन भी बढ़ा। कलक्टरों को १५०० रुपये माहवार वेतन मिलने लगा और अपनी जमा की हुई माल-गुज़ारी का एक प्रतिशत् कमीशन। इस एक्ट के अनुसार नये सरकारी नौकरों की अवस्था कम से कम २२ बरस निश्चित की गयी थी।

सन् १७९३ के चार्टर एक्ट और लॉर्ड कॉर्नवालिस के सुधारों के कारण कंपनी के नौकर नैतिक ढंग से काम करने लगे, और वे लोग जो भारतवर्ष में केवल धन एकत्रित करने आये थे त्यागपत्र देकर अपने देश को लौटने लगे। इस प्रकार सन् १७९३ में कॉवेनेंटेड (Covenanted) सिविल सर्विस के सदस्य होकर कंपनी के नौकर भारतवर्ष में शासन करने लगे। यही कॉवेनेंटेड सिविल सर्विस अंत में भारतीय सिविल सर्विस के नाम से प्रसिद्ध हुई।

सन् १७९४ से १८५८ तक—सन् १७९४ से सन १८६० तक कॉवेनेन्टेड सिविल सर्विस में कई सुधार हुए। लॉर्ड वेलेज़ली ने सरकारी नौकरों की शिक्षा के लिए फोर्ट विलियम में एक कॉलेज स्थापित करने की चेष्टा की। संरक्षकों की राय में उनकी योजना आवश्यकता से अधिक व्ययसाध्य थी। फिर भी सन् १८०४ में बंगाल के सरकारी नौकरों की शिक्षा के लिए एक ऐसा कॉलेज खुल ही गया। उसमें केवल हिंदुस्तानी भाषाएं ही पढ़ायी जाती थीं। शिक्षा का काल तीन बरस था। क्रमशः कॉलेज का पतन होता गया। वह शिक्षालय न रह कर केवल परीक्षा लेने वाली संस्था में परिवर्तित हो गया और अंत में सन् १८५४ में लॉर्ड डलहौज़ी ने उसे तोड़ दिया। सन् १८०६ में सिविल नौकरों की शिक्षा

के लिए इंगलैंड में हेलीवरी कॉलेज स्थापित हुआ। इस कालेज की परीक्षाओं को पास करके ही इंगलैंड के नवयुवक भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य बन सकते थे। भारतीय नौकरियों के आकर्षणरहित होते हुए भी इस कालेज में भर्ती होने के लिए आवश्यकता से अधिक उम्मेदवार आते थे। इसी वजह से उम्मेदवारों में से योग्य से योग्य व्यक्ति चुने जाते थे और कॉलेज की पढ़ाई ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज से भी ऊँचे दर्जे की होती थी। कंपनी द्वारा शासित प्रदेशों की वृद्धि के कारण, इंगलैंड की सरकार, कंपनी के नौकरों को अपने अधीन करना चाहती थी। अतएव सन् १८५३ में पार्लमेंट ने प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर सिविल सर्विस में भर्ती होने का नियम बनाया। तत्पश्चात् हेलीवरी कॉलेज की आवश्यकता न रही और वह तोड़ दिया गया।

इस काल की दूसरी उल्लेखनीय बात है कंपनी के भारतीय व्यापार का खात्मा। व्यापारी एवं शासक दोनों की हैसियत में कंपनी और उसके नौकर भारतीय प्रदेशों से नाजायज़ मुनाफ़ा उठाते थे। सन् १८३३ के चार्टर एक्ट के अनुसार कंपनी के व्यापारिक अधिकारों की इति श्री हो गयी और अब वह भारतवर्ष में केवल शासक के तौर पर काम करने लगी। इस परिवर्तन के कारण कंपनी की भारतीय नीति और उसके नौकरों के आचरण में वांछनीय परिवर्तन हुए।

इस काल की तीसरी उल्लेखनीय बात है प्रतियोगी परीक्षाओं का आरंभ। सन् १८५३ में पार्लमेंट ने इस विषय का नियम बनाया था। लॉर्ड मेकॉले ने सन् १८३३ में ही इस बात पर जोर दिया था। उनका विचार था कि संरक्षक रिक्त स्थानों के तिगुने उम्मेदवारों को मनोनीत करें और प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर इनमें से एक तिहाई उम्मेदवार चुन लिये जायँ। बीस बरस के पश्चात् वे अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत कर सके। सन् १८५५ में इस विषय की प्रथम प्रतियोगी परीक्षा हुई। इसमें संदेह नहीं कि इन परीक्षाओं के कारण सिविल सर्विस में योग्य से योग्य व्यक्ति आने लगे पर यह आशा निर्मूल सिद्ध हुई कि भारतवर्ष के नवयुवक भी इन परीक्षाओं में बैठकर सिविल सर्विस में भर्ती होंगे। तत्कालीन भारतवर्ष की सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति ऐसी न थी कि भारतीय नवयुवक लोकमत का विरोध करके केवल परीक्षा देने ही के लिए विलायत जाते। फल-स्वरूप सन् १८३३

की घोषणा के अनुसार, क़ानूनी दृष्टि से अधिकारी होते हुए भी, भारतवर्ष के नवयुवक सिविल सर्विस से अलग रहे और केवल अंगरेज़ लोग ही उसमें भर्ती होते रहे।

इस काल की चौथी उल्लेखनीय बात है फ़ौजी अफ़सरों का सिविल स्थानों में नियुक्त किया जाना। यह प्रथा लॉर्ड कॉर्नवालिस के शासन-काल में आरंभ हो चुकी थी। किंतु इस काल में इस पर विशेष अमल हुआ। लॉर्ड एलेनबरो ने ऐसे फ़ौजी अफ़सरों को शासक के तौर पर नियुक्त करना शुरू किया जिनको शासन का लेशमात्र भी अनुभव न था। सर चार्ल्स नैपियर ने सिंध में इसी नीति पर अमल किया। भारतीय परिस्थिति के कारण कंपनी के लिए ऐसा करना एक प्रकार से अनुचित न था। कंपनी द्वारा शासित प्रदेश क्रमशः बढ़ते जाते थे। उनमें शांति स्थापित करना कंपनी का प्रथम कर्तव्य था। सिविलियनों की अपेक्षा फ़ौजी अफ़सर शांति स्थापित करने के लिए अधिक उपयुक्त होते थे। किंतु शांति स्थापित होने के पश्चात् फ़ौजी अफ़सरों को शासनाधिकार देने की नीति विवेकपूर्ण न थी। क्रमशः विभिन्न प्रांतों में फ़ौजी अफ़सरों का नियुक्त किया जाना बंद हो गया[१]। पर सीमांत प्रदेश और बर्मा में अब भी फ़ौजी अफ़सर सिविल पदों पर नियुक्त किये जाते हैं।

इस काल की पाँचवीं उल्लेखनीय बात है सिपाही-विद्रोह। इसके कारण इंगलैंड की सरकार ने कंपनी के भारतीय प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। यह परिवर्तन वास्तव में बड़ा ही महत्वपूर्ण था। पर सिविल सर्विस के अधिकारों और कर्तव्यों आदि पर इस परिवर्तन का विशेष प्रभाव न पड़ा। इस काल की सिविल सर्विस के निम्नलिखित अधिकार उल्लेखनीय हैं—

सिविल सर्विस के सदस्यों को पर्याप्त वेतन मिलता था। उन्हें साल में एक महीने की छुट्टी पूरी तनख़्वाह पर मिलती थी और दस बरस की नौकरी के पश्चात् तीन बरस की फरलो। यदि वे इस छुट्टी को युरुप में

(१) सन् १७७६ के पश्चात् अवध, मध्यप्रांत, बंगाल, उत्तरी पश्चिमी प्रदेश (वर्तमान संयुक्तप्रांत) में सैनिक अफ़सरों का नियुक्त किया जाना बंद हो गया था, सन् १८८५ के पश्चात् सिंध में, सन् १९०३ के पश्चात् पंजाब में, और सन् १९०७ के पश्चात् आसाम में। Blunt: The I.C.S. p. 45.

व्यतीत करते थे तो उन्हें ५०० पौंड सालाना मिलता था और यदि अन्य देशों में तो उनके वेतन का एक तिहाई[1]। पचीस वरस की नौकरी के पश्चात्, सिविल सर्विस के सदस्य १००० पौंड सालाना पेंशन पर अवकाश ग्रहण कर सकते थे। फैमली (Family) पेंशन की स्कीम के अनुसार प्रत्येक सिविलियन को अपनी आमदनी का कुछ अंश एक कोष में करना पड़ता था। इसके कारण उसकी विधवा स्त्री को ३०० पौंड सालाना खर्च मिलता था।

सन् १८५६ से सन् १८८५ तक—सन् १८५६ से सन् १८८५ तक सिविल सर्विस से संबंध रखने वाली दो महत्वपूर्ण वातें हुईं—

(१) सिविल सर्विस एक्ट सन् १८६१। और

(२) भारतवासियों को सिविल सर्विस में भर्ती करने का प्रयास। सन् १८६१ के सिविल सर्विस एक्ट का मुख्य उद्देश्य उन नियुक्तियों को नियमयुक्त वनाना था जो सन् १७९२ के चार्टर एक्ट की धाराओं के प्रतिकूल की गयी थीं। सन् १७९२ के चार्टर एक्ट के अनुसार प्रत्येक प्रेसीडेंसी के रिक्त सिविल स्थानों पर उसी प्रेसीडेंसी के कॉवेनेंटेड सिविल सर्विस के सदस्य नियुक्त किये जाने को थे। कार्यरूप में परिस्थिति विशेष के कारण, कभी कभी ऐसा न हो सका था। सन् १८६१ के एक्ट के द्वारा इस प्रकार की सारी नियुक्तियां क़ानूनी क़रार दी गयीं। एक्ट के परिशिष्ट में उन जगहों की भी सूची थी जो पुनः कॉवेनेंटेड सिविल सर्विस के सदस्यों के लिए रिज़र्व की गयी थीं। असाधारण परिस्थितियों में भारत-सरकार को इन स्थानों पर भी वाहरी मनुष्यों के नियुक्त करने का अधिकार इस शर्त पर दिया गया था कि ऐसी नियुक्तियों के विषय में स-कौंसिल भारत-मंत्री की स्वीकृति मांगी जाय और यदि एक साल के अंदर उनकी स्वीकृति न मिले तो नियुक्त किये गये पदाधिकारी वरखास्त कर दिये जायँ। सन् १८६० में सिविल सर्विस के परीक्षार्थियों की अवस्था घटा कर २२ वरस कर दी गयी और सन् १८६६ में २१ वरस। इन परिवर्तनों के कारण भारतवर्ष में पुनः

---

(1) If he spent his furlough in Europe, he ceased to have a lian on his appointment, but retained it if he spent it at other places. Blunt: The I.C.S. p. 47.

असंतोष फैला। कहा जाता था कि सरकार ने उपर्युक्त परिवर्तन इस उद्देश्य से किये हैं कि भारतवासी प्रतियोगी परीक्षाओं का लाभ न उठा सकें। इसी बहाने भारतवर्ष और इंगलैंड में नौकरियों के भारतीय-करण के लिए कुछ हलचल हुई। सन् १८६८ में लॉर्ड लॉरेंस ने कुछ योग्य भारतीय नवयुवकों को छात्रवृत्तियां देकर इंगलैंड में प्रतियोगी परीक्षाओं में शामिल होने के लिए भेजना चाहा; किंतु इंगलैंड की सरकार उनके विचारों से सहमत न थी। सन् १८७० के एक क़ानून के अनुसार कुछ योग्य भारतीय नवयुवक, सिविल सर्विस की परीक्षाओं में बिना बैठे हुए, नियुक्त किये जाने को थे। इस संबंध के सन् १८७९ के एक नियम के द्वारा यह निश्चित किया गया कि रिक्त स्थानों में से ⅙ स्थान मनोनीत भारतीयों को दिये जायँ। पर इस नियम पर भी विशेष अमल न हुआ और सन् १८३३, सन् १८५३ और सन् १८५८ की घोषणाएँ कार्यरूप में परिणत न हो सकीं[1]। भारतवासियों के असंतोष की मात्रा क्रमशः बढ़ती गयी और अंत में सरकार ने इस प्रश्न की जांच करने के लिए एटचीसन (Aitchison) कमीशन को नियुक्त किया।

एटचीसन कमीशन सन् १८८६—एटचीसन कमीशन का काम एक ऐसी योजना का बनाना था जिसके अनुसार भारतवासियों को न्याय-पूर्वक ऊंचे और अधिक पद मिल सकें। कमीशन ने निम्नलिखित सिफ़ारिशें कीं—

(१) प्रतियोगी परीक्षाओं का इंगलैंड और भारतवर्ष दोनों देशों में किया जाना उपयुक्त न था।

(२) भारतवर्ष की सिविल नौकरियाँ दो भागों में विभक्त कर दी जायँ, पहली इंपीरियल सिविल सर्विस और दूसरी प्रांतीय सिविल सर्विस।

(३) इंपीरियल सिविल सर्विस की भर्ती इंगलैंड में ली गयी

---

(१) सन् १८५३ से १८७० तक सिविल सर्विस में एक हिंदुस्तानी और ८२५ यूरोपियन भर्ती किये गये थे। सन् १८७० से १८८६ तक ११ हिंदुस्तानी और ५७६ यूरोपियन। The Public Service Question in India by the Hon. Mr. N. Suba Rao Pantulu B.A.B.L. Quoted by Kale: Indian Administration p. 244.

प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर की जाय और प्रांतीय सिविल सर्विस की भर्ती प्रांतीय आधार पर।

इन सिफ़ारिशों के आधार पर, सिविल के नियमों में सांकेतिक परिवर्तन किये गये। सिविल सर्विसें दो की जगह तीन भागों में विभक्त की गयीं—इंपीरियल सिविल सर्विस, प्रांतीय सिविल सर्विस और सबॉर्डीनेट सिविल सर्विस। प्रांतीय और सबॉर्डीनेट सिविल सर्विसों में केवल हिंदुस्तानी ही नियुक्त किये जाते थे। प्रांतीय सिविल सर्विसों की भर्ती, कभी प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर होती थी, कभी मनोनीत करके, और कभी सबॉर्डीनेट नौकरों की तरक्क़ी करके। इन परिवर्तनों से भी भारतवासी संतुष्ट न थे। वे केवल नीचे पदों पर ही नियुक्त किये जाते थे और ऊंचे पदों पर प्रायः युरोपियनों का एकाधिकार था। सन् १८९३ में कॉमन सभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षाएँ भारतवर्ष और इंगलैंड दोनों देशों में हुआ करें। पर सन् १९१३ तक इस प्रस्ताव पर कोई कार्रवाई न हुई। इसी साल नौकरियों की पूर्ण जांच करने के लिए एक दूसरा कमीशन नियुक्त हुआ। इसका नाम इसलिंगटन (Islington) कमीशन था।

इसलिंगटन कमीशन की सिफ़ारिशें, सन् १९१३— इसलिंगटन कमीशन की नियुक्ति तो सन् १९१३ में हुई थी पर उसकी रिपोर्ट सन् १९१६ में प्रकाशित हुई थी। उस समय युरोपीय महासमर बड़े ज़ोर से चल रहा था। फल-स्वरूप उसकी सिफ़ारिशों पर कोई कार्रवाई न की जा सकी। सन् १९१७ में भारत-मंत्री ने ब्रिटिश सरकार की भारतीय नीति की घोषणा की, जिसके कारण इसलिंगटन कमीशन की सिफ़ारिशें अनुपयुक्त प्रतीत होने लगीं और वे एक प्रकार से समाप्त समझी गयीं। फिर भी भारतीय सिविल सर्विस के इतिहास के क्रमिक विकास में, इसलिंगटन कमीशन की सिफ़ारिशों पर थोड़ा बहुत प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

इसलिंगटन कमीशन की निम्नलिखित सिफ़ारिशें विशेषतया उल्लेखनीय हैं—

(१) स्वास्थ्य, पब्लिक वर्क्स, रेलवे, पैमाइश, और टकसाल विभागों को छोड़ कर सैनिक अफ़सरों का सिविल विभागों में नियुक्त करना

बंद कर दिया जाय, और वर्षों में यह परिवर्तन बहुत धीरे धीरे किया जाय।

(२) प्रांतीय सिविल सर्विसों का नाम प्रत्येक प्रांत के नाम पर रखा जाय, जैसे बंगाल सिविल सर्विस, मद्रास सिविल सर्विस आदि।

(३) जिन नौकरियों की भर्ती भारतवर्ष में हो रही है उनकी भर्ती इसी प्रकार होती रहे। साथ ही भारतीय अर्थ-विभाग और परिस्थिति के अनुकूल सैनिक अर्थ-विभाग की भी भर्ती भारतवर्ष में हुआ करे। भारतीय सिविल सर्विस और भारतीय पुलिस सर्विस के अधिकांश सदस्य इंग्लैंड में ली गयी प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर भर्ती किये जायँ, और कुछ भारतवर्ष में मनोनीत किये जायँ। शिक्षा, पब्लिक वर्क्स और स्वास्थ्य आदि विभागों के आधे कर्मचारी इंग्लैंड में भर्ती किये जायँ और आधे भारतवर्ष में, और कृषि आदि विभागों के समस्त कर्मचारी अंत में भारतवर्ष में ही भर्ती किये जायँ।

(४) छात्रवृत्तियों के जरिये से नौकरियों में गैर-यूरोपियनों की संख्या का बढ़ाना उपयुक्त न था।

(५) भारतवर्ष की तत्कालीन परिस्थिति में प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर सार्वजनिक नौकरियों का भर्ती करना उपयुक्त न था। पर जहां पर यह पद्धति चल पड़ी है, वहां उसे चलने देना चाहिये।

(६) वर्तमान परिस्थिति में कुछ सदस्यों को मनोनीत करके सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व ठीक रखा जाय। परंतु भिन्न भिन्न संप्रदायों के अनुपात के विषय में निर्धारित नियमों का बनाना ठीक न था।

(७) सरकार को चाहिये कि वह अपनी नौकरियों को केवल उतना ही वेतन दे, जितने से उपयुक्त उम्मेदवार मिल जायँ, और वे नैतिक अधःपतन से बचकर मर्यादापूर्वक आराम से रह सकें।

यूरोपीय महासमर और मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार—सन् १९१४ से १९१८ तक यूरोपीय महासमर होता रहा। इसी काल में भारत-मंत्री ने ब्रिटिश सरकार की भारतीय नीति की घोषणा की जिसके अनुसार भारतवर्ष में अंत में उत्तरदायी शासन स्थापित होने को था और

शनैः शनैः शासन का अधिकाधिक भाग भारतवासियों को दिया जाने को था। इसी काल में भारतीय लोकमत में प्रगतिशील परिवर्तन हुए। अतएव इसलिंगटन कमीशन की सिफ़ारिशों पर कोई कार्रवाई न की जा सकी और मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में सार्वजनिक नौकरियों के विषय में नयी सिफ़ारिशें की गयीं और उनमें से अधिकांश गवर्मेंट ऑफ़् इंडिया एक्ट सन् १९१९ में शामिल कर ली गयीं।

मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों में नौकरियों के विषय में निम्नलिखित सिफ़ारिशें की गयी थीं—

(१) नौकरियों में जो कुछ जातीय भेदभाव बचा है उसे भी मिटा दिया जाय।

(२) इंपीरियल सर्विस के उम्मेदवार इंगलैंड और भारतवर्ष दोनों देशों में भर्ती किये जायँ, भारतीय भर्ती का अनुपात ३३ प्रतिशत् हो और वह १½ प्रतिशत् प्रतिवर्ष बढ़ाया जाय जिससे लगभग दस बरस के पश्चात् दोनों देशों में बराबर उम्मेदवार भर्ती हो सकें।

(३) इंपीरियल सर्विस के युरोपियन सदस्यों का वेतन और भत्ता बढ़ाया जाय, उनकी पेंशन और छुट्टी के नियम अधिक उदार बनाये जायँ और नये शासन-विधान में उनके हितों की रक्षा की समुचित व्यवस्था की जाय। संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी ने इस विषय में यह भी सिफ़ारिश की कि यदि युरोपीय सदस्य नये शासन से संतुष्ट न हों तो उन्हें अन्य स्थानों में उसी प्रकार की नौकरियां दी जायँ और उन्हें अनुपातीय पेंशनों पर अवकाश ग्रहण करने का अधिकार दिया जाय।

इन्हीं सिफ़ारिशों के आधार पर सन् १९१९ के एक्ट में नौकरियों के संबंध में निम्नलिखित व्यवस्था की गयी थी—

(१) स-कौंसिल भारत-मंत्री को ऐसे नियमों के बनाने का अधिकार मिला जिनके अनुसार भारतवर्ष में रहने वाले लोग भी भारतीय सिविल सर्विस में भर्ती किये जा सकें। इन्हीं नियमों के अनुसार इंगलैंड और भारतवर्ष दोनों देशों में प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर सिविल सर्विस के सदस्यों की भर्ती होने लगी और

मनोनीत सदस्यों के जरिये से उचित साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की समुचित व्यवस्था की गयी।

(२) अधिक से अधिक पांच सदस्यों का एक पब्लिक सर्विस कमीशन नियुक्त हुआ और उसे नौकरियों के विषय में सकौंसिल भारतमंत्री द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार काम करने का अधिकार मिला।

(३) इंपीरियल सर्विसों के यूरोपियन सदस्यों की रक्षा की समुचित व्यवस्था की गयी। प्रांतीय मंत्री उन्हें बरखास्त न कर सकते थे। उनको पेंशन, वेतन, भत्ता आदि की समुचित रक्षा की गयी थी[१]। यदि इतने पर भी वे संतुष्ट न हों तो या तो उन्हें अन्य जगहों पर समान पद दिये जाने को थे या अनुपातीय पेंशनें लेकर वे अवकाश ग्रहण कर सकते थे।

ली कमीशन की सिफारिशें, सन् १९२३—इन महत्वपूर्ण अधिकारों को पाकर भी भारतीय सिविल सर्विस के यूरोपियन सदस्य संतुष्ट न थे। सुधारों के आरंभ होने के पश्चात् चार बरस में (सन् १९२४ तक) सिविल सर्विस के ३४५ सदस्यों ने अनुपातीय पेंशनें लेकर अपनी अपनी नौकरियां छोड़ दी थीं। वे सुधारों के मूल सिद्धांतों से असंतुष्ट थे। इंपीरियल सर्विसों के ऊंचे ऊंचे पदों पर भारतवासियों का नियुक्त किया जाना उन्हें नापसंद था। अतएव इंगलैंड के नवयुवक भारतीय नौकरियों से अलग रहने के लिए प्रोत्साहित किये गये और वेतन और भत्ता बढ़ाने का आग्रह किया गया। फल-स्वरूप जून, सन् १९२३ में भारतीय लोकमत के विरोध करने पर भी, इस प्रश्न की जांच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त हुआ। उसका नाम ली कमीशन था और उसका कार्यक्षेत्र निम्नलिखित था—

---

(१) मिस्टर मांटेगू के पार्लमेंट में दिये गये उत्तर के अनुसार भारतीय सिविल सर्विस का खर्च ३,३०,००० पौंड सालाना बढ़ा था, भारतीय पुलिस सर्विस का १,३०,००० पौंड सालाना और भारतीय एज्यूकेशनल सर्विस का १,००,००० पौंड सालाना। सन् १९२२ में लार्ड विंटरटन के उत्तर के अनुसार नौकरियों का वेतन लगभग ५० प्रतिशत् बढ़ गया था और छुट्टी और दौरे आदि के भत्ते के नियम अधिक उदार कर दिये गये थे। Indian Quarterly Register 1924 vol. I. p. 10.

(१) भारतवासियों के हौसले और खर्च की मितव्ययता की दृष्टि से इस बात की जांच करना कि सिविल सर्विस के उच्च पदों का भारतीयकरण कितनी शीघ्रता से किया जाय।

(२) भारतीय राजनीतिक विकास के संक्रमण काल में सिविल सर्विसों में युरोपियनों की पर्याप्त संख्या रहे, इस कथन की जांच करना।

(३) भारतवर्ष की परिवर्तित राजनीतिक परिस्थिति में सिविल सर्विसों में युरोपियनों को आकर्षित करने के लिए कार्य-काल, तरक्क़ी, नौकरी की शर्तों, वेतन, भत्ता, पेंशनों आदि के विषय में अधिक उदार होने की आवश्यकता की जांच करना।

(४) इस बात की जांच करना कि सिविल सर्विसें, विशेष रूप से हस्तांतरित विषयों के शासन में किस हद तक व्यवस्थापक सभाओं के निरीक्षण और नियंत्रण में की जायँ।

४ नवंबर सन् १९२३ को कमीशन ने अपना काम आरंभ किया। और २७ मार्च सन् १९२४ को समाप्त। वह छः शहरों में गया। लगभग १३०० मनुष्यों और संस्थाओं ने उसके समक्ष अपने लिखित बयान पेश किये। कमीशन ने ४११ मनुष्यों की गवाही ली. १५२ की प्रगट रूप से और २५९ की गुप्त रीति से[1]। २४ मई सन् १९२४ को कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसकी सिफ़ारिशों में से निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) नौकरियों का भारतीयकरण इस प्रकार किया जाय कि सन् १९३९ तक इंडियन सिविल सर्विस में और सन् १९४९ तक इंडियन पुलिस सर्विस में युरोपियनों और भारतवासियों की संख्या समान हो जाय[2]।

(२) सिविल सर्विसों में युरोपियनों का होना आवश्यक है। प्रधान मंत्री लॉइड जॉर्ज की "फौलादी ढांचे" वाली वक्तृता इस संबंध में विशेष महत्व की है।

---

(१) भारतीय लोकमत कमीशन की नियुक्ति के ही ख़िलाफ़ था। उसके काम करने के ढंग से असंतोष की मात्रा और भी बढ़ी। कमीशन की राय में उन लोगों के विचार एकतरफ़ा थे जिनकी गवाही प्रगट रूप से ली गयी थी।

(२) देखिये पृष्ठ ११० से ११३ तक पूर्व।

(३) नौकरियों में युरोपियनों को आकर्षित करने के लिए यह आवश्यक है कि उनका वेतन और भत्ता बढ़ाया जाय, उनका कार्यकाल अधिक सुरक्षित किया जाय और अपने कार्यकाल में उन्हें चार बार विलायत आने जाने का किराया दिया जाय। इसी उद्देश्य से कमीशन ने भारतीय शासन-सुधार-एक्ट सन् १९१९, की ९६ धारा के अनुसार पब्लिक सर्विस कमीशन की स्थापना पर ज़ोर दिया और नौकरियों को अधिक सुरक्षित बनाने की दृष्टि से सिविल सर्विस के सदस्यों और सरकार में इक़रारनामों के होने की सिफ़ारिश की।

(४) अखिल भारतीय नौकरियों में कमीशन ने भारत-मंत्री का नियंत्रण और निरीक्षण आवश्यक बतलाया। किंतु हस्तांतरित विषयों के शासन की कठिनाइयों के कारण उसने यह सिफ़ारिश की कि इन विषयों से संबंध रखने वाले पदाधिकारी प्रांतीय आधार पर भर्ती किये जाँय।

भारतीय लोकमत ने कमीशन की सिफ़ारिशों का उतना ही विरोध किया जितना स्वयं कमीशन का। असेंबली ने कमीशन संबंधी सरकारी प्रस्ताव को गिरा कर पं० मोतीलाल जी नेहरू के संशोधन को ४६ के खिलाफ़ ६८ मतों से स्वीकार किया। अन्य सार्वजनिक संस्थाओं ने भी कमीशन की सिफ़ारिशों को प्रतिक्रियावादी बतलाया। फिर भी कमीशन की सारी सिफ़ारिशें क्रमशः कार्य रूप में परिणत कर दी गयीं। अनुमान किया जाता है कि कमीशन की आर्थिक सिफ़ारिशों के कारण भारतवर्ष को नौकरियों के संबंध में लगभग २ करोड़ रुपया सालाना अधिक ख़र्च करना पड़ता है[1]।

साइमन कमीशन—साइमन कमीशन की शासन-सुधार संबंधी सिफ़ारिशों का विवरण हम छठे परिच्छेद में दे चुके हैं। कमीशन ने भारतीय नौकरियों के संबंध में भी कुछ सिफ़ारिशें कीं। नौकरियों की भूतकालीन योग्यता की सराहना करते हुए कमीशन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि प्रस्तावित शासन-सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए उतनी ही योग्यता का होना आवश्यक था जितनी मौजूदा नौकरों में थी। अतएव ली कमीशन की सिफ़ारिशों को स्वीकार करते हुए कमीशन ने निम्नलिखित बातों पर ज़ोर दिया—

---

(1) Indian Quarterly Register 1924 vol. I, p. 526.

(१) भारतीय सिविल सर्विस और भारतीय पुलिस सर्विस की भर्ती अखिल भारतीय आधार पर भारत-मंत्री द्वारा होती रहे। भारत-मंत्री द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार इन नौकरियों के निर्धारित सदस्यों को प्रांतीय सरकारें नियुक्त करें। किसी प्रांत में इन नौकरियों के कितने सदस्य नियुक्त किये जायँ, इसे भारत-मंत्री प्रांतीय सरकारों के परामर्श से निश्चित करेंगे। किंतु कमीशन की राय में, कुछ काल के लिए, इस संबंध के मौजूदा अनुपात में परिवर्तन करना आवश्यक न था।

(२) नौकरियों के भारतीयकरण के संबंध में कमीशन की वे ही सिफ़ारिशें थीं जो ली कमीशन की थीं।

(३) कमीशन ने नौकरियों के अधिकारों का सुरक्षित रखना आवश्यक बतलाया और यह स्पष्ट किया कि इन अधिकारों की देखभाल करने का अधिकार किसी ऐसी संस्था को होना चाहिये जिस पर नौकरियों का विश्वास हो।

(४) कमीशन ने प्रांतीय पब्लिक सर्विस कमीशनों के स्थापित करने की सिफ़ारिश की।

(५) एंग्लो-इंडियंस का केंद्रीय नौकरियों से पुराना संबंध रहा है। इस लिए कमीशन ने सिफ़ारिश की कि भविष्य में भी इन नौकरियों के संबंध में उनका ख्याल रखा जाय।

नया शासन-विधान और सैनिक नौकरियां—सरकारी नौकरियों के उपर्युक्त ऐतिहासिक सिंहावलोकन के पश्चात् हमें अब यह जान लेना चाहिये कि सन् १९३५ के शासन संबंधी एक्ट के अनुसार सरकारी नौकरियों की स्थिति किस प्रकार की है। नये शासन-विधान की २३२ से २३९ धाराओं तक में सैनिक नौकरियों की व्यवस्था की गयी है। देश-रक्षा एक संरक्षित विषय है। अतएव सैनिक नौकरियों की नियुक्ति आदि के विषय में सम्राट के महत्वपूर्ण अधिकार हैं। स-कौंसिल सम्राट प्रधान सेनापति (Commander-in-chief) के वेतन और भत्ते आदि को निश्चित करते हैं और यह आदेश जारी करते हैं कि अमुक सैनिक अफ़सरों को या तो वे स्वयं नियुक्त करेंगे या उनकी नियुक्ति उनके आदेशानुकूल की जायगी। संरक्षित विषय होने के कारण,

देश-रक्षा की देखभाल गवर्नर-जनरल अपने विवेक के अनुसार करते हैं परंतु आदेशपत्र की धाराओं के अनुसार उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि भारतवर्ष की रक्षा करना अधिकाधिक भारतवासियों का ही काम है और इस लिए वे जब कभी सेना में भारतीय अफ़सरों के नियुक्त करने की नीति पर या भारतीय सेना से देश के बाहर काम लेने पर विचार करें तो अपने मंत्रियों का भी परामर्श ले लें। सेना में काम करने वाले लोगों की नौकरी की शर्तों आदि के नियमों के विषय में भारत-मंत्री अपने परामर्शदाताओं की अनुमति से यह निश्चित करेंगे कि कौन कौन से नियम उनकी पूर्व अनुमति के बिना न बनाये जायँ। नये शासन-विधान में, सम्राट की भारतीय सेना के सदस्यों का भारत-मंत्री से अपील करने का मौजूदा अधिकार क़ायम रखा गया है। संघ-राज्य के स्थापित होने पर फौजी अधिकारियों की पेंशनों का ख़र्च संघीय आमदनी से दिया जायगा परंतु आजकल भारतीय आमदनी से दिया जाता है।

नया शासन-विधान और सिविल सर्विसें—हम ऊपर बतला चुके हैं कि भारतवर्ष को उत्तरदायी शासन की ओर ले जाने वाले वैधानिक परिवर्तनों से भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य असंतुष्ट थे। उन्हें इस बात की आशंका थी कि उत्तरदायी भारतीय सरकार उनके मौजूदा हितों की रक्षा न करेगी और उनका भविष्यत् भी संदिग्धमय हो जायगा। अतएव वे चाहते थे कि नये शासन-विधान में उनके हितों की रक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी जाय। ब्रिटिश पार्लमेंट ने भी उनकी इस मांग को उचित समझा। फल-स्वरूप सन् १९३५ के शासन-विधान के दसवें भाग में, सिविल सर्विसों के उचित हितों के रक्षा की समुचित और आवश्यक व्यवस्था कर दी गयी है। इन धाराओं के कारण, वैधानिक परिवर्तनों की वजह से सिविल सर्विस के सदस्यों को आवश्यकता से अधिक हानि न सहनी पड़ेगी; भर्ती करने की मौजूदा शर्तें कमोवेश भविष्यत् में क़ायम रहेंगी; उनके मौजूदा अधिकार भविष्यत् में बने रहेंगे और मौजूदा अधिकारों को छोड़ने के बदले उन्हें उचित हरजाना मिलेगा। नये शासन-विधान के अनुसार सार्वजनिक नौकरियों के अधिकारों और उनके उचित हितों की रक्षा

करना गवर्नर-जनरल और गवर्नरों का विशेष उत्तरदायित्व निर्धारित किया गया है।

सिविल सर्विसों का वर्गीकरण—नये शासन-विधान के आधार पर हम भारतवर्ष की मौजूदा सिविल सर्विसों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) अखिल भारतीय नौकरियां (All India Services)—इनमें इंडियन सिविल सर्विस, इंडियन पुलिस सर्विस, इंडियन मेडीकल सर्विस, इंडियन सर्विस ऑफ़ इंजीनियर्स, इंडियन एज्यूकेशनल सर्विस आदि शामिल हैं। इन नौकरियों के पदाधिकारी संघीय और प्रांतीय दोनों प्रकार की सरकारों के अधीन काम करते हैं।

(२) संघीय नौकरियां (Federal Services)—इनमें रेलवे सर्विस, इंडियन पोस्ट एंड टेलीग्राफ सर्विस, इंपीरियल कस्टम्स सर्विस, संघीय कार्यालय के कर्मचारी आदि शामिल हैं। ये पूर्णतया संघ-सरकार के अधीन हैं।

(३) प्रांतीय नौकरियां—इन नौकरियों का संबंध प्रांतीय शासन से है। ये सर्वथा प्रांतीय सरकारों के अधीन हैं। इन नौकरियों के कुछ सदस्य बढ़ते बढ़ते उन स्थानों पर भी नियुक्त किये जाते हैं, जिन पर साधारणतया भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य नियुक्त किये जाते हैं।

सिविल सर्विसों का कार्य-काल—सम्राट की भारतीय सिविल सर्विसों के सदस्य उसी समय तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक सम्राट चाहें। उन्हें वही अधिकारी निकाल सकता है जिसने नियुक्त किया हो, उससे नीचा अधिकारी नहीं। यदि गवर्नर-जनरल या गवर्नर किसी विशेषज्ञ को निर्धारित काल के लिए नियुक्त करना चाहें तो नये शासन विधान की २४० वीं धारा के अनुसार, उसे अपने इक़रारनामे में इस प्रकार की शर्त करने का अधिकार होगा कि यदि निर्धारित काल के पूर्व वह पद तोड़ा जायगा, या दुराचरण के अतिरिक्त किसी अन्य कारण से वह निर्धारित समय के पूर्व निकाला जायगा, तो वह हरजाने का हक़दार होगा। सिविल सर्विस के सदस्यों को निकालने या दर्जा गिराने के पूर्व साधारणतया यह अवसर दिया जाता है कि वे अपनी स्थिति को

स्पष्ट कर सकें, सिवाय उन हालतों के जब कि उनके निकालने या दर्जा गिराने का कारण फौजदारी अपराध हो या इस प्रकार अवसर देना कारणवश संभव न हो।

सिविल सर्विसों की नियुक्ति—अखिल भारतीय नौकरियों में से इंडियन सिविल सर्विस, इंडियन मेडीकल सर्विस (सिविल) और इंडियन पुलिस सर्विस के सदस्यों को, जब तक पार्लमेंट दूसरी व्यवस्था न करे, भारत-मंत्री नियुक्त करते हैं। शेष अखिल भारतीय सर्विसों में से कुछ के सदस्यों को भारत-सरकार नियुक्त करती है और कुछ प्रांतीय विषयों से संबंधित होने के कारण एक प्रकार से समाप्त सी हो गयी हैं। गवर्नर-जनरल के विवेक के कामों को संतोषपूर्वक करने के लिए भारत-मंत्री को नयी सिविल सर्विसें स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार के अधिकारियों को भी भारत-मंत्री नियुक्त करेंगे, और उनका विस्तारपूर्वक ब्योरा प्रतिवर्ष पार्लमेंट में पेश किया जायगा। निर्धारित काल के पश्चात् गवर्नर-जनरल अपने विवेक के अनुसार उपर्युक्त व्यवस्था के कार्यान्वित रूप पर अपनी रिपोर्ट पेश करेंगे और आवश्यक परिवर्तनों की सिफ़ारिशें कर सकेंगे। शासन-विधान की २४५ वीं धारा के अनुसार, भारत-मंत्री आवपाशी विभाग के योग्यतापूर्वक कार्य-संपादन के लिए, इस विभाग के भी कुछ अधिकारियों को नियुक्त कर सकेंगे। अखिल भारतीय नौकरियों की नियुक्ति के उपर्युक्त ढंग को पार्लमेंट बदल सकती है, किंतु १ अप्रैल सन् १९४२ के पूर्व संभवतः इस विषय की कोई कार्रवाई न की जायगी। इसके पश्चात् इन नौकरियों की संपूर्ण व्यवस्था की जांच की जायगी और तब पार्लमेंट उनकी नियुक्ति का अधिकार संघीय अथवा प्रांतीय सरकारों को दे सकेगी।

संघीय नौकरियों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर-जनरल या उनके द्वारा निर्धारित किसी व्यक्ति को दिया गया है। इन नौकरियों के कर्मचारियों और अधिकारियों को गवर्नर-जनरल निकाल सकते हैं। उनकी आज्ञा आख़िरी आज्ञा होती है। इन नौकरियों की नौकरी की शर्तें, गवर्नर-जनरल या उनके द्वारा निर्धारित व्यक्ति या व्यक्तियों के बनाये हुए नियमों के अनुसार निर्धारित की जाती हैं। सम्राट के उन सिविल

नौकरों के विषय में, जो प्रांतीय स्वराज्य स्थापित होने के पूर्व से काम करते आये हैं, उपर्युक्त नियमों में इस बात का ध्यान रखा जायगा, कि उनकी नौकरी की शर्तों पर कुछ कुप्रभाव न पड़ता हो। संघीय सिविल सर्विस के इन सदस्यों के विषय में वही पदाधिकारी आॅर्डर जारी कर सकेगा जो ८ मार्च सन् १९३६ को जारी कर सकता था या वह जिसे भारत-मंत्री ऐसा अधिकार दें। गवर्नर-जनरल की आज्ञा को छोड़ कर, सिविल सर्विस के प्रत्येक सदस्य को, दिये गये दंड, या बरखास्तगी या नौकरी की शर्तों में परिवर्तन के प्रतिकूल कम से कम एक अपील करने का अधिकार दिया गया है। संघीय व्यवस्थापक मंडल भी इन नौकरियों की नौकरी की शर्तों आदि के विषय में नियम बना सकेगा, परंतु इन नियमों के कारण, गवर्नर-जनरल के उस अधिकार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता, जिसकी वजह से वह सम्राट की सिविल सर्विसों के साथ जैसा ठीक और न्यायपूर्वक समझें, व्यवहार कर सकते हैं। रेलवे की नौकरियों के विषय में संघीय रेलवे अथॉरिटी को गवर्नर-जनरल के अधिकार दिये गये हैं। यह संस्था रेलवे के उच्च पदाधिकारियों को पब्लिक सर्विस कमीशन के परामर्श से नियुक्त करती है। एंग्लो इंडियंस के विशेष अधिकारों, और विभिन्न संप्रदायों के गवर्नर जनरल द्वारा निर्धारित अनुपात के अतिरिक्त, संघीय रेलवे अथॉरिटी अपने कर्मचारियों को अपने इच्छानुकूल नियुक्त करती है।

प्रांतीय नौकरियों की नियुक्ति का अधिकार प्रांतीय गवर्नर या उनके द्वारा निर्धारित किसी व्यक्ति को दिया गया है। इन नौकरियों के सदस्यों को प्रांतीय गवर्नर निकाल सकते हैं। उनकी आज्ञा आखिरी आज्ञा होती है। पर अन्य अधिकारियों द्वारा दिये गये दंड या बरखास्तगी या नौकरी की शर्तों की तबदीली के प्रतिकूल इन कर्मचारियों को कम से कम एक अपील करने का अधिकार दिया गया है। इनकी नौकरी की शर्तें गवर्नर या उनके द्वारा निर्धारित व्यक्ति या व्यक्तियों के बनाये हुए नियमों के अनुसार निर्धारित की जाती हैं। प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल भी नौकरी की शर्तों आदि के नियम बना सकता है, परंतु इन नियमों के कारण गवर्नर के उस अधिकार में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता, जिसकी वजह से वह सम्राट की सिविल सर्विसों के साथ जैसा ठीक और न्यायपूर्वक समझें, व्यवहार कर सकते हैं।

सिविल सर्विसों का वेतन, हरजाना आदि— भारत-मंत्री द्वारा नियुक्त सिविल सर्विसों के वेतन, छुट्टी, पेंशनों आदि को भारत-मंत्री स्वयं निर्धारित करते हैं। यदि उक्त प्रकार की सिविल सर्विसों के सदस्य मुल्तवी किये जाते हैं, तो मुल्तवी किये गये काल में उनके वेतन में किसी प्रकार की कमी नहीं होती, जब तक गवर्नर जनरल या गवर्नर अपने व्यक्तिगत् निर्णय के अनुसार इस प्रकार की कमी न करें। संघ-सरकार के अधीन काम करने वाली सिविल सर्विसों का वेतन और भत्ता संघीय आमदनी से दिया जायगा और प्रांतीय सरकार के अधीन काम करने वाली का वेतन व भत्ता प्रांतीय आमदनी से दिया जाता है। भारत-मंत्री की अनुमति के बिना इन नौकरियों के सदस्यों को निर्धारित पेंशनों से कम पेंशनें नहीं मिल सकतीं और वे संघीय कोष से दी जाती हैं। शासन-विधानांतर्गत् बनाये गये किसी नियम के कारण भारत-मंत्री के उस अधिकार में किसी प्रकार की कमी नहीं हो सकती जिसके कारण, सम्राट की सिविल सर्विसों के साथ, वे जैसा ठीक और न्यायपूर्ण समझें, व्यवहार कर सकते हैं। भारत-मंत्री के द्वारा बनाये गये नियमों के अतिरिक्त, गर्वनर जनरल और गवर्नरों के उक्त प्रकार के अधिकारों में किसी नियम द्वारा किसी प्रकार की कमी नहीं हो सकती।

भारत-मंत्री द्वारा नियुक्त सिविल सर्विसों के सदस्यों को, यदि वे किसी सरकारी आज्ञा से असंतुष्ट हों या किसी सरकारी आज्ञा का उनकी नौकरी की शर्तों पर कुप्रभाव पड़ता हो, गवर्नर जनरल या गवर्नर से (जिस किसी के अधीन वे काम करते हों) इस प्रकार की शिकायत करने का अधिकार दिया गया है, और उनको, शिकायत की जांच करके, अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार ठीक और न्यायपूर्वक कार्रवाई करने का अधिकार। गवर्नर जनरल और गवर्नर के व्यक्तिगत् निर्णय के अतिरिक्त, इस प्रकार के नौकरों को न तो किसी प्रकार का दंड ही दिया जा सकता है और न उनके, भत्ते और पेंशनों में किसी प्रकार की कमी की जा सकती है। दिये गये दंड के प्रतिकूल वे भारत-मंत्री से अपील कर सकते हैं और भारत-मंत्री का निर्णय अंतिम निर्णय होता है।

यदि भारत-मंत्री द्वारा नियुक्त किये गये सिविल सर्विसों के सदस्यों के हितों पर नये विधानांतर्गत् की गयी किसी कार्रवाई का कुप्रभाव पड़ता हो, या किसी अन्य कारण से, भारत-मंत्री के विचार में उसे हरजाना देना आवश्यक प्रतीत होता हो, तो वे या उसके हक़दार संघीय आमदनी या प्रांतीय आमदनी (यदि भारत-मंत्री इस तरह की आज्ञा दें) से उस हरजाने के अधिकारी होते हैं जो भारत-मंत्री के विचार में ठीक और न्यायपूर्ण हो। गवर्नर-जनरल और गवर्नरों को भी क्रमशः संघीय और प्रांतीय आमदनी से हरजाना देने का अधिकार दिया गया है।

भारत-मंत्री द्वारा नियुक्त सिविल सर्विसों के सदस्यों का वेतन संघीय और प्रांतीय व्यवस्थापक मंडलों के वोट पर निर्भर नहीं होता। यदि वे भारतवर्ष के बाहर रहें, तो उनकी पेंशनें भारतीय करों से मुक्त हो जाती हैं।

सिविल सर्विसों का बचाव—नये शासन-विधान की २७० और २७१ धाराओं में सिविल सर्विसों के सदस्यों के बचाव की समुचित व्यवस्था कर दी गयी है। कर्तव्य-पालन अथवा सरकारी हैसियत में नेकनीयती से किये गये कामों के विषय में उनके खिलाफ़ न तो कोई फ़ौजदारी कार्रवाई की जा सकती है और न दीवानी। गवर्नर-जनरल या गवर्नरों की पूर्व अनुमति के बिना सिविल सर्विसों के सदस्यों के प्रतिकूल, उन कामों के विषय में फ़ौजदारी अथवा दीवानी मुक़दमें नहीं चलाये जा सकते, जो उन्होंने संघ-राज्य या प्रांतीय स्वराज्य स्थापित होने के पूर्व किये हों। जब तक न्यायालयों को सिविल सर्विस के सदस्यों की नेकनीयती पर संदेह न हो, इस प्रकार के मुक़दमें तुरंत ही बरखास्त कर दिये जायँगे, और मुक़दमे का खर्च—यदि वादी न दे सके, तो संघीय अथवा प्रांतीय आमदनी से दिया जायगा। सिविल सर्विस के सदस्यों के उपर्युक्त बचाव पर कुप्रभाव डालने वाले प्रस्ताव संघीय अथवा प्रांतीय व्यवस्थापक मंडलों में, क्रमशः गवर्नर-जनरल और गवर्नर की पूर्व अनुमति के बिना नहीं पेश किये जा सकते। अनुमति देने या न देने का अधिकार गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नर के विवेक पर छोड़ दिया है।

पब्लिक सर्विस कमीशन—नये शासन-विधान की २६४ से

लेकर २६८ धाराओं तक का संबंध पब्लिक सर्विस कमीशनों से है। भारतीय संघ-राज्य का एक संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन होगा और प्रांतों के भी अलग अलग पब्लिक सर्विस कमीशन होंगे। दो या अधिक प्रांतों को मिल कर एक ही कमीशन से काम लेने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार के कमीशन अब तक स्थापित हो चुके हैं। गवर्नर-जनरल की अनुमति से संघीय कमीशन किसी प्रांतीय गवर्नर की प्रार्थना पर उस प्रांत का भी काम कर सकता है। संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्यों की संख्या और नौकरी की शर्तों एवं कार्यकाल को गवर्नर-जनरल अपने विवेक के अनुसार निर्धारित करते हैं और प्रांतीय पब्लिक सर्विस कमीशनों के सदस्यों की संख्या, उनकी नौकरी की शर्तों और कार्यकाल को, प्रांतीय गवर्नर अपने विवेक के अनुसार। संघीय कमीशन के सभापति और सदस्यों को गवर्नर-जनरल अपने विवेक के अनुसार नियुक्त करते हैं, और प्रांतीय कमीशन के सभापति और सदस्यों को प्रांतीय गवर्नर अपने विवेक के अनुसार। प्रत्येक कमीशन के कम से कम आधे सदस्य ऐसे होते हैं जो अपनी नियुक्ति के पूर्व कम से कम दस बरस तक सरकारी नौकरी कर चुके हों। निष्पक्ष रखने की दृष्टि से, पब्लिक सर्विस कमीशनों के सभापति, सम्राट के अधीन अन्य सरकारी नौकरियों से वंचित कर दिये गये हैं और उनके सदस्य गवर्नर-जनरल अथवा गवर्नर की पूर्व अनुमति के बिना किसी अन्य नौकरी की उम्मेदवारी से। प्रांतीय पब्लिक सर्विस कमीशनों के सभापति संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन के सभापति या सदस्यों के पद के लिए उम्मेदवार हो सकते हैं, और दूसरे प्रांतों के पब्लिक सर्विस कमीशनों के सभापति के स्थान के लिए भी।

पब्लिक सर्विस कमीशनों का काम है उन परीक्षाओं का संचालन करना जिनके नतीजों के आधार पर संघीय अथवा प्रांतीय सरकारी कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं। हम ऊपर बतला चुके हैं कि सिविल सर्विस के कुछ सदस्यों को भारत-मंत्री नियुक्त करते हैं, और कुछ को गवर्नर-जनरल और गवर्नर अपने विवेक के अनुसार। इन कर्मचारियों को छोड़ कर, प्रत्येक अन्य सिविल सर्विस की नियुक्ति, तरक्क़ी और बदली के नियमों, अनुशासन संबंधी बातों, कर्तव्य-पालन में चलाये गये मुक़दमों के व्यय आदि के विषय में इन कमीशनों का परामर्श लेना

आवश्यक होता है। सिविल सर्विसों के सांप्रदायिक अनुपात के विषय में, इन कमीशनों का परामर्श नहीं लिया जाता। गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर की पूर्व अनुमति से, संघीय अथवा प्रांतीय एक्टों द्वारा, संघीय अथवा प्रांतीय कमीशनों से अतिरिक्त काम लिया जा सकता है। संघीय कमीशन का ख़र्च संघीय आमदनी से दिया जाता है और प्रांतीय कमीशनों का ख़र्च प्रांतीय आमदनी से।

सिविल सर्विस संबंधी समस्याएँ—इस परिच्छेद के समाप्त करने के पूर्व सिविल सर्विस संबंधी निम्नलिखित समस्याओं पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) उत्तरदायी शासन और सिविल सर्विसों के अधिकार—सिविल सर्विसों की प्रथम समस्या है उत्तरदायी शासन और सिविल सर्विसों के अधिकारों का संबंध। सन् १९१७ की घोषणा के अनुसार भारतवर्ष में क्रमशः उत्तरदायी शासन स्थापित होता जाता है और नये शासन-विधान में सिविल सर्विस के अधिकारों की व्यवस्था की गयी है। इंडियन सिविल सर्विस, इंडियन पुलिस सर्विस और इंडियन मेडिकल सर्विस (सिविल) के सदस्यों को भारत-मंत्री नियुक्त करते हैं और इनके विषय में अंतिम फैसला भी उन्हीं का होता है। इन नौकरियों की उपर्युक्त संरक्षित स्थिति के कारण, इस बात की आशंका है कि शायद वे उत्तरदायी मंत्रियों से उतना सहयोग न करें, जितना उस अवस्था में हो सकता है जब वे पूर्णतया उत्तरदायी मंत्रियों के अधीन हों। सिविल सर्विसों के ऐतिहासिक स्थान, और उनके उत्तरदायी शासन संबंधी वैधानिक परिवर्तनों के विरोध को देखते हुए यह आशंका बिल्कुल निर्मूल नहीं प्रतीत होती। अतएव सिविल सर्विस संबंधी प्रथम समस्या यह है कि अनेक अधिकारों से सुसज्जित सिविल सर्विसों के सदस्य किस प्रकार उत्तरदायी शासन के उपयुक्त बनाये जायँ। इसके दो तरीक़े हो सकते हैं :—

(१) सिविल सर्विस के सदस्यों की मनोवृत्ति में वांछित परिवर्तन हो जाय और

(२) सिविल सर्विसें उत्तरदायी मंत्रियों के अधीन कर दी जायँ।

सौभाग्य से नये शासन-विधान में की गयी सिविल सर्विसों की व्यवस्था चिरकालीन नहीं बनायी गयी है। १ अप्रेल सन् १९४२ के

पश्चात् सिविल सर्विसों की जाँच की जायगी, और उस जांच की रिपोर्ट के आधार पर पार्लमेंट शासन-विधान में, इस विषय के आवश्यक परिवर्तन एवं संशोधन करेगी।

(२) मंत्रियों और सिविल सर्विसों का सहयोग—सिविल सर्विस की दूसरी समस्या है मंत्रियों और सिविल सर्विसों का सहयोग। इस विषय में इंगलैंड का आदर्श अनुकरणीय है। वहाँ के मंत्रिमंडल बदलते रहते हैं। विभिन्न राजनीतिक दलों के मंत्रिमंडलों की नीति भी अलग अलग होती है, फिर भी वहाँ की सिविल सर्विस के सदस्य प्रत्येक मंत्रिमंडल के साथ सहयोग से काम करते हैं और शीघ्र ही अपने को बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल बना लेते हैं। भारतवर्ष की सिविल सर्विसों में इसी गुण का होना आवश्यक है। यह बात जरूर है कि भारतीय मंत्रियों का सिविल सर्विसों के वेतन आदि पर उतना अधिकार नहीं है जितना इंगलैंड के मंत्रियों का वहाँ की सिविल सर्विस पर है। फिर भी उत्तरदायी शासन के ध्येय को देखते हुए यह आवश्यक है कि सिविल सर्विस के सदस्यों में बदलते हुए मंत्रिमंडलों के उपयुक्त बनने की क्षमता हो। ऐसा होना आसानी से संभव नहीं। सिविल सर्विसों के सदस्य सन् १९२० तक केवल शासन ही नहीं करते थे, बल्कि शासन की नीति भी निर्धारित करते थे। इस प्रकार के कर्मचारियों के लिए यह एक कठिन बात है कि वे अपने व्यक्तित्व और व्यक्तिगत् विचारों को शीघ्र ही छोड़ सकें। यही कारण है कि मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के कार्यान्वित रूप में कभी कभी सिविल सर्विस के सदस्यों और उत्तरदायी मंत्रियों में सहयोग के अभाव की शिकायतें सुन पड़ी थीं। नये शासन-विधान के कार्यान्वित रूप में भी यह संभव है कि ऐसी शिकायतें सुन पड़ें। अतएव सिविल सर्विसों की दूसरी समस्या है मंत्रियों और सिविल सर्विसों का सहयोग, जिसके लिए दोनों को प्रयत्नशील होना चाहिये।

(३) सिविल सर्विसों का भारतीयकरण—सिविल सर्विसों की तीसरी समस्या है, उनका भारतीयकरण। इसकी माँग बहुत पुरानी है और समय समय पर ब्रिटिश सरकार ऐसा करने का वचन भी देती आयी है। सन् १९१७ की घोषणा के अनुसार ब्रिटिश सरकार की भारतीय नीति का ध्येय है, भारतीयों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त

करके भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन का स्थापित करना। किंतु भारतीयों के अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने की गति बड़ी मंद है। ली कमीशन की सिफ़ारिशों के अनुसार नौकरियों का भारतीयकरण इस प्रकार से किया जाने को था कि सन् १९३९ तक इंडियन सिविल सर्विस और सन् १९४९ तक इंडियन पुलिस सर्विस में युरोपियनों और भारतवासियों की संख्या समान हो जाय। भारतीय लोकमत के अनुसार कमीशन की सिफ़ारिशें प्रतिक्रियात्मक और निराशाजनक थीं। पर भारत-सरकार ने उन्हें स्वीकार कर लिया था। कार्यरूप में सिविल सर्विसों का भारतीयकरण उस मंद गति से भी नहीं किया गया है जिसकी ली कमीशन ने सिफ़ारिश की थी। भारतवासी अपने को प्रत्येक काम के योग्य समझते हैं, यहाँ तक कि देश की रक्षा का भी संपूर्ण भार अपने ऊपर लेने को तैयार हैं। परंतु ब्रिटिश सरकार अब भी "फ़ौलादी ढांचे" में विश्वास करती है और सिविल और सैनिक दोनों प्रकार की नौकरियों में युरोपियनों का महत्वपूर्ण अंश बनाये रखने के पक्ष में है।

(४) आर्थिक अधिकार—सिविल सर्विसों की चौथी समस्या का संबंध उनके आर्थिक अधिकारों से है। भारतवर्ष की सिविल सर्विसों का वेतन, भत्ता, पेंशनें आदि अन्य देशों की सिविल सर्विसों की अपेक्षा कहीं ज्यादा हैं। तिस पर भारतवर्ष एक ग़रीब देश है। यहाँ की औसत आमदनी दो तीन आने प्रति दिन से अधिक नहीं। ऐसे ग़रीब देश के लिए ऊंचे वेतन वाली सिविल सर्विसों का क़ायम रखना विवेकयुक्त नहीं प्रतीत होता। सिविल सर्विसों के ऊंचे वेतन राष्ट्र-निर्माण के विभागों का बलिदान करके ही दिये जा सकते हैं, और अब तक इसी प्रकार दिये जाते रहे हैं। संसार की वर्तमान परिस्थिति के कारण, भारतवर्ष अब राष्ट्र-निर्माण विभागों का बलिदान नहीं कर सकता। अतएव सिविल सर्विसों का वेतन घटाना बहुत जरूरी है। प्रांतों के कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने मंत्रियों का वेतन घटाकर ५०० रुपये मासिक कर दिया है। वे प्रांतीय नौकरियों के भी वेतन घटाने में लगे हैं। उनकी इस नीति का प्रभाव परोक्ष रीति से अखिल भारतीय नौकरियों पर अवश्य पड़ेगा और या तो वे स्वयं अपने वेतन को घटावेंगी, या भारत-मंत्री इस विषय की कोई व्यवस्था करेंगे। नौकरियों के भारतीयकरण से यह समस्या कुछ अंश में स्वयं हल हो जायगी।

(५) जनता के साथ सहानुभूति का वर्ताव—सिविल सर्विसों की पांचवीं समस्या है जनता के साथ सहानुभूति का वर्ताव। सिविल सर्विसों के सदस्य देश पर शासन अवश्य करते हैं, पर वे प्रधानतया जनता के सेवक हैं और जनता की अधिक से अधिक सेवा करने में उनका गौरव है। भारतवर्ष ऐसे देश में सिविल सर्विसों के सदस्यों के लिए एक विस्तृत कार्यक्षेत्र है। वे गिरे हुए लोगों को ऊपर उठा सकते हैं और अंधकार में विलीन जनता को प्रकाश की ओर ले जा सकते हैं। उनकी सहानुभूति से प्रोत्साहित होकर जनता कठिन से कठिन काम करने का साहस कर सकती है। भारतवर्ष की सिविल सर्विसें अब तक अपनी निष्पक्षता और योग्यता के लिए प्रसिद्ध रही हैं। इन गुणों के साथ साथ अब उनमें मितव्ययता और राष्ट्रीयता के गुणों का भी होना आवश्यक है।
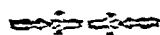
चौदहवाँ परिच्छेद

होम गवर्मेंट

होम गवर्मेंट—नये शासन-विधान के पूर्व होम गवर्मेंट—होम गवर्मेंट और भारतीय लोकमत—नया शासन-विधान और होम गवर्मेंट—सम्राट का स्थान; पार्लमेंट का स्थान; भारत-मंत्री और उनके परामर्शदाता; भारतीय हाई कमिश्नर—होम गवर्मेंट और डोमीनियन स्टेटस।

होम गवर्मेंट—होम गवर्मेंट भारतीय शासन संबंधी उन अधिकारियों और संस्थाओं का सामूहिक नाम है जो इंगलैंड में स्थित है और वहां से भारतीय शासन की देखरेख किया करती है। इन पदाधिकारियों और संस्थाओं में से सम्राट, पार्लमेंट, भारत-मंत्री और उनकी कौंसिल और भारतीय हाई कमिश्नर विशेषतया उल्लेखनीय हैं। भारतवासियों के दृष्टि कोण से इन संस्थाओं और अधिकारियों को सामूहिक रूप में होम गवर्मेंट कहना ठीक नहीं, किंतु भारतवर्ष के अंगरेज़ शासक, अपने देश के ख्याल से, उनको होम गवर्मेंट कहते आये हैं, और इस कारण 'होम गवर्मेंट' इस वाक्य का प्रयोग इस अर्थ में होने लगा है। प्रचलित होने के कारण हम भी इस वाक्य का प्रयोग प्रचलित अर्थ में करेंगे।

नये शासन-विधान के पूर्व होम गवर्मेंट—नये शासन-विधान के पूर्व, भारतीय शासन में, होम गवर्मेंट की संस्थाओं और अधिकारियों का स्थान, सन् १९१९ के भारतीय शासन संबंधी एक्ट के अनुसार था। इंगलैंड के राजा ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अन्य राष्ट्रों के केवल राजा ही थे किंतु वे भारतवर्ष के सम्राट थे। वे गवर्नर-जनरल प्रांतीय गवर्नरों, प्रधान सेनापति आदि उच्च पदाधिकारियों में से कुछ को प्रधान-मंत्री की सिफ़ारिश पर नियुक्त करते थे और कुछ को भारत-मंत्री की सिफ़ारिश पर। कुछ नियुक्तियों के विषय में गवर्नर-जनरल का भी परामर्श ले लिया जाता था। पार्लमेंट ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अन्य सदस्यों के साथ साथ भारतवर्ष के लिए भी नियम बना सकती थी, और भारत-मंत्री भारतवर्ष की शांति और सुव्यवस्था लिए उसके प्रति

उत्तरदायी थे। भारतीय शासन-विधान में संशोधन और परिवर्तन करना उसके हाथ में था और भारतीय कोष पर उसका निरीक्षणाधिकार था। सन् १९१९ के सुधारों के अनुसार, सैद्धांतिक रूप में पार्लमेंट के आधिपत्य और निरीक्षण के शिथिल करने का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया था, पर कार्यरूप में इस सिद्धांत पर विशेष अमल न हुआ था। भारतीय मामलों के लिए, भारत-मंत्री ब्रिटिश सरकार के वैधानिक परामर्शदाता थे। क़ानूनी दृष्टि से भारतीय सुशासन की पूर्ण ज़िम्मेदारी उनके ऊपर थी, और भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल के लिए उनके आदेशानुकूल चलना अनिवार्य था। प्रांतीय शासन में द्वैध शासन-प्रणाली के कारण, प्रथाओं द्वारा उनके निरीक्षण के शिथिल किये जाने की व्यवस्था की गयी थी, पर कार्य रूप में इन प्रथाओं की सुदृढ़ नींव न पड़ सकी थी, और इस लिए भारत-मंत्री के निरीक्षण में भी विशेष कमी न हुई थी। भारतीय मामलों में भारत-मंत्री को परामर्श देने के लिए एक कौंसिल सन् १८५८ से चली आती थी। इसका नाम इंडिया कौंसिल था। नये शासन-विधान के पूर्व इसके कम से कम आठ और अधिक से अधिक १२ सदस्य हो सकते थे और उनका कार्यकाल पांच वरस था। सिविल सर्विस और भारतीय कोष संबंधी कुछ बातों को छोड़ कर, यह कौंसिल केवल परामर्श ही देने वाली संस्था थी और भारत-मंत्री को अधिकार था कि वे उसका परामर्श लें अथवा न लें या उसके परामर्श के अनुसार काम करें अथवा न करें। सन् १९१९ के शासन-विधान के अनुसार भारतीय हाई कमिश्नर, भारत-सरकार के एजेंट की हैसियत से इंगलैंड में भारत-सरकार का काम किया करते थे। भारत-सरकार, भारत-मंत्री की अनुमति से, उन्हें पांच वरस के लिए नियुक्त करती थी। उनको ३००० पौंड सालाना वेतन मिलता था और वे स-कौंसिल गवर्नर-जनरल के अधीन थे। भारतीय हाईकोर्टों की अपीलें प्रिवी कौंसिल में हुआ करती थीं, और प्रिवी कौंसिल का निर्णय अंतिम निर्णय होता था।

होम गवर्मेंट और भारतीय लोकमत—भारतीय लोकमत होम गवर्मेंट की संस्थाओं और उसके अधिकारियों के अधिकारों का वहुत दिनों से विरोध करता आया है। सन् १९२० तक कांग्रेस में उदारवादियों का ज़ोर था। 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग होना तो आरंभ हो गया था, पर 'स्वराज्य' की विस्तारपूर्वक व्याख्या न की गयी थी और

बहुतेरे राजनीतिज्ञ 'स्वराज्य' शब्द का अर्थ उत्तरदायी शासन लगाते थे। कुछेक की दृष्टि में स्वराज्य और डोमिनियन के दर्जे (Dominion Status) में विशेष अंतर न था। सन् १९१७ की घोषणा के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भी भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन स्थापित करने का वचन दिया था। पर सन् १९२९ तक यह स्पष्ट न हो सका था कि उत्तरदायी शासन का वास्तविक अर्थ क्या है। इस साल लॉर्ड अर्विन ने विलायत से लौट कर एक महत्वपूर्ण घोषणा की, जिसके ज़रिये से उन्होंने यह स्पष्ट किया कि सन् १९१७ की घोषणा का अभिप्राय असंदिग्ध रूप से यह है कि भारतवर्ष को अंत में उपनिवेश (Dominion) का दर्जा मिले। सन् १९३१ में वेस्टमिंस्टर स्टेच्यूट के पास होने पर 'डोमीनियन स्टेटस' इस वाक्य की भी स्पष्ट व्याख्या हो गयी। तब से उदारवादी, होम गवर्मेंट की संस्थाओं और उसके अधिकारियों के विषय में यही चाहते हैं कि भारतीय शासन में उनका संगठन और स्थान उसी प्रकार का हो जाय जिस प्रकार का डोमीनियनों के शासन में वहां की होम गवर्मेंट का है।

सन् १९२० के पश्चात् कांग्रेस असहयोगियों और उग्र राजनीतिज्ञों के हाथ में आ गयी। इन लोगों की राय में उदारवादियों की वैधानिक आंदोलन की नीति भिखमंगों की नीति थी और उसके सहारे देश को स्वाधीनता का सार मिलना असंभव था। वे असहयोग और सविनय अवज्ञा के आंदोलनों के ज़रिये से भारतवर्ष को स्वतंत्र बनाना चाहते थे। सन् १९२९ तक, कदाचित ये लोग भी डोमीनियन स्टेटस से संतुष्ट थे। कांग्रेस ने नेहरू कमेटी की योजना इस शर्त पर अपनायी थी कि सरकार ३१ दिसंबर सन् १९२९ तक उसे क़ानून का रूप दे दे। पर सरकार ऐसा न कर सकी और इसलिए निर्धारित तारीख को नेहरू योजना समाप्त समझी गयी और कांग्रेस का ध्येय निश्चित रूप से पूर्ण स्वाधीनता हो गया। फल-स्वरूप भारतीय शासन में होम गवर्मेंट की संस्थाओं और अधिकारियों का कोई स्थान ही न रह गया।

होम गवर्मेंट की संस्थाओं में से भारतीय लोकमत, बहुत दिनों से भारत-मंत्री की कौंसिल (India Council) का विरोधी था। इंडिया कौंसिल एक प्रतिक्रियात्मक संस्था समझी जाती थी और वास्तव में भी वह ऐसी ही थी। भारतीय शासन के अवकाश-प्राप्त उच्च युरोपीय पदाधिकारी इंगलैंड में जाकर इस संस्था की सदस्यता के इच्छुक होते थे

और नियुक्त किये गये अधिकांश सदस्य भी इसी प्रकार के होते थे। साधारणतया ये लोग भारतीय राजनीतिक उत्थान के विरोधी थे और इंडिया कौंसिल में बैठ कर भारतवर्ष के राष्ट्रीय विकास के मार्ग में रोड़े अटकाते थे। इन लोगों के करने के लिए कुछ काम भी न था[1]। क़ानूनी दृष्टि से निस्संदेह कुछ बातें[2] ऐसी अवश्य थीं जिनका निर्णय भारत-मंत्री इस कौंसिल के बहुमत के अनुसार करते थे किंतु कार्य रूप में कौंसिल के स्वतंत्र अधिकार नहीं के बराबर थे। कहा जाता है कि यह कौंसिल ब्रिटिश मंत्रिमंडल के प्रस्तावों को, बिना दस्तंदाज़ी, हमेशा स्वीकार कर लेती थी[3]। उपर्युक्त बातों को छोड़ कर अन्य बातों में कौंसिल का परामर्श लेना अथवा न लेना और उस परामर्श को मानना अथवा न मानना भारत-मंत्री की इच्छा पर निर्भर था। गुप्त बातों में[4] कौंसिल का परामर्श तक न लिया जाता था। जो बातें गुप्त न थीं उनके विषय में भी आवश्यकता होने पर भारत-मंत्री कौंसिल का परामर्श लिये

---

(1) The verses of Thomas Love Peacock, about the India Office, quoted by Sir Malcolm Seton, are not too gross a carricature of the day's task of the members of the Council at the present time:—

Eleven to noon, think you have come too soon.
Twelve to one, wonder what's to be done.
One to two, find nothing to do.
Two to three, begin to see.
It will be a great bore to stay till four.

Sir Sivaswami Aiyer: Indian Constitutional Problems. p. 194.

(२) निम्नलिखित बातों का निर्णय भारत-मंत्री कौंसिल के बहुमत से करते थे—(1) Grant or appropriation of any part of the revenues of India. (2) The making of contracts for the purpose of the Act of 1919. (3) The making of rules regulating matters connected with the Civil Service.

(3) Sir Sivaswamy Aiyer: Indian Constitutional Problems. p. 193.

(४) गुप्त बातों में से निम्नलिखित विशेषतया उल्लेखनीय हैं—
भारत-सरकार का पत्र-व्यवहार, देशी रियासतों या विदेशी राज्यों का संबंध, युद्ध, सुलह आदि।

विना अपना आदेश निकाल सकते थे और पीछे से उसे कौंसिल के सामने सूचना के लिए पेश कर सकते थे। अतएव इंडिया कौंसिल प्रतिक्रियात्मक होने के साथ साथ कार्यरहित भी थी और इस लिए उसके अस्तित्व की कोई आवश्यकता न थी।

भारतीय कांग्रेस ने सन् १८८५ से ही इंडिया कौंसिल के तोड़ने का अनुरोध करना शुरू कर दिया था। उस साल कांग्रेस ने इंडिया कौंसिल के विषय में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकार किया था—

"इस कांग्रेस की राय है कि (भारतीय शासन में) किसी भी प्रकार का सुधार करने के पहले यह आवश्यक है कि भारत-मंत्री की कौंसिल जिस रूप में वह इस समय है तोड़ दी जाय।"

इसके बाद सन् १८९४, १८९६, १८९७ और १८९८ आदि के अधिवेशनों में कौंसिल के तोड़ने के पक्ष में प्रस्ताव पुनः पास हुए थे। मई सन् १९१४ को, इंडिया कौंसिल में सुधार करने के लिए लॉर्डक्रयू (Lord Crewe) ने लॉर्ड सभा में एक प्रस्ताव पेश किया था किंतु दूसरे वाचन में वह उस सभा द्वारा अस्वीकृत हुआ था। सन् १९१५ की गोखले-योजना में इंडिया कौंसिल के तोड़ने का अनुरोध किया गया था और सन १९१७ में भारतीय व्यवस्थापक सभा के १९ चुने हुए सदस्यों ने वाइसराय के पास एक मेमोरेंडम भेजा था जिसमें इंडिया कौंसिल के तोड़ने और भारत-मंत्री के स्थान को औपनिवेशिक मंत्री के स्थान का सा बनाने का अनुरोध किया गया था। कांग्रेस-लीग योजना में इंडिया कौंसिल का कोई स्थान न था। कॉमनवेल्थ ऑफ् इंडिया बिल और नेहरू योजना का उद्देश्य ब्रिटिश भारत में डोमोनियनों का सा स्वराज्य स्थापित करना था। अतएव उसमें भी इंडिया कौंसिल का कोई स्थान न था। सारांश यह कि भारतीय लोकमत बहुत दिनों से इंडिया कौंसिल का विरोध करता था और उसकी मांग इंडिया कौंसिल को तोड़ने से ही पूरी हो सकती थी सुधारने से नहीं।

नया शासन-विधान और होम गवर्मेंट—नये शासन-विधान में होम गवर्मेंट की संस्थाओं और अधिकारियों के स्थान में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। उनमें से निम्नलिखित बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) सम्राट का स्थान—नये शासन-विधान की दूसरी धारा के अनुसार भारत-मंत्री या स-कौंसिल गवर्नर जनरल या प्रांतीय सरकारों के सारे अधिकारों को अपने अधीन करके, शासन-विधान की धाराओं के अंतर्गत्, सम्राट ने उन्हें फिर से केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों को प्रदान किया है। सम्राट के अधिकार दो प्रकार के हैं-(१) विशेषाधिकार (Prerogative Rights) और (२) क़ानूनी अधिकार (Statutory Rights)। किसी अभियुक्त की सजा माफ़ करने या घटाने का अधिकार सम्राट के विशेषाधिकार का एक उदाहरण है। नये शासन-विधान की २९५ धारा के अनुसार यह अधिकार गवर्नर जनरल को दिया गया है। सम्राट को अपने किसी अन्य अधिकार को भी, जो शासन-विधान के द्वारा नहीं दिया गया है, गवर्नर जनरल या गवर्नर को देने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार अधिकार-प्राप्त अधिकारी, उस अधिकार पर सम्राट की ओर से अमल करेगा। शासन-विधान की धाराओं के अनुसार सम्राट के अधिकार निम्नलिखित हैं—

(१) संघ राज्य स्थापित होने के पूर्व देशी नरेशों के प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों के स्वीकार करने का अधिकार। संघ राज्य स्थापित होने के पश्चात् ये प्रवेश प्रार्थना-पत्र वज़रिये गवर्नर जनरल आवेंगे और संघ राज्य स्थापित होने के २० बरस बाद गवर्नर जनरल किसी प्रार्थना-पत्र को सम्राट के पास तब तक न भेजेंगे जब तक भारतीय व्यवस्थापक मंडल की दोनों सभाएं उनसे उस रियासत को संघ राज्य में शामिल करने की प्रार्थना न करे। प्रत्येक अवस्था में प्रवेश प्रार्थना-पत्र की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति सम्राट पर निर्भर होगी।

(२) संघ राज्य स्थापित होने की घोषणा करने का अधिकार—नये शासन-विधान की पांचवीं धारा के अनुसार संघ राज्य तभी स्थापित होगा जब सम्राट उसके स्थापित होने की घोषणा करेंगे। सम्राट यह घोषणा तभी करेंगे जब कम से कम इतने देशी नरेश संघ राज्य में शामिल होने के लिए तैयार होंगे जो संघीय व्यवस्थापक मंडल की बड़ी सभा में ५२ सदस्य भेज सकते हों और जिनकी आबादी समस्त देशी रियासतों की आबादी की कम से कम आधी हो, और इस शर्त की पूर्ति के पश्चात्, जब ब्रिटिश पार्लमेंट की दोनों सभाएं सम्राट से भारतीय संघ राज्य स्थापित करने की प्रार्थना करें।

(३) उच्च पदाधिकारियों के नियुक्त करने का अधिकार—नये शासन-विधान के अनुसार सम्राट को अनेक उच्च पदाधिकारियों के नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है। गवर्नर जनरल, वाइसराय, प्रधान सेनापति, प्रांतीय गवर्नर, संघीय न्यायालय और हाईकोर्टों के प्रधान न्यायाधीशों और न्यायाधीशों आदि को सम्राट नियुक्त करते हैं। इनमें से बहुत से पदाधिकारी ब्रिटिश मंत्रिमंडल की सिफ़ारिशों के अनुसार नियुक्त किये जाते हैं और कुछ के विषय में गवर्नर जनरल का भी परामर्श लिया जाता है।

(४) शासन-विधान द्वारा दिये गये संघ राज्य संबंधी अन्य अधिकार—उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त सम्राट को संघ राज्य संबंधी और भी कई अधिकार दिये गये हैं। वे गवर्नर जनरल और गवर्नरों को आदेशपत्र देते हैं और संघीय अथवा प्रांतीय व्यवस्थापक मंडलों के पास किये गये प्रस्तावों को रद कर सकते हैं।

(५) देशी रियासतों के संबंध के अधिकार—देशी रियासतों के उन विषयों का संबंध सम्राट के साथ होगा, जो संघ राज्य को समर्पित न किये जायंगे। इन अधिकारों पर अमल करने का अधिकार या तो स्वयं सम्राट को है या उनके प्रतिनिधि वाइसराय को, या उन अधिकारियों को जिन्हें वाइसराय इस प्रकार का अधिकार दें।

सम्राट व्यक्तिगत् हैसियत में इन अधिकारों पर अमल नहीं कर सकते। वे भारतवर्ष-संबंधी अपने सब कामों को उत्तरदायी ब्रिटिश मंत्रियों के परामर्श के अनुसार करते हैं।

(ब) पार्लमेंट का स्थान—नये शासन विधान के द्वारा भारतीय शासन संबंधी ब्रिटिश पार्लमेंट के अधिकारों में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। क़ानूनी दृष्टि से वह अब भी भारतवर्ष के लिए नियम बना सकती है। भारतीय शासन-विधान में परिवर्तन करने या नये शासन-विधान के बनाने का अधिकार पार्लमेंट को है। पार्लमेंट की प्रार्थना पर ही सम्राट संघ राज्य स्थापित करने की घोषणा करेंगे। गवर्नर जनरल और गवर्नरों के आदेश-पत्रों और उनके संशोधनों का मसविदा पार्लमेंट में पेश किया जाता है और पार्लमेंट की अनुमति के बिना उन पर कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती। गवर्नर जनरल और गवर्नरों के एक्टों

और ऑर्डीनेंसों की सूचना बज़रिये भारत-मंत्री पार्लमेंट की दोनों सभाओं को दी जाती है।

(ख) भारत-मंत्री और उनके परामर्शदाता—होम गवर्नमेंट की संस्थाओं और अधिकारियों में से, नये शासन-विधान के द्वारा, भारत-मंत्री और उनकी कौंसिल में सबसे अधिक परिवर्तन हुए हैं। सन् १९३५ के पूर्व स-कौंसिल भारत-मंत्री को भारतीय शासन के निरीक्षण का क़ानूनी अधिकार प्राप्त था और उनकी सारी आज्ञाओं का मानना गवर्नर जनरल के लिए अनिवार्य था। नये शासन-विधान में भारतीय शासन संबंधी सारे अधिकार स्वयं सम्राट को दिये गये हैं। इस परिवर्तन के कारण भारत-मंत्री की क़ानूनी स्थिति में काफ़ी परिवर्तन हो गया है पर वास्तव में उनकी स्थिति वैसी ही है जैसी नये विधान के पूर्व थी। हां ऊपरी दिखावे से यह अवश्य विदित होता है कि भारत-मंत्री का स्थान शनैः शनैः औपनिवेशिक मंत्री के स्थान का सा होता जाता है। गवर्नर जनरल और प्रांतीय गवर्नर अपने व्यक्तिगत् निर्णय और विवेक के अधिकारों का उपयोग भारत-मंत्री के निरीक्षण में उनके आदेशानुकूल करते हैं और बज़रिये भारत-मंत्री गवर्नर जनरल के एक्टों और ऑर्डीनेंसों की सूचना पार्लमेंट को दी जाती है।

नये शासन-विधान के द्वारा भारत-मंत्री की कौंसिल तोड़ दी गयी है और भारत-मंत्री के लिए कम से कम तीन और अधिक से अधिक छः परामर्शदाताओं की व्यवस्था की गयी है। इनको स्वयं भारत-मंत्री नियुक्त करते हैं। कम के कम आधे परामर्शदाताओं के लिए यह आवश्यक है कि वे नियुक्ति के पूर्व दस बरस तक भारतवर्ष में सरकारी नौकरी कर चुके हों और उन्हें भारतवर्ष छोड़े हुए दो बरस से अधिक न हुआ हो। परामर्शदाता पांच बरस के लिए नियुक्त किये जाते हैं, और कोई मनुष्य एक बार से अधिक इस पद पर नियुक्त नहीं हो सकता। परामर्शदाता पार्लमेंट की किसी सभा के सदस्य नहीं हो सकते। भारत-मंत्री के पास त्यागपत्र भेज कर वे, यदि चाहें, तो अपने पद से अलग हो सकते हैं और भारत-मंत्री भी ऐसी शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता के कारण, जो उनके काम में बाधक हो, उन्हें निकाल सकते हैं। प्रत्येक परामर्शदाता को १३५० पौंड सालाना वेतन मिलता है और जिसका निवास-स्थान भारत-

वर्ष में है उसे वेतन के अतिरिक्त ६०० पौंड सालाना भत्ता। भारत-मंत्री, उनके परामर्शदाताओं और विभाग[1] का वेतन इंगलैंड के कोष से दिया जाता है। इस व्यवस्था के कारण, ब्रिटिश पार्लमेंट, जो सन् १९२० तक भारतवर्ष की सुप्त संरक्षिता थी, भारतीय मामलों में अधिक दिलचस्पी लेने लगी है। कुछ बातों[2] को छोड़ कर परामर्शदाताओं का परामर्श लेना अथवा न लेना और उनके परामर्श के अनुसार काम करना अथवा न करना भारत-मंत्री की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। जो बातें परामर्श-दाताओं की अनुमति पर छोड़ी गयी हैं उनके लिए यह आवश्यक है कि उपस्थित सदस्यों का बहुमत भारत-मंत्री के पक्ष में हो। भारत-मंत्री को तोड़ी गयी इंडिया कौंसिल के सदस्यों को परामर्शदाता नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है।

(द) भारतीय हाई कमिश्नर—नये शासन-विधान के द्वारा भारतीय हाई कमिश्नर के स्थान और अधिकारों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। सन् १९३५ के एक्ट के अनुसार उनकी स्थिति प्रायः वैसी ही है जैसी सन् १९१९ के सुधारों के अनुसार थी।

होम गवर्मेंट और डोमीनियन स्टेटस (औपनिवेशिक स्वराज्य)—इस परिच्छेद को समाप्त करने के पूर्व यह जान लेना चाहिये कि भारतवर्ष की होम गवर्मेंट और डोमीनियनों की होम गवर्मेंट में क्या अंतर है। सन् १९२९ की घोषणा के अनुसार ब्रिटिश सरकार की भारतीय नीति का ध्येय असंदिग्ध रूप से यह है कि भारतवर्ष को अंत में उपनिवेश (Dominion) का दर्जा मिले। डोमीनियनों और युनाइटेड किंगडम का मौजूदा संबंध वेस्टमिंस्टर स्टेच्यूट पर अवलंबित

---

(१) अप्रैल सन् १९३७ को भारत-मंत्री के विभाग की स्थापना हुई है। शासन-विधान की २८१ धारा के अनुसार वे सारे मुस्तक़िल कर्मचारी जो भारत-मंत्री के कार्यालय में काम करते थे, इस विभाग के अधीन कर दिये गये हैं और उनको इंगलैंड की सिविल सर्विस के सारे अधिकार दिये गये हैं।

(२) नये शासन-विधान की २६१ धारा के अनुसार भारत-मंत्री अपने सिविल सर्विस संबंधी अधिकारों का उपयोग परामर्शदाताओं के बहुमत के अनुसार करते हैं।

है। पर वह स्टेच्यूट भारतवर्ष पर लागू नहीं है। अतएव भारतवर्ष और डोमीनियनों की होम गवर्मेंट में महत्वपूर्ण अंतर है। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) ब्रिटिश राष्ट्र-समूह की स्वराज्य-प्राप्त डोमीनियनों और युनाइटेड किंगडम में बराबरी का संबंध है। उनमें से कोई भी भीतरी या बाहरी बातों में एक दूसरे के अधीन नहीं है। वे युनाइटेड किंगडम के राजा के कारण ही एकता के सूत्र में बंधी हुई हैं। भारतवर्ष का अभी तक ऐसा स्थान नहीं। वह ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों के साथ बराबरी का दावा नहीं कर सकता। वह भीतरी और बाहरी बातों में ब्रिटिश सरकार के अधीन है और युनाइटेड किंगडम के राजा भारतवर्ष के राजा नहीं, सम्राट हैं।

(२) युनाइटेड किंगडम के राजा, भारतवर्ष की भाँति, स्वराज्य-प्राप्त डोमीनियनों के शासन-विधानों के अंग हैं और उनमें भी उनके महत्वपूर्ण अधिकार हैं। पर डोमीनियनों में वे उन अधिकारों का उपयोग वहाँ के मंत्रिमंडलों के परामर्श के अनुसार करते हैं, और भारतवर्ष में ब्रिटिश मंत्रिमंडल के परामर्श के अनुसार। इसके अतिरिक्त राज्य के उत्तराधिकार के विषय में यदि कोई नियम बनाया जाता है तो डोमीनियनों की सम्मति के बिना वह उन पर लागू नहीं होता। एडवर्ड आठवें के सिंहासन छोड़ने का एक्ट डोमीनियनों की सम्मति से पास हुआ था। और जॉर्ज छठे के सिंहासनारूढ़ होने की घोषणा विभिन्न डोमीनियनों में अलग अलग की गयी थी। इन महत्वपूर्ण बातों में भारतवर्ष का कुछ भी हाथ न था।

(३) ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा बनाया गया कोई नियम किसी डोमीनियन पर उस समय तक लागू नहीं हो सकता जब तक उस एक्ट में इस बात का उल्लेख न हो कि अमुक डोमीनियन ने उस एक्ट के पास करने की प्रार्थना की है और उससे सहमत है। भारतवर्ष को अभी तक यह अधिकार नहीं है।

(४) भारत-मंत्री की स्थिति डोमीनियन-मंत्री (Secretary of State for Dominions) की स्थिति से भिन्न है। डोमीनियन-मंत्री का विभाग सन् १९२५ में औपनिवेशिक मंत्री (Colonial Secretary)

के विभाग के एक अंग को लेकर बनाया गया था। डोमीनियन-मंत्री और उनके विभाग का काम वास्तव में डाकखाने का काम है। वे युनाइटेड किंगडम के पर-राष्ट्र-विभाग की सूचनाएं आदि डोमीनियनों को भेजते हैं और डोमीनियन सरकारों की सूचनाएं आदि युनाइटेड किंगडम के पर-राष्ट्र-विभाग को। डोमीनियनों के भीतरी शासन और पर-राष्ट्र संबंध में उनका कुछ भी हाथ नहीं है। भारत-मंत्री की स्थिति इससे भिन्न है। उत्तरदायी शासन के होते हुए भी देश के भीतरी शासन में उनके महत्वपूर्ण अधिकार हैं और वे उन अधिकारों पर अमल भी करते हैं। भारतवर्ष का पर-राष्ट्र-संबंध एक संरक्षित विषय है और इस लिए वह पूर्णतया भारत-मंत्री के अधीन है।

(५) भारतीय हाई कमिश्नर की स्थिति भी डोमीनियनों के हाई कमिश्नरों की स्थिति से भिन्न है। भारतीय हाई कमिश्नर की भांति डोमीनियनों के हाई कमिश्नर लंदन में रहते हैं। पर डोमीनियनों के हाई कमिश्नर अपनी अपनी सरकारों के राजदूत की हैसियत से काम करते हैं, और भारतीय हाई कमिश्नर भारत-सरकार की एजेंट की हैसियत से।

होम गवर्मेंट संबंधी उपर्युक्त अंतरों को देखकर हमें यह विदित हो जाता है कि भारतवर्ष अभी तक डोमीनियन के दर्जे से कितनी दूर है। इसमें संदेह नहीं कि भारतवर्ष क्रमशः डोमीनियनों के दर्जे की ओर जा रहा है पर उसकी गति इतनी धीमी है कि शनैः शनैः अनुदार और उदार राजनीतिज्ञ भी उग्र राजनीतिज्ञों में परिवर्तित होते जाते हैं और भारतवर्ष के राजनीतिक आंदोलन की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती जाती है। भारतीय कांग्रेस अब औपनिवेशिक स्वराज्य से ही संतुष्ट नहीं है। वह भारतवर्ष को पूर्ण स्वराज्य की ओर ले जाने की कोशिश कर रही है। इस परिवर्तित मनोवृत्ति को निर्धारित सीमा के अंदर रखने का एक मात्र साधन यह है कि शिक्षित लोकमत के अनुसार भारतीय शासन-विधान में शीघ्र से शीघ्र संशोधन एवं परिवर्तन किये जायं। पता नहीं ब्रिटिश सरकार कब भारतीयों की उचित मांग को स्वीकार करके उन्हें स्वतंत्रता का सार देगी।

पंद्रहवाँ परिच्छेद

ज़िले का शासन और स्थानीय स्वराज्य

कमिश्नर—जिले का शासन, कलक्टर—कलक्टर के सहकारी अफ़सर—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं—स्थानीय स्वराज्य की आवश्यकता, केंद्रीय सरकार का भार घटाना, जनता को व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा देना; प्रत्येक स्थान की विशेष समस्याओं का होना—भारतवर्ष में स्थानीय स्वराज्य का विकास।

कमिश्नर—शासन के सुभीते के लिए, मद्रास को छोड़कर, प्रत्येक प्रांत कई भागों में विभक्त किया गया है। इनको कमिश्नरियाँ कहते हैं। प्रत्येक कमिश्नरी एक कमिश्नर के अधीन होती है। वह साधारणतया भारतीय सिविल सर्विस (Indian Civil Service) का सदस्य होता है। उसके अधिकांश अधिकार मालगुज़ारी और भूमि संबंधी होते हैं। कुछ बातों में वह जिले के शासन का निरीक्षण करता है और स्थानीय स्वराज्य का भी। भारतीय राजनीतिज्ञों का कहना है कि कमिश्नरों के पद की कोई आवश्यकता नहीं है। मद्रास की भाँति अन्य प्रांतों का भी शासन-संचालन किया जा सकता है। संभव है कि कांग्रेसी मंत्रि-मंडल भी कमिश्नर के पद के तोड़ने की कुछ व्यवस्था करें।

ज़िले का शासन, कलक्टर—प्रत्येक कमिश्नरी में कई जिले होते हैं। भिन्न-भिन्न कमिश्नरियों में ज़िलों की संख्या अलग अलग होती है। संयुक्त प्रांत में लखनऊ कमिश्नरी में छः जिले हैं और गोरखपुर कमिश्नरी में केवल तीन। कुछ प्रांतों में, जिले के सर्वोच्च अधिकारी को कलक्टर कहते हैं और कुछ में डिप्टी कमिश्नर। वह साधारणतया इंडियन सिविल सर्विस का सदस्य होता है। कुछ प्रांतीय नौकरियों के सदस्य बढ़ते बढ़ते, ज़िले के अफ़सर बना दिये जाते हैं।

कलक्टर अपने ज़िले में भारत-सरकार के प्रतिनिधि की हैसियत से काम करता है। उसके निम्नलिखित अधिकार होते हैं—

(अ) मालगुज़ारी-संबंधी अधिकार—ज़िले की मालगुज़ारी का वसूल करना कलक्टर का काम है। यह उसके नाम से ही विदित है। वह अपने

ज़िले की भूमि और हिसाब संबंधी सारे कागज़ों की रक्षा करता है। जिले का खज़ाना भी उसी के अधीन होता है।

(ब) शासन-संबंधी अधिकार—ज़िले के शासन की देख-भाल करने का अधिकार कलक्टर को दिया गया है। ज़िले के निवासी शांतिपूर्वक रहें, उन्हें किसी प्रकार की आशंका न हो, लोग नियम-विरुद्ध आचरण न करें, और यदि करें तो गिरफ़्तार कर लिये जायँ, इन सब बातों की देख-भाल करना कलक्टर का काम है।

(स) न्याय-संबंधी अधिकार—कलक्टर को न्याय-संबंधी भी कुछ अधिकार दिये गये हैं। वह अपने अधीन डिप्टी-कलक्टरों के निर्णय की अपीलें सुन सकता है। कुछ लोगों का कहना है कि कलक्टर के न्याय-संबंधी अधिकार अनुचित हैं। नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यह आवश्यक है, कि शासन-संबंधी और न्याय-संबंधी अधिकार अलग अलग व्यक्तियों के अधीन हों। इस सिद्धांत की सत्यता को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। लेकिन अभी तक शासन-विभाग और न्याय-विभाग का पृथक्करण नहीं हुआ है।

(द) निरीक्षण-संबंधी अधिकार—ज़िले के शासन के निरीक्षण करने का अधिकार कलक्टर को दिया गया है। ज़िले के प्रत्येक विभाग के कर्मचारी, जैसे जेलर, सिविल सर्जन, इक्ज़ीक्यूटिव इंजीनियर, पुलिस सुपरिंटेंडेंट आदि अपने अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं या नहीं, यह देखना कलक्टर का काम है। वह स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का भी निरीक्षण करता है। ज़िला बोर्ड और छोटी म्युनिसिपिल्टियाँ साधारण-तया उसी के अधीन होती हैं।

साधारणतया कलक्टर अपने ज़िले के प्रधान नगर में ही रहा करता है। वहीं उसके तथा ज़िले के अन्य कर्मचारियों के कार्यालय होते हैं। परंतु जाड़े में वह अपने ज़िले में दौरा करता है और इस प्रकार ज़िले की जनता के संपर्क में आता है और वहाँ की परिस्थिति की जानकारी हासिल करता है।

अधिकारों की सीमा—उपर्युक्त विवरण से हमें यह न समझना चाहिये कि कलक्टर अपने ज़िले का निरंकुश शासक है। मालगुज़ारी के मामलों में वह कमिश्नर के अधीन है, और न्याय-संबंधी अधिकारों

में उसके निर्णय के प्रतिकूल ज़िले के न्यायाधीश (District judge) की अदालत में अपील की जा सकती है। हर साल उसे अपने ज़िले की उन्नति और सुव्यवस्था का विवरण ऊँचे पदाधिकारियों के पास भेजना पड़ता है। इस विवरण में वह अपने ज़िले की अवस्था पर ज़ोर देता है और ज़िले की उन्नति कैसे होगी, इस बात का भी संकेत करता है।

कलक्टर के सहकारी अफ़सर—प्रत्येक ज़िले में कलक्टर की सहायता के लिए अन्य विभागों के भी कुछ ऊँचे पदाधिकारी रहते हैं। वे अपने अपने विभागों के अधीन होते हैं, कलक्टर के अधीन नहीं। परंतु कलक्टर को अपने ज़िले में उनके द्वारा किये गये कामों के निरीक्षण करने का अधिकार होता है। इनमें से निम्नलिखित अफ़सर ध्यान देने योग्य हैं—

(क) सिविल सर्जन—प्रत्येक बड़े ज़िले में एक सरकारी अस्पताल होता है, जहाँ पर मुफ़्त चिकित्सा की जाती है। बड़े शहरों में वह अस्पताल साधारणतया सिविल सर्जनों के अधीन होता है। उसकी सहायता के लिए कई और डाक्टर भी होते हैं। सिविल सर्जन साधारणतया अखिल भारतीय सर्विस (Imperial Service) का सदस्य होता है। सरकारी अस्पताल के अतिरिक्त प्रत्येक ज़िले में म्युनिसिपैलिटियों, ज़िला बोर्डों, सार्वजनिक संस्थाओं और परोपकारी व्यक्तियों द्वारा खोले गये अनेक धर्मार्थ औषधालय और अस्पताल होते हैं।

(ख) पुलिस सुपरिंटेंडेंट—प्रत्येक ज़िले में एक पुलिस सुपरिंटेंडेंट होता है। उसका काम ज़िले की शांति और व्यवस्था और लोगों की जान-माल की रक्षा करना होता है। उसकी सहायता के लिए एक शहर कोतवाल, अनेक थानेदार और बहुत से सिपाही होते हैं। शहर की पुलिस दो तरह की होती है—(१) साधारण पुलिस और (२) ख़ुफ़िया पुलिस। ख़ुफ़िया पुलिस के सिपाही छिपे छिपे अपराधियों का पता लगाते हैं।

(ग) जेलर—प्रत्येक ज़िले में एक जेल होता है। वहाँ पर अपराधी रखे जाते हैं। जेल का प्रबंध जेलर के अधीन होता है। जेल में वे ही अपराधी रखे जाते हैं जिन्हें किसी न्यायालय द्वारा कारावास का दंड मिला हो। क़ैदियों के स्वास्थ्य आदि की ज़िम्मेदारी जेलर पर होती है,

और कलक्टर पर भी। जेल में क़ैदियों को योग्यतानुसार काम करना पड़ता है। कभी कभी दंड देने के लिए क़ैदियों से कठोर या ऐसा काम लिया जाता है जिसका उन्हें अभ्यास न हो। जेलों में रखने का उद्देश्य यह है कि अपराधी का सुधार हो जाय। भारतीय जेलों की अवस्था अभी तक इस प्रकार की नहीं है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक ज़िले में एक या अधिक डिप्टी कलक्टर होते हैं, जिनके अधीन ज़िले का एक सब-डिवीज़न होता है। प्रत्येक ज़िला कुछ तहसीलों में विभक्त होता है। विभिन्न ज़िलों में तहसीलों की संख्या अलग अलग है। तहसील के अफ़सर को तहसीलदार कहते हैं। ये अपनी अपनी तहसीलों की मालगुज़ारी वसूल करके उसे खज़ाने में भेजते हैं। देहातों की स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का निरीक्षण भी ये ही लोग करते हैं।

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ—केंद्रीय और प्रांतीय सरकारें एवं कुछ सरकारी कर्मचारी ही किसी देश का शासन सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। भारतवर्ष ऐसे बड़े देश के लिए ऐसा होना और भी असंभव है। कंपनी के शासन-काल में सरकारी नीति का झुकाव केंद्रीकरण की ओर था और इसलिए शासन के अधिकांश अधिकार सरकारी कर्मचारियों को दे दिये गये थे। परंतु कुछ ही दिनों के पश्चात् इस कुनीति के दुष्परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे, और क्रमशः स्थानीय स्वराज्य की स्थापना की गयी।

स्थानीय स्वराज्य का अर्थ है किसी स्थान के नागरिकों के वे अधिकार जिनके कारण वे अपने नगर, ज़िला अथवा गाँव की कुछ विशेष बातों का प्रबंध स्वयं ही करते हैं। इन अधिकारों पर अमल करने के लिए भारतवर्ष में म्युनिसिपिलिटियाँ, ज़िला बोर्ड, ग्राम पंचायतें, इंप्रूवमेंट ट्रस्ट, पोर्ट ट्रस्ट आदि संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। नागरिक के जीवन में इन संस्थाओं का स्थान बड़े महत्व का है। केंद्रीय या प्रांतीय सरकारों से उसका संपर्क बरस में एक या दो बार होता है। वह प्रत्यक्ष रूप से यह भी नहीं जानता कि उनकी नीति का उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। परंतु स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं से उसका नित्यप्रति का संबंध है, और उनकी नीति का उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, इसे भी

वह प्रत्यक्ष रूप से देखता और समझता है। यही कारण है कि युरुप और अमरीका के निवासी स्थानीय स्वराज्य में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। स्थानीय स्वराज्य ने भी उनके जीवन को पूर्णतया बदल दिया है। लेकिन भारतवर्ष में अभी तक ऐसी परिस्थिति नहीं है। न तो यहां पर अब तक वास्तविक स्थानीय स्वराज्य ही स्थापित हुआ है और न जनता में उसके प्रति दिलचस्पी है। यहां के योग्य पुरुष स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं में भाग लेना फजीहत की बात समझते हैं, और जनता गरीबी और अशिक्षा के कारण, तीन बरस में एक बार भी वोट देना भार-स्वरूप समझती है। आशा की जाती है कि राष्ट्रीय उत्थान एवं स्थानीय स्वराज्य के अधिकारों की वृद्धि के साथ साथ, जनता की यह उदासीनता दूर हो जायगी, और इस देश की भी स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं नागरिकों की वही सेवा कर सकेंगी जो अमरीका और युरुप की स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं करती हैं।

स्थानीय स्वराज्य की आवश्यकता—स्थानीय स्वराज्य की स्थापना के तीन मुख्य कारण हैं—

(१) केंद्रीय सरकार का भार घटाना—मनुष्य का जीवन दिन पर दिन अधिकाधिक जटिल होता जाता है और उसके साथ साथ राज्य का कार्य भी बढ़ता जाता है। २० वीं शताब्दी में, राष्ट्र-मूलक राज्यों की परस्पर प्रतिस्पर्धा और पूंजीपतियों के अत्याचार के कारण, राज्य को ऐसे ऐसे काम करने पड़ रहे हैं जिनको १९ वीं शताब्दी के लोग ध्यान में भी न ला सकते थे। केंद्रीय सरकार के भार घटाने की आवश्यकता हमेशा से रही है और विशेष रूप से २० वीं शताब्दी में है। अतएव स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं की स्थापना आवश्यक होती है।

(२) जनता को व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा देना—स्थानीय स्वराज्य की स्थापना का दूसरा कारण जनता को व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा देना है। फ्रांस की राज्य-क्रांति के पश्चात् संसार के अनेक देशों में लोकतंत्र की स्थापना हुई है। लोकतंत्र की सफलता जनता की व्यावहारिक राजनीतिक कुशलता पर निर्भर होती है। स्थानीय स्वराज्य के कारण जनता को इस प्रकार की व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा मिलती है। यही कारण है कि स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं लोकतंत्र

की सफलता की मूल कही जाती हैं। कार्यरूप में भी साधारणतया लोकतंत्र उन देशों में असफल होता है जहाँ स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के रूप में उसका बीजारोपण नहीं किया जाता।

(३) प्रत्येक स्थान की विशेष समस्याओं का होना—स्थानीय स्वराज्य की स्थापना का तीसरा कारण है प्रत्येक स्थान की विशेष समस्याओं का होना। तीर्थ-स्थानों की समस्याएं व्यापारिक नगरों की समस्याओं से और ऐतिहासिक नगरों की समस्याएं औद्योगिक नगरों की समस्याओं से भिन्न होती हैं। बंदरगाहों और आंतरिक नगरों की समस्याएं भी एक दूसरे से भिन्न होती हैं। इन समस्याओं को जितना इन नगरों के निवासी समझते हैं उतना बाहर वाले नहीं। वे ही उनको संतोषपूर्वक कम मूल्य में हल कर सकते हैं। अतएव प्रत्येक नगर की विशेष समस्याओं का और उन समस्याओं को योग्यतापूर्वक कम मूल्य पर हल करने के लिए स्थानीय स्वराज्य का होना आवश्यक है।

भारतवर्ष में स्थानीय स्वराज्य का विकास—कुछ लोगों का ख्याल है कि भारतवर्ष में स्थानीय स्वराज्य की स्थापना ब्रिटिश शासन-काल से ही आरंभ हुई है। यह बात ठीक नहीं। लगभग २,३०० बरस पूर्व चंद्रगुप्त मौर्य के राजकाल में स्थानीय स्वराज्य उन्नत अवस्था में था। पाटलिपुत्र के विषय में मेगस्थनीज़ ने इस प्रकार लिखा है—'राजधानी के प्रबंध के लिए ३० सदस्यों की एक सभा है जो ६ समान कमेटियों में विभक्त होकर नगर का सारा काम काज देखती है। एक कमेटी शिल्प-कला का प्रबंध करती है; दूसरी विदेशियों की देखभाल करती है; तीसरी जन्म-मरण की गणना करती है; चौथी व्यापार-संबंधी बातों को देखती है; पाँचवीं देश की बनी वस्तुओं के क्रय का प्रबंध करती है और छठी बिकी वस्तुओं का कर वसूल करती है। ग्राम-प्रबंध भी सुव्यवस्थित है।' मध्यकाल में स्थानीय स्वराज्य की, विशेषकर ग्राम-पंचायतों की, यही अवस्था रही। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन-काल में भारतवर्ष के प्राचीन स्थानीय स्वराज्य का अंत हुआ। उत्तरदायित्वरहित अधिकारों के कारण कंपनी ने भारतवर्ष के उद्योग-धंधों को ही नहीं, वरन् उन ग्राम-पंचायतों को भी समाप्त किया जो अनेक शताब्दियों से चली आ रही थीं और जिनमें जनता को व्यावहारिक राजनीति की

शिक्षा मिलती थी। अतएव भारतवर्ष में स्थानीय स्वराज्य के लोप होने का उत्तरदायित्व बहुत कुछ कंपनी की केंद्रीकरण की नीति पर ही है।

कुछ ही दिनों के पश्चात् केंद्रीकरण के दोष प्रकट होने लगे और सरकार को अकेंद्रीकरण की नीति का आश्रय लेना पड़ा। सन् १८४२ के पूर्व ही कलकत्ता, बंबई, मद्रास आदि प्रेसीडेंसी नगरों में स्थानीय स्वराज्य स्थापित हो चुका था। इस साल बंगाल के दसवें एक्ट के अनुसार अन्य नगरों में भी सर्व साधारण के स्वास्थ्य और सुभीते के कामों के लिए स्थानीय स्वराज्य के स्थापित करने की व्यवस्था की गयी। अतएव कुछ नयी म्युनिसिपिल्टियाँ बनीं, परंतु प्रत्यक्ष करों के कारण ये असफल सिद्ध हुई। सन् १८५० में इस विषय का दूसरा एक्ट बना। उसके अनुसार म्युनिसिपिल्टियों को चुंगी आदि अप्रत्यक्ष करों के उगाहने का अधिकार मिला, और इस वांछनीय परिवर्तन के कारण, उत्तरी-पश्चिमी (वर्तमान संयुक्त प्रांत) और बंबई प्रांतों में कई नयी म्युनिसिपिल्टियां बनीं। सन् १८६३ में सेना-स्वास्थ्य-संबंधी शाही कमीशन (Royal Army Sanitary Commission) की सिफ़ारिशों के अनुसार म्युनिसिपिल्टियों को स्वास्थ्य संबंधी अनेक अधिकार दिये गये। सन् १८७० में लॉर्ड मेयो ने अकेंद्रीकरण की नीति का अवलंबन किया और यह आशा प्रकट की कि इस नीति के कारण स्थानीय स्वराज्य की वृद्धि होगी, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं की संख्या और उपयोगिता बढ़ेगी और भारतवासी और युरोपियन दोनों मिलकर शासन की देखभाल में हाथ बटावेंगे। वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। म्युनिसिपिल्टियों की संख्या और उपयोगिता बढ़ी, किंतु पुलिस के खर्च और केंद्रीय सरकार के अनावश्यक हस्तक्षेप के कारण, समस्त भारतवर्ष में स्थानीय स्वराज्य की समान उन्नति न हो सकी।

सन् १८८१ में लॉर्ड रिपन ने प्रांतीय सरकारों को स्थानीय स्वराज्य संबंधी दो बातों की जाँच करने का आदेश दिया—

(१) प्रांतीय सरकारों की आमदनी और खर्चे की कौन कौन सी मदें स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं को दी जा सकती हैं?

(२) किन किन साधनों के ज़रिये से स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं की वृद्धि हो सकती है?

प्रांतीय सरकारों की रिपोर्ट के आधार पर लॉर्ड रिपन ने सन् १८८२ में एक प्रस्ताव पास कराया जिसके महत्वपूर्ण अंशों का भावार्थ निम्नलिखित है—

(१) स्थानीय स्वराज्य की आवश्यकता, केवल शासन के सुभीते के लिए ही नहीं, जनता को व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा देने के लिए भी है।

(२) प्रांतीय सरकारों को केवल शहरों और नगरों में ही नहीं, वरन् समस्त देश में स्थानीय बोर्डों का जाल फैलाना चाहिये और इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि किसी बोर्ड का क्षेत्रफल आवश्यकता से अधिक न हो।

(३) शहरों और नगरों की स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं की वृद्धि होनी चाहिये और उनको, जितनी स्वाधीनता संभव हो, देनी चाहिये।

(४) किसी स्थानीय बोर्ड में सरकारी सदस्यों की संख्या ३३ प्रतिशत् से अधिक न होनी चाहिये और ग़ैर-सरकारी सदस्यों को दो बरस के लिए नियुक्त करना चाहिये।

(५) स्थानीय परिस्थिति के अनुकूल निर्वाचन का अधिकाधिक प्रयोग करना चाहिये।

(६) जहां तक संभव हो, स्थानीय बोर्डों के सभापतियों को ग़ैर-सरकारी व्यक्ति होना चाहिये।

(७) केंद्रीय शासन को स्थानीय स्वराज्य का निरीक्षण बाहर से करना चाहिये, भीतर से नहीं।

उपर्युक्त प्रस्ताव के आधार पर सन् १८८३ और १८८४ में भिन्न भिन्न प्रांतों में स्थानीय स्वराज्य संबंधी नये एक्ट पास हुए।

लॉर्ड रिपन द्वारा संस्थापित स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं लगभग २५ बरस तक काम करती रहीं। इस काल में उनकी अच्छी खासी उन्नति हुई। सन १९११-१२ में समस्त भारतवर्ष में ७१४ म्युनिसिपिल्टियां थीं, जिनमें निर्वाचित सदस्यों की संख्या ४०९०, नामज़द सरकारी सदस्यों की संख्या १८७५ और नामज़द ग़ैर-सरकारी सदस्यों की संख्या २८७७ थी। कुछ प्रांतों में निर्वाचित सदस्यों का अनुपात दूसरे प्रांतों से अधिक

था। पश्चिमोत्तर प्रदेश और बिलोचिस्तान में एक भी निर्वाचित सदस्य न था। अधिकांश म्युनिसिपिल्टियों के सभापति सरकारी पदाधिकारी थे, और कहीं कहीं वे सदस्यों द्वारा ही चुने जाते थे। कुछ म्युनिसिपिल्टियों के सभापति नामजद सरकारी अफसर भी थे। निर्वाचन का अधिकार बड़ा संकुचित था। म्युनिसिपिल्टियां सड़कें बनवाती थीं, उन पर रोशनी का प्रबंध करती थीं और सर्व साधारण की स्वास्थ्य-वृद्धि और शिक्षा आदि का प्रबंध करती थीं। सन् १९११-१२ में म्युनिसिपिल्टियों ने सड़कों पर ४,८९,१९३ पौंड, अस्पतालों पर २,३४,३०१ पौंड, शिक्षा पर २,३८,४३७ पौंड, और सड़कों की रोशनी पर २,३५,४४७ पौंड खर्च किये थे। म्युनिसिपिल्टियों की आमदनी के दो जरिये थे—(१) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर और (२) सरकारी सहायता। मकान का टैक्स, और पानी का टैक्स आदि प्रत्यक्ष कर थे, और चुंगी आदि अप्रत्यक्ष कर थे। म्युनिसिपिल्टियों को ऋण लेने का भी अधिकार था। केंद्रीय शासन का निरीक्षण भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार का था और म्युनिसिपिल्टियों की असफलता के अनेक कारणों में से यह भी एक प्रधान कारण था। देहाती स्थानीय स्वराज्य की अवस्था इससे भी अधिक सोचनीय थी। वहां पर सरकार और सरकारी अफसरों का हस्तक्षेप शहरों से कहीं अधिक था। प्रत्येक ज़िले का कलक्टर, उसके ज़िला बोर्ड का सभापति हुआ करता था। इस प्रकार देहातों में स्थानीय स्वराज्य केवल नाममात्र को ही स्थापित हो सका था।

स्थानीय स्वराज्य का उपर्युक्त विवरण सन् १९०७ के अकेंद्री-करण कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर लिखा गया है। कमीशन ने स्थानीय स्वराज्य संबंधी दोषों के दूर करने की कुछ सिफारिशें भी की थीं। भारत-सरकार ने उनके विषय में देश के प्रतिष्ठित पुरुषों और प्रांतीय सरकारों का परामर्श लिया और उसके आधार पर सन् १९१५ का प्रस्ताव पास किया। किंतु इन दिनों मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों का पत्रव्यवहार आरंभ हो चुका था। सन् १९१५ के प्रस्ताव के आधार पर केवल संयुक्त प्रांत में सन् १९१६ का म्युनिसिपल एक्ट पास हुआ। तत्पश्चात् सन् १९१८ में भारत-मंत्री और गवर्नर-जनरल की सहकारिता से स्थानीय स्वराज्य संबंधी एक नया प्रस्ताव पास हुआ। उसी प्रस्ताव के आधार पर भारत-वर्ष की मौजूदा स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं संगठित हैं।

सन् १९१५ के प्रस्ताव की भांति सन् १९१८ का प्रस्ताव भी अकेंद्रीकरण कमीशन की सिफ़ारिशों पर अवलंबित था। उसमें निम्नलिखित बातों पर विशेष ज़ोर दिया गया था—

(१) म्युनिसिपल और ज़िला बोर्डों में निर्वाचित सदस्यों का आधिक्य होना चाहिये। निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम से कम ७५ प्रतिशत् होनी चाहिये। नामज़द सरकारी सदस्यों का अस्तित्व केवल परामर्श के लिए होना चाहिये और उनको वोट देने का अधिकार न होना चाहिये। निर्वाचकों की संख्या इस क़दर बढ़नी चाहिये कि बोर्ड वास्तव में जनता का प्रतिनिधि-स्वरूप हो जाय।

(२) म्युनिसिपिल्टियों के सभापतियों को बोर्डों को चुनना चाहिये, और साधारणतया उन्हें ग़ैर-सरकारी सदस्य होना चाहिये। प्रत्येक बड़े शहर में सभापति के अतिरिक्त एक इक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़ीसर होना चाहिये और उसकी नियुक्ति बोर्ड की सम्मति से होना चाहिये। ज़िला बोर्डों के सभापतियों को भी जहाँ तक हो सके, निर्वाचित व्यक्ति होना चाहिये और प्रत्येक बड़े ज़िले में जहाँ तक संभव हो, शहरों की भांति, एक इक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़ीसर होना चाहिये।

(३) बोर्डों के टैक्स संबंधी अधिकारों को बढ़ाना चाहिये जिससे वे म्युनिसिपल एक्ट के अंतर्गत् टैक्सों को इच्छानुकूल बढ़ा घटा सकें। यही अधिकार ज़िला बोर्डों को भी मिलना चाहिये।

(४) यदि म्युनिसिपिल्टियां या ज़िला बोर्ड किसी व्यक्ति को अपने ख़र्च पर नौकर रखती हैं तो उस व्यक्ति पर उनका पूर्ण अधिकार होना चाहिये।

(५) स्थानीय स्वराज्य के बोर्डों का अपने बजट पर पूर्ण अधिकार होना चाहिये।

(६) स्थानीय स्वराज्य का एक नया विभाग खुलना चाहिये।

(७) देहातों में ग्राम-पंचायतों को स्थापित करना चाहिये।

सन् १९१९ में भारतीय शासन संबंधी एक नया एक्ट पास हुआ। उसमें स्थानीय स्वराज्य का विशेष स्थान न था, केवल इसी बात पर ज़ोर दिया गया था कि स्थानीय बोर्ड सर्वसाधारण के निरीक्षण में अपना

काम करें, और बाहरी हस्तक्षेप, जहां तक हो सके, कम कर दिया जाय। स्थानीय स्वराज्य हस्तांतरित विषय कर दिया गया, और उनका शासन प्रांतीय मंत्रियों द्वारा होने लगा। सन् १९३५ के एक्ट अनुसार स्थानीय स्वराज्य प्रांतीय विषय है। अतएव आज भी उसका शासन और निरीक्षण, प्रांत के उत्तरदायित्व मंत्रियों के अधीन है।
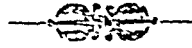
सोलहवाँ परिच्छेद

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का संगठन

भारतीय जनसंख्या की रूप-रेखा—भारतवर्ष में शहरातू जनसंख्या की वृद्धि—शहरों की जनसंख्या की वृद्धि के कारण—शहरों की विशेष समस्याएं—शहरों से संबंध रखने वाली स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं—कॉरपोरेशन—म्युनिसिपिल्टियां—म्युनिसिपल वोर्ड; म्युनिसिपल उम्मेदवारों की योग्यताएं; वोटरों की योग्यताएं; म्युनिसिपल निर्वाचन; म्युनिसिपल चेयरमैन; म्युनिसिपल पदाधिकारी; म्युनिसिपल कमेटियां; म्युनिसिपल वोर्ड के अधिकार—इंप्रूवमेंट ट्रस्ट—पोर्ट ट्रस्ट—देहातों से संबंध रखने वाली स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं—जिला वोर्ड—ग्राम-पंचायत—स्थानीय स्वराज्य और प्रांतीय सरकार का संबंध—संगठन-सुधार की कुछ आवश्यक बातें—निर्वाचक और निर्वाचन का ढंग; सदस्य और उनका चुनाव; चेयरमैन; स्थानीय स्वराज्य के कर्मचारी; प्रांतीय सरकार का निरीक्षण।

भारतीय जनसंख्या की रूप-रेखा—भारतवर्ष के अधिकांश मनुष्यों का पेशा खेती है। अतएव यहां के निवासियों का बहुत बड़ा भाग देहातों में रहता है। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी के समय भारतवर्ष के ८९ प्रतिशत् मनुष्य देहातों में रहते थे और केवल ११ प्रतिशत् नगरों और शहरों में। पाश्चात्य देशों और अमरीका की परिस्थिति इससे भिन्न है। वहां पर शहरों में रहने वालों की संख्या बहुत ज्यादा है। इंगलैंड और वेल्स के ८० प्रतिशत्, संयुक्त राज्य अमरीका के ५६.२ प्रतिशत्, केनाडा के ५३.७ प्रतिशत्, उत्तरी आयरलैंड के ५०.८ प्रतिशत् और फ्रांस के ४९ प्रतिशत् निवासी शहरों में रहते हैं।

भारतवर्ष में शहरातू जनसंख्या की वृद्धि—क्रमशः भारतवर्ष में शहरों के निवासियों की संख्या बढ़ती जाती है। निम्नलिखित तालिका से हमें इस कथन की सत्यता का पता चलता है—

साल	प्रतिशत् देहाती निवासी	प्रतिशत् शहरों के निवासी
१८९१	९०.५	९.५
१९०१	९०.१	९.९
१९११	९०.३	९.७
१९२१	८९.८	१०.२
१९३१	८९.०	११.०

इस तालिका से हमें यह विदित होता है कि गत् चालीस बरसों में शहरों की जनसंख्या समस्त जनसंख्या की १.५ प्रतिशत् बढ़ी है। वृद्धि की दर सब प्रांतों में एकसा नहीं है। सन् १९२१ से सन् १९३१ तक आसाम की शहराती जनसंख्या १५.२ प्रतिशत् बढ़ी है, बंगाल की ३.७ प्रतिशत्, बिहार-उड़ीसा की १०.४ प्रतिशत्, बंबई की १३.९ प्रतिशत्, मद्रास की ९.१ प्रतिशत्, पंजाब की ११ प्रतिशत् और संयुक्त प्रांत की ५.९ प्रतिशत्। बड़े बड़े नगरों की भी संख्या क्रमशः बढ़ती जाती है। निम्नलिखित तालिका से हमें इस बात का पता चलता है—

जनसंख्या	सन् १९२१ में नगरों की संख्या	सन् १९३१ में नगरों की संख्या	प्रतिशत् वृद्धि
१,००,००० के ऊपर आबादी वाले नगर	३५	३८	८.६
५०,००० से १,००,००० तक की आबादी वाले नगर	५४	६५	२०.४
२०,००० से ५०,००० तक की आबादी वाले नगर	२००	२६८	३४
१०,००० से २०,००० तक की आबादी वाले नगर	४५१	५४३	२०.४
५,००० से १०,००० तक की आबादी वाले नगर	८८५	९८७	११.५

केवल बड़े नगरों की संख्या ही नहीं, वरन् ऐसे नगरों की आबादी भी गत् ५० बरसों में उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। सन् १८९१ में कलकत्ते की आबादी ६,९५,८४३ थी, और सन् १९३१ में ११,९३,६५१। बंबई और मद्रास की आबादी गत् ५० वर्षों में लगभग ६० प्रतिशत् बढ़ी है, दिल्ली की लगभग १०० प्रतिशत्, लाहौर की लगभग १५० प्रतिशत्, और अहमदाबाद, करांची, कानपुर, आगरा, इलाहाबाद आदि की विभिन्न अनुपात में।

शहरों की जनसंख्या की वृद्धि के कारण—यद्यपि भारतवर्ष में शहरों और उनके निवासियों की संख्या उतनी तेजी से नहीं बढ़ी है जितनी युरुप और अमरीका में, तो भी जिन मूल कारणों से उन देशों की जनसंख्या की रूप-रेखा बदली है, वे ही कुछ न कुछ अंश में भारतवर्ष में भी विद्यमान हैं और उन्हीं के कारण भारतवर्ष में शहरों और उनकी आबादी की वृद्धि होती जाती है। इन कारणों में से निम्नलिखित विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं—

(१) आवागमन के साधनों की सुविधा—आवागमन के साधनों की सुविधा के कारण शहरों और उनकी आबादी की वृद्धि होती है। आधुनिक काल में वे नगर जो रेलों के जंक्शन हैं, या जहां पर अच्छे बंदरगाह हैं, बड़े शहर हो जाते हैं। क्रमशः वे नगर भी बड़े शहर हो जायँगे जहां पर हवाई जहाजों के स्टेशन हैं।

(२) उद्योग-धंधों की उत्पत्ति और विकास—उद्योग-धंधों की उत्पत्ति और विकास के कारण बड़े शहरों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। इंगलैंड, जर्मनी, अमरीका आदि के अधिकांश नगर इसी प्रकार के हैं। भारतवर्ष में अभी तक औद्योगिक क्रांति नहीं हुई है। फिर भी जैसे जैसे उद्योग-धंधों की वृद्धि होती जाती है वैसे वैसे उद्योग-धंधों के और व्यापारिक नगरों की उत्पत्ति और वृद्धि होती जाती है। कानपूर, अहमदाबाद, जमशेदपूर आदि की वृद्धि का मुख्य कारण इन नगरों का उद्योग-धंधा है।

(३) भारतीय अकाल—अकालों के कारण भी शहरों की जनसंख्या की वृद्धि होती है। इस देश में कभी कम जल-वृष्टि, कभी अधिक जल-वृष्टि, कभी उपयुक्त समय पर जल-वृष्टि न होने, कभी बाढ़ और कभी

टीड़ी दलों के कारण अकाल पड़ा ही करते हैं। उन दिनों गांव वालों के पास न तो कुछ खाने को ही रह जाता है और न उनको कोई काम ही मिलता है। अतएव वे लोग काम की तलाश में शहरों में आते हैं। इनमें से कुछ लोग शहरों में ही रहने लग जाते हैं और इस प्रकार शहरों की जनसंख्या बढ़ती है।

(४) सुख और आनंद के साधन—शहरों में सुख और आनंद, भोग-विलास, और शान-शौकत के अनेक साधन होते हैं। वहां पर हर प्रकार के साथी मिल जाते हैं। देहातों में न तो स्कूल होते हैं, न बाइसकोप, न थियेटर, न बिजली के पंखे और न साफ सुथरी सड़कों पर मोटर की सवारी। नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित लोग भी वहां पर देखने को नहीं मिलते। अतएव देहातों में रहने वाले अनेक जिमींदार शहरों में रहने लगते हैं। वे अपने साथ अपने परिवार और नौकरों को भी लाते हैं और इस प्रकार शहरों की आबादी बढ़ती है।

(५) सरकारी नीति—सरकार की नीति के कारण भी कुछ शहरों की आबादी बढ़ जाती है। यदि सरकार किसी नगर को अपनी राजधानी बनाती है तो वहां पर अनेक सरकारी दफ्तर खुलते हैं, और उनके कर्मचारी वहीं पर रहने लगते हैं। राजधानियों में विश्वविद्यालय, हाईकोर्ट और अन्य न्यायालय भी स्थापित होते हैं। इस तरह इन नगरों की आबादी और भी बढ़ जाती है। गत थोड़े वर्षों में दिल्ली और लखनऊ की आबादी के बढ़ने के अनेक कारणों में से सरकार की नीति भी एक कारण है।

शहरों की विशेष समस्याएं—पाश्चात्य देशों और अमरीका में शहरों और उनकी जन-संख्या के वृद्धि के कारण कुछ नयी समस्याएं आ उपस्थित हुई हैं। भारतवर्ष में वे ही समस्याएं न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं। किंतु इस देश में उन्होंने अभी तक वह विकराल रूप धारण नहीं किया है जो युरुप और अमरीका में है। इन समस्याओं में से निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) स्त्रियों और पुरुषों की संख्या में असमानता—शहरों में साधारणतया लोग अपनी जीविका कमाने के लिए आते हैं। उनके निवासियों में नवयुवकों और जवान आदमियों की संख्या अधिक होती है। इनमें

से कुछ तो कुआँरे होते हैं, और जिनका व्याह हो चुकता है वे भी अपनी स्त्रियों और बच्चों को घर पर छोड़ आते हैं। भारतवर्ष में साधारणतया स्त्रियों की संख्या पुरुषों की संख्या से कम है किंतु शहरों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या और भी कम होती है। निम्नलिखित तालिका से हमें इस विषय का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त होता है—

शहर, प्रांत, देश	स्त्रियों की संख्या	पुरुषों की संख्या	पुरुषोंका आधिक्य	प्रतिशत् स्त्रियों पर पुरुषों का आधिक्य
कलकत्ता	३,८१,३६४	८,१२,२८७	४,३०,९२३	११३·१
बंबई	४,१४,००२	७,४७,३८१	३,३३ ३७९	८२·९
दिल्ली	१,४३,६७०	२,०३,८६९	६०,१९९	४२·२
लाहौर	१,४६,२२९	२,५३,८४६	१,०७,६१७	७३·७
लखनऊ	१,०७,२२१	१,४३,२७६	३६,६५५	३४·३
कानपूर	८९,९१३	१,२९,२७६	३९,३६३	४४·२
संयुक्त प्रांत	२,२९,६३,७५७	२,५४,४५,००६	२४,८१,२४९	१०·९
भारतवर्ष	१७,१०,०८,८५५	१८,१८,२८,९२३	१,०८,२०,०६८	६·३

स्त्रियों और पुरुषों की इस असमानता के कारण साधारणतया सब शहर और विशेष रूप से बड़े शहर अनेक नैतिक बुराइयों के अड्डे बन जाते हैं। युरुप के कुछ बड़े नगरों का रात्रि-जीवन नैतिक दृष्टि से बहुत ही गया बीता है। यद्यपि भारतवर्ष का नैतिक आदर्श पाश्चात्य देशों के नैतिक आदर्श से ऊंचा है तो भी यहां के प्रत्येक बड़े नगर में एक या दो ऐसे मुहल्ले अवश्य होते हैं जहां पर भले आदमी जाना तक नापसंद करते हैं।

(२) स्वास्थ्य-रक्षा की समस्या—देहातों की अपेक्षा शहरों की आबादी अधिक घनी होती है। बंबई में प्रति वर्ग मील में ४८,००० आदमी रहते हैं, कलकत्ते में २४,३५४, अमृतसर में २४,८४४, और कानपूर में २४.७५३। इस बड़ी संख्या को निवास-स्थान देने के लिए शहरों में कई मंजिल ऊंचे मकान बनाये जाते हैं। पर जगह की कमी

के कारण, मकानों की ऊंचाई को देखते हुए, सड़कें पतली होती हैं। अतएव इन मकानों में पर्याप्त धूप, रोशनी और शुद्ध वायु नहीं पहुंच पाती। फल-स्वरूप शहरों के निवासी रोग-ग्रसित और कमज़ोर होते हैं। इन बुराइयों के साथ साथ शहरों में खाने पीने की सामग्री का भी समुचित प्रबंध नहीं होता। वहां पर सड़ी से सड़ी चीज़ बिक जाती है और अच्छी से अच्छी चीज भी। आमदनी कम और चीजें महंगी होने के कारण, बहुतेरे लोग सड़ी, गली और सस्ती चीजें खाकर अपनी ज़िंदगी बसर करते हैं जिसके कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। घनी आबादी के कारण बीमारियां बड़े वेग से फैलती हैं जिसके कारण देहातों की अपेक्षा शहरों में प्रतिशत् मृत्युएं अधिक होती हैं। निम्नलिखित तालिका से हमें भारतवर्ष के कुछ शहरों की प्रति सहस्र नवजात शिशु की मृत्यु का पता चलता है—

नाम शहर	१९२८	१९२९	१९३०
कलकत्ता	२७६	२५९	२६८
बंबई	३१४	३०१	२९८
मद्रास	२८९	२५९	२४६
लाहौर	२०४	२१४	१८७
दिल्ली	२१०	२५९	१९९
लखनऊ	३०१	२६९	३२९

इस तालिका के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि नवजात शिशुओं की मृत्युएं घनी आबादी वाले शहरों में कम आबादी वाले शहरों की अपेक्षा कहीं ज्यादा होती हैं। यही अवस्था अन्य मृत्युओं की भी है। इसमें संदेह नहीं कि शहरों में स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अनेक प्रबंध किये जाते हैं फिर भी उनकी यह समस्या संतोषपूर्वक हल नहीं हो पाती।

(३) अपराध और अपराधियों की समस्या—देहातों की अपेक्षा शहरों में अपराध अधिक होते हैं। कुछ अपराध तो केवल धन के लिए

किये जाते हैं, और कुछ पाशविक वृत्तियों को तृप्त करने के लिए। धन-संबंधी अपराधों के लिए शहरों की परिस्थिति विशेष रूप से उपयुक्त होती है। थोड़े से स्थान में अति अधिक संपत्ति एकत्रित रहती है, और चोरी के माल छिपाने और वेचने के साधनों की कमी नहीं होती। अतएव शहरों में कुछ लोगों का पेशा ही चोरी करना और जेब कतरना हो जाता है। पाशविक वृत्ति के तृप्त करने वाले अपराध गुप्त रीति से किये जाते हैं। इन अपराधों के कारण शहरों में पुलिस का भी ज़ोर अधिक होता है। अधिकांश चोरी और वदमाशी के मामले पकड़ लिये जाते हैं फिर भी अनेक अपराध ऐसे रह जाते हैं जिनकी खबर पुलिस तक नहीं पहुंचती और अनेक ऐसे जिनका पता लगाने में पुलिस को सफलता नहीं मिलती।

(४) किरायेदारों की वृद्धि और मकान-मालिकों की कमी—साधारणतया सब शहरों के और विशेप रूप से औद्योगिक शहरों के वहुत से निवासी श्रमजीवी होते हैं। उनके पास इतनी संपत्ति नहीं होती कि वे निजी मकान वनवा सकें। अतएव वे किराये के मकानों में ही अपना निर्वाह करते हैं। व्यापारियों को अपनी दूकानें साधारणतया किराये पर लेनी पड़ती हैं। कचहरी, दफ़्तरों, कॉलेजों और स्कूलों आदि में काम करने वाले लोग भी आम तौर से किराये के मकानों में रहते हैं। अतएव शहरों में देहातों की अपेक्षा मकान-मालिक कम होते हैं। किरायेदारों की अधिकता के कारण शहरों के निवासियों में सामूहिक जीवन का अभाव होता है। वड़े वड़े शहरों में यहां तक देखा गया है कि निकट के पड़ोसी भी एक दूसरे को नहीं जानते, और यदि जानते भी हैं तो परस्पर वात चीत नहीं करते। निजी मकान के कारण मनुष्य एक स्थान में वंध सा जाता है। वह उस स्थान की उन्नति करने का प्रयत्न करता है। पर किरायेदारों में यह वात नहीं होती। अतएव मकान-मालिकों की संख्या को वढ़ा कर, शहरों के सामूहिक जीवन का उभारना शहरों की एक जटिल समस्या है।

(५) हलचल मचाने वालों का अस्तित्व—शहरों में हमेशा किसी न किसी प्रकार की हलचल मची रहती है। कभी मजदूरों और मील-मालिकों का झगड़ा होता है, और कभी सांप्रदायिक। कभी जलूस

निकलते हैं, कभी राजनीतिक हलचल होती है, और कभी सामाजिक। नाना प्रकार के मनुष्यों के कारण, शहरों में हलचल के कारण भी स्वतः विद्यमान रहते हैं। हलचल मचाने वाले इन कारणों की सहायता से राई का पर्वत बनाते हैं, और शहरों के शांतिमय जीवन में खलबली पैदा करते हैं। शहरों में हड़तालें अधिक होती हैं। कभी राजनीतिक अथवा सामाजिक कारणों से सारा बाज़ार बंद हो जाता है; कभी मज़दूर लोग अपना वेतन बढ़ाने के लिए हड़ताल करते हैं; कभी इक्के तांगे वाले, कभी मेहतर लोग, और कभी स्कूलों और कॉलेजों के विद्यार्थी लोग। इन हड़तालों और उपद्रवों के कारण शहरों के शांतिमय जीवन में अशांति उत्पन्न होती है। इस अशांति का रोकना शहरों की एक कठिन समस्या है।

(६) सांप्रदायिक झगड़े—शहरों में अक्सर सांप्रदायिक झगड़े हुआ करते हैं। ये झगड़े या तो हिंदुओं और मुसल्मानों में होते हैं या मुसल्मानों और सिक्खों में। कभी कभी हिंदुओं में आर्य-समाजी और सनातनधर्मी और मुसल्मानों में शिया, और सुन्नी वर्ग के लोग आपस में झगड़ पड़ते हैं। ये झगड़े प्रायः छोटी छोटी बातों के कारण, जिनका धर्म से कोई संबंध नहीं होता, आरंभ होते हैं और धार्मिक मतभेद के कारण विकराल रूप धारण कर लेते हैं। अनेक स्त्री, पुरुष और बच्चे निर्दयता से हताहत किये जाते हैं, मकानों में आग लगा दी जाती है और मनुष्य की पाशविक वृत्तियों का नग्न रूप देखने को मिलता है। भारतवर्ष में शायद ही कोई बड़ा शहर ऐसा हो जिसमें इस प्रकार के झगड़े न हुए हों। इन झगड़ों के अवसर पर गुंडों की बन आती है। धीरे धीरे पुलिस और फौज के भय और प्रतिष्ठित पुरुषों के प्रयत्नों के कारण लोगों की पाशविक वृत्ति शांत हो जाती है और वे पुनः अपने काम काज में लग जाते हैं। सांप्रदायिक झगड़ों का रोकना शहरों की एक जटिल समस्या है।

शहरों से संबंध रखने वाली स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं; कॉरपोरेशन—भारतीय स्थानीय स्वराज्य की मौजूदा हालत में शहरों से संबंध रखने वाली चार प्रकार की स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं पायी जाती हैं—(१) कॉरपोरेशन, (२) म्युनिसिपिल्टी, (३) पोर्ट ट्रस्ट, और (४) इंप्रूवमेंट ट्रस्ट।

कलकत्ता, वंबई, मद्रास आदि वड़े शहरों की म्युनिसिपल संस्थाओं को कॉरपोरेशन कहते हैं। इनका श्रीगणेश सन् १६८७ में हुआ था। उस साल कोर्ट ऑफ् डाइरेक्टर्स के आज्ञानुसार मद्रास शहर के लिए युरोपीय और भारतीय मेंवरों का एक कॉरपोरेशन स्थापित हुआ था और उसे स्थानीय टैक्स लगाने और उसे वसूल करने का अधिकार मिला था। लेकिन यह कॉरपोरेशन वहुत दिनों तक न चल सका। इसी साल मद्रास के लिए मेयर की अदालत भी स्थापित हुई थी। अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में मद्रास के ढंग पर कलकत्ता और वंवई में भी कॉरपोरेशन और मेयर की अदालत की स्थापना हुई। इन संस्थाओं का काम प्रधानतया न्याय करना था, शासन करना नहीं। किंतु रेग्यूलेटिंग एक्ट के पश्चात् उनके शासन-संवंधी अधिकार उत्तरोत्तर वढ़ते गये और १९ वीं शताब्दी के मध्यकाल में वे प्रधानतया शासन करने वाली संस्थाएं हो गयीं। सन् १८६० तक तीनों प्रेसीडेंसी नगरों का संगठन प्रायः एकसा ही था। किंतु सन् १८६१ में प्रांतों को पुनः अपने अपने नियम वनाने का अधिकार मिला और तव से प्रत्येक प्रेसीडेंसी नगर का अलग अलग विकास होने लगा। सन् १९१९ में स्थानीय स्वराज्य हस्तांतरित विषय हो गया, जिसके कारण कॉरपोरेशनों पर प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं का अधिकार वढ़ा और उनके संगठन और अधिकारों में समय समय पर आवश्यकतानुकूल परिवर्त्तन किये गये।

आज कल कलकत्ता कॉरपोरेशन के सदस्यों की संख्या ९१ है। इनमें से १० सदस्यों को वंगाल की सरकार मनोनीत करती है और शेष ८१ सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से चुने जाते हैं। इनमें से ६३ सदस्य, कलकत्ते के विभिन्न हल्कों द्वारा चुने जाते हैं, ६ वंगाल चेंवर ऑफ् कामर्स द्वारा, ४ कलकत्ता व्यापारिक संघ द्वारा और २ कलकत्ता पोर्ट द्वारा। पांच एल्डर मेन (Aldermen) को निर्वाचित और मनोनीत सदस्य निर्वाचित करते हैं। मुसल्मानों के लिए २१ स्थान रिजर्व कर दिये गये हैं। कॉरपोरेशन के सदस्य स्वयं अपने मेयर को चुनते और इक्जीक्यूटिव ऑफीसर को नियुक्त करते हैं। अतएव ये पदाधिकारी साधारणतया कॉरपोरेशन के मातहत और उसके निरीक्षण में अपना काम करते हैं।

वंवई और मद्रास की अवस्था इससे कुछ भिन्न है। वंवई कॉरपोरे-

शन के सदस्यों की संख्या १०६ है, और मद्रास कॉरपोरेशन के सदस्यों की संख्या ६१ है। बंबई में १५ सदस्यों को बंबई की प्रांतीय सरकार मनोनीत करती है और ८० सदस्यों को जनता प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से चुनती है। उनका ब्योरा इस प्रकार है—७६ सदस्य विभिन्न हल्कों द्वारा चुने जाते हैं, १ बंबई के चेंबर ऑफ़् कॉमर्स द्वारा, १ मर्चेंट्स चेंबर द्वारा, और १ बंबई के विश्वविद्यालय द्वारा। शेष १० सदस्यों को मनोनीत और निर्वाचित सदस्य कोआप्ट[1] (Coopt) करते हैं। मज़दूरों के प्रतिनिधित्व की समुचित व्यवस्था की गयी है। कॉरपोरेशन अपने मेयर (सभापति) को स्वयं चुनता है और प्रचलित चलन के अनुसार ये वारी वारी से हिंदू, मुसल्मान, पारसी और युरोपीय जातियों के सदस्य होते हैं। बंबई के इक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़ीसर को, जिसे म्युनिसिपल कमिश्नर कहते हैं, बंबई की प्रांतीय सरकार नियुक्त करती है। वह साधारणतया इंडियन सिविल सर्विस का सदस्य होता है। सरकार द्वारा नियुक्त किये जाने के कारण, बंबई कॉरपोरेशन का इक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़ीसर उस हद तक कारपोरेशन के मातहत और उसके निरीक्षण में नहीं होता, जिस हद तक कलकत्ते का इक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़ीसर। मद्रास कॉरपोरेशन के ४५ सदस्य विभिन्न हल्कों द्वारा चुने जाते हैं, ६ मद्रास ट्रेड्स एसोसियेशन द्वारा, ५ दक्षिण भारत चेंबर ऑफ़् कॉमर्स द्वारा, १ एंग्लो इंडियन एसोसियेशन द्वारा, १ मद्रास पोर्ट ट्रस्ट द्वारा, और १ मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा। शेष सदस्यों को कॉरपोरेशन के उपर्युक्त सदस्य कोआप्ट करते हैं। कोआप्ट किये गये सदस्यों में से साधारणतया एक महिला सदस्या होती है। मद्रास के इक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़ीसर को मद्रास की प्रांतीय सरकार नियुक्त करती है, और इस कारण उसका कॉरपोरेशन के साथ प्रायः वही संबंध होता है जो बंबई के इक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़ीसर का बंबई कॉरपोरेशन के साथ।

(१) कोआप्ट करने का अर्थ है कुछ वाहरी आदमियों को कॉरपोरेशन का सदस्य बनाना। इस पद्धति के अनुसार कॉरपोरेशन या किसी अन्य सभा के चुने हुए या मनोनीत सदस्य वाहरी आदमियों को कॉरपोरेशन या सभा का सदस्य चुन लेते हैं। कोआप्शन साधारणतया विशेषज्ञों को भर्ती करने के लिए किया जाता है।

कॉरपोरेशनों के चुनाव में अभी तक सब लोगों को वोट देने का अधिकार नहीं दिया गया है। साधारणतया उन्हीं निवासियों को वोट देने का अधिकार दिया गया है जो मकान मालिक हैं, या निर्धारित किराये के किरायेदार हैं या कॉरपोरेशन को निर्धारित टैक्स देते हैं। वोटरों की संख्या तीनों कॉरपोरेशन में समान नहीं है। मद्रास में केवल ५ प्रतिशत् निवासियों को वोट देने का अधिकार मिला है और बंबई में १० प्रतिशत् निवासियों को।

कलकत्ता और बंबई को छोड़ कर करांची और रंगून की म्युनिसिपल संस्थाओं को भी कॉरपोरेशन कहते हैं। कहा जाता है कि संयुक्त-प्रांत का कांग्रेसी मंत्रि-मंडल, अपने प्रांत के कुछ बड़े शहरों को कॉरपोरेशन का नाम देने का विचार कर रहा है।

म्युनिसिपिल्टियां—कॉरपोरेशनों के अतिरिक्त ब्रिटिश भारत में लगभग ७८१ म्युनिसिपिल्टियां हैं और उनमें २ करोड़ ३० लाख निवासी रहते हैं। इनमें से ७१० की आबादी ५०,००० से कम है और शेप की ५०,००० से अधिक। म्युनिसिपिल्टियों के निवासियों का अनुपात विभिन्न प्रांतों में अलग अलग है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जिन प्रांतों में दस्तकारियों का अधिक विकास हुआ है, उनमें म्युनिसिपिल्टियों के निवासियों की संख्या दूसरे प्रांतों की अपेक्षा ज्यादा है। बंबई प्रांत में लगभग २० प्रतिशत् निवासी म्युनिसिपिल्टियों में रहते हैं और आसाम प्रांत में केवल २ प्रतिशत्। शेप प्रांतों में उनकी संख्या ४ से ९ प्रतिशत् तक है। प्रांतीय सरकारें किसी प्रदेश को म्युनिसिपिल्टी घोपित कर सकती हैं, किसी म्युनिसिपिल्टी को शहर घोपित कर सकती हैं और किसी म्युनिसिपिल्टी के क्षेत्रफल और अधिकारक्षेत्र को बढ़ा घटा सकती हैं। संयुक्त प्रांत में आजकल ८५ म्युनिसिपिल्टियां हैं। बंबई प्रांत की लगभग २९ म्युनिसिपिल्टियों को म्युनिसिपल बरो (Borough) कहते हैं।

म्युनिसिपल बोर्ड—प्रत्येक म्युनिसिपिल्टी के शासन की देखभाल करने के लिए एक कमेटी होती है जिसे म्युनिसिपल बोर्ड कहते हैं। यह बोर्ड जनता द्वारा सांप्रदायिक आधार पर चुना जाता है। निर्वाचन के लिए म्युनिसिपल शहर या नगर कई हल्कों में बांट दिया जाता है

और उनमें से प्रत्येक से साधारणतया जन-संख्या के आधार पर एक या अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। कुछ म्युनिसिपिल्टियों में सरकार के मनोनीत कुछ सदस्य होते हैं और कुछ में विशेष जन-समुदायों के प्रतिनिधित्व की विशेष व्यवस्था की गयी है। वोर्ड का कार्यकाल साधारणतया तीन वरस होता है। सन् १९३२ में संयुक्त प्रांत में म्युनिसिपल वोर्डों का कार्यकाल चार वरस कर दिया गया है। प्रांतीय सरकारें इस काल को वढ़ा सकती हैं, और ठीक ठीक काम न होने पर किंचित काल के लिए किसी वोर्ड को तोड़कर, उसका शासन सरकार द्वारा नियुक्त पदाधिकारी के अधीन कर सकती हैं।

म्युनिसिपल उम्मेदवारों की योग्यताएं—म्युनिसिपल उम्मेदवारों की योग्यताएं समस्त भारतवर्ष में प्रायः एकसी हैं। संयुक्त-प्रांत में प्रत्येक म्युनिसिपल वोटर जो अंगरेज़ी, हिंदी या उर्दू पढ़ लेता हो, जो म्युनिसिपल नौकर न हो, जो म्युनिसिपिल्टी के किसी ठेके का ठेकेदार या हिस्सेदार न हो, जो वैतनिक मैजिस्ट्रेट या पुलिस का अफ़सर न हो, म्युनिसिपल वोर्ड का सदस्य चुना जा सकता है। म्युनिसिपल निर्वाचन संवंधी अपराध के लिए दोपी ठहराये गये व्यक्ति पांच साल तक उम्मेदवार नहीं हो सकते। वे सरकारी नौकर जो नौकरी से वरख़ास्त कर दिये गये हों और उसके लिए अयोग्य ठहराये गये हों, और वे वकील जो वकालत करने के अधिकार से वंचित कर दिये गये हों, प्रांतीय सरकार की अनुमति के विना उम्मेदवार नहीं हो सकते।

वोटरों की योग्यताएं—वोटर होने के मूल सिद्धांत सव प्रांतों में प्रायः समान हैं। पर भिन्न भिन्न प्रांतों की विभिन्न परिस्थितियों के कारण कुछ अंतर अवश्य हो गये हैं। संयुक्त-प्रांत में वे सव लोग वोट दे सकते हैं जिनका नाम वोटरों की सूची में लिखा हो। यह सूची निर्वाचन के कुछ दिन पूर्व तैयार की जाती है, और पुरानी सूची में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जाते हैं। निम्नलिखित योग्यताओं वाले व्यक्ति वोटरों की सूची में अपना नाम लिखा सकते हैं—

(१) म्युनिसिपिल्टी को निर्धारित या उससे अधिक टैक्स देनेवाले लोग।

(२) म्युनिसिपल सीमा के निवासी यदि वे निम्नलिखित शर्तों में से एक या अधिक शर्तों को पूरा करते हों—

(क) किसी विश्वविद्यालय का ग्रेजुएट होना;
(ख) भारत-सरकार को आय-कर देना;
(ग) म्युनिसिपल सीमा के अंदर निर्धारित किराये के मकान का मालिक होना;
(घ) म्युनिसिपल सीमा के अंदर ऐसे मकान में रहना, जिसका वार्षिक किराया एक निर्धारित रक़म हो;
(ङ) ऐसी ज़मीन का मालिक होना, जिसकी मालगुज़ारी निर्धारित या उससे अधिक रक़म हो;
(च) ऐसी माफ़ी ज़मीन का मालिक होना, जिसकी माल-गुज़ारी निर्धारित या उससे अधिक रक़म हो;
(छ) ऐसी ज़मीन का असामी होना जिसका वार्षिक लगान निर्धारित या उसके अधिक रक़म हो; या
(ज) जिनकी आमदनी निर्धारित या उससे अधिक रक़म हो।

वे मनुष्य जो ब्रिटिश प्रजा नहीं हैं, जिनकी आयु २१ बरस से कम है, जो उपयुक्त न्यायालय द्वारा पागल ठहराये गये हैं, या जो ऐसे दिवालिये हैं जिनका सारा भुगतान नहीं हो पाया है म्युनिसिपल निर्वाचन में निर्वाचक नहीं हो सकते।

भारतवर्ष के नये शासन-विधान के कारण प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं के निर्वाचकों की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत ज्यादा हो गयी है। शायद यह कहना भी अनुचित न होगा कि प्रांतीय असेंबली के निर्वाचकों की संख्या, म्युनिसिपल निर्वाचकों से ज्यादा हो गयी है। चूंकि म्युनिसिपल निर्वाचकों की योग्यताएं प्रांतीय असेंबली के निर्वाचकों की योग्यताओं से कम होना चाहिये, इसलिए इन दिनों विभिन्न प्रांतों में म्युनिसिपल निर्वाचकों की योग्यताओं पर विचार हो रहा है। आशा की जाती है कि कुछ ही दिनों में म्युनिसिपल चुनाव में प्रत्येक बालिग स्त्री और पुरुष को वोट देने का अधिकार मिलेगा।

म्युनिसिपल निर्वाचन—यदि बोर्ड का कार्यकाल बढ़ाया न जाय तो साधारणतया निर्धारित काल के पश्चात् म्युनिसिपल बोर्ड का नया चुनाव होता है। चुनाव के संबंध में पहले तो वोटरों की सूची तैयार की जाती है, और फिर निर्धारित तारीख़ तक उम्मेदवारों के आवेदन-पत्र (Nomi-

nation Papers) पेश होते हैं। प्रत्येक आवेदन-पत्र में प्रस्तावक और अनुमोदक के नाम होते हैं। निश्चित तारीख को इन आवेदन-पत्रों की जाँच की जाती है। उस दिन रिटर्निंग ऑफीसर (Returning Officer) के सामने प्रस्तावक और अनुमोदक को उपस्थित होना पड़ता है और उम्मेदवार या उसके एजेंट को भी। उम्मेदवार या उसका एजेंट उम्मेदवारी की अनुमति देता है। यदि आवेदन-पत्र की और सब बातें ठीक हुईं तो वह स्वीकृत हो जाता है अन्यथा वह रद्द कर दिया जाता है। प्रत्येक आवेदन-पत्र के साथ ५०) रुपये जमा करने पड़ते हैं। यदि निश्चित तारीख तक कोई उम्मेदवार, उम्मेदवार न रहने की सूचना रिटर्निंग ऑफीसर को दे देता है तो यह रकम वापस कर दी जाती है। वोट पड़ने वाले दिन नगर में बड़ी धूम धाम होती है। सारा कामकाज एक प्रकार से स्थगित सा हो जाता है और लोग केवल चुनाव की ही चर्चा में लगे रहते हैं। वोट पड़ जाने के बाद बैलट बाक्सेज (Ballot Boxes) बाकायदा रिटर्निंग ऑफीसर के पास भेज दिये जाते हैं। निश्चित तारीख को वोट गिने जाते हैं और जिस उम्मेदवार को सबसे ज्यादा वोट मिलते हैं वह उस हल्के का प्रतिनिधि घोषित कर दिया जाता है।

चुनाव में कुछ लोग ऐसे काम करते हैं जिनके कारण निर्वाचक अपना वोट स्वतंत्रतापूर्वक नहीं दे पाते। कुछ लोग वोटरों को धमकाते हैं, घूस देते हैं, रुपया देकर वोट मोल लेते हैं, दावत आदि देकर वोटरों पर अपना प्रभाव जमाते हैं या जाली वोट डालते हैं। ऐसा करना नियम-विरुद्ध है। किसी निर्वाचक अथवा उम्मेदवार को यह अधिकार है कि वह ऐसी बातों को कमिश्नर के सामने पेश करे। इस प्रकार के प्रार्थना-पत्र पहुँचने पर कमिश्नर निर्णायक की हैसियत से यह तै करता है कि निर्वाचन नियमानुकूल हुआ है या नियम-विरुद्ध। निर्णय के अनुसार या तो दुबारा निर्वाचन किया जाता है या दूसरा उम्मेदवार उस क्षेत्र का प्रतिनिधि घोषित कर दिया जाता है। प्रत्येक ऐसे प्रार्थना-पत्र के साथ कुछ रुपये जमा करने पड़ते हैं। यदि अभियोग चलाने वाले लोगों की जीत होती है तो यह रकम उनको वापस कर दी जाती है और यदि वे हार गये तो यह रकम दूसरी पार्टी को दे दी जाती है। कमिश्नर अपने निर्णय में किसी उम्मेदवार को किंचित काल के लिए उम्मेदवारी के अधिकार से भी वंचित कर सकता है।

म्युनिसिपल चेयरमैन—निर्वाचन के पश्चात् निश्चित दिन म्युनिसिपल बोर्ड की प्रथम बैठक होती है। इसमें चेयरमैन या सभापति का चुनाव होता है। बोर्ड या तो अपने ही में से किसी सदस्य को सभापति चुनता है या किसी ऐसे बाहरी व्यक्ति को, जिसमें सदस्य होने की सब योग्यताएँ पायी जायँ। म्युनिसिपल शासन में इस पदाधिकारी का स्थान बड़े महत्व का होता है। अतएव इसके चुनाव में बोर्ड के सदस्य बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। कभी कभी परस्पर झगड़ों के कारण, बोर्ड के सदस्य अपने सभापति को नहीं चुन पाते। ऐसी हालत में निर्धारित अवधि के पश्चात्, प्रांतीय सरकार चेयरमैन को मनोनीत करती है। चेयरमैन एक अवैतनिक अधिकारी होता है। वह त्याग-पत्र भेज कर अपने पद से अलग हो सकता है, या सदस्यता की किसी अयोग्यता को प्राप्त करके। कर्त्तव्य-पालन में लापरवाही करने के कारण प्रांतीय सरकार सभापति को निकाल सकती है। बोर्ड स्वयं अविश्वास के प्रस्ताव के द्वारा चेयरमैन को यह संकेत कर सकता है कि वह अपने पद से अलग हो जाय।

म्युनिसिपल शासन में चेयरमैन के महत्वपूर्ण अधिकार होते हैं। वह बोर्ड के अधिवेशन में सभापति का आसन ग्रहण करता है, अधिवेशन की कार्रवाई को संचालित करता है और मतभेद की बातों पर अपना निर्णय देता है। बोर्ड के कुछ कर्मचारियों को वह स्वयं नियुक्त करता है, और कुछ को बोर्ड की अनुमति से। वह समस्त म्युनिसिपल शासन का निरीक्षण करता है। प्रतिवर्ष वह अपने बोर्ड की परिस्थिति की रिपोर्ट कमिश्नर के समक्ष उपस्थित करता है। वह उन सब अधिकारों का भी उपयोग कर सकता है जो बोर्ड उसको दे। इन अधिकारों और कर्तव्यों के कारण म्युनिसिपल शासन में चेयरमैन और सदस्यों में अक्सर मतभेद हो जाता है, जिसके कारण लोग शहर की भलाई के स्थान पर एक दूसरे की बुराई में लग जाते हैं, और म्युनिसिपल शासन में गंदी बातों का प्रचार होता है।

म्युनिसिपल पदाधिकारी—चेयरमैन के अतिरिक्त प्रत्येक म्युनिसिपल बोर्ड में कुछ अन्य पदाधिकारी भी होते हैं। वे सब बोर्ड की ओर से वेतन पाते हैं। इनमें से मुख्य मुख्य पदाधिकारी एक्जीक्यूटिव ऑफीसर, हेल्थ ऑफीसर, म्युनिसिपल इंजीनियर, वाटरवर्क्स सुपरि-

टेंडेंट और सेक्रेटरी हैं। इन सब पदाधिकारियों को बोर्ड नियुक्त करता है, परंतु प्रांतीय सरकार ने इनकी योग्यताएँ पहले से ही निर्धारित कर दी हैं। इन उच्च पदाधिकारियों के अतिरिक्त प्रत्येक बोर्ड के मातहत सैकड़ों अन्य कर्मचारी भी होते हैं, जिनको या तो बोर्ड नियुक्त करता है, या चेयरमैन या इक्ज़ीक्यूटिव ऑफ़ीसर। कहा जाता है कि इन पदाधिकारियों की नियुक्ति में बोर्ड के मेंबर कभी कभी अपने स्वार्थ का परिचय देते हैं जिसकी वजह से उनमें परस्पर द्वेष हो जाता है, और म्युनिसिपल कर्मचारी, सदस्यों के परस्पर द्वेष के कारण, बिना कारण निकाल दिये जाते हैं। कम वेतन के कारण बहुतेरे घूस लेने लगते हैं, जिससे वह जनता की सेवा न करके उस पर अत्याचार करने लगते हैं। म्युनिसिपल नौकरों की हालत सुधारे बिना, म्युनिसिपल शासन का उन्नतिशील होना असंभव है।

म्युनिसिपल कमेटियां—म्युनिसिपल बोर्ड अपना सारा काम स्वयं नहीं कर सकता। अतएव वह अपने काम को विभिन्न कमेटियों में बांट देता है। इनमें से मुख्य कमेटियां निम्नलिखित हैं—अर्थ कमेटी, वाटर वर्क्स कमेटी, स्वास्थ्य कमेटी, शिक्षा कमेटी, सड़क कमेटी इत्यादि। इन कमेटियों का चुनाव बोर्ड स्वयं करता है। इनके चुनाव में भी काफ़ी चहल पहल होती है। सभी सदस्य महत्वपूर्ण कमेटियों के चेयरमैन (सभापति) बनना चाहते हैं। सांप्रदायिक निर्वाचन की वजह से, कभी कभी अल्प-संख्यक जन-समुदायों को इन कमेटियों में, जन-संख्या के देखते, अधिक स्थान मिलते हैं। यह कमेटियां कुछ काम स्वयं कर लेती हैं, परंतु साधारणतया बोर्ड की अनुमति के बिना इनके किसी निर्णय पर कार्रवाई नहीं की जा सकती। कमेटियों के सदस्य साधारणतया बोर्ड के सदस्य होते हैं, पर कभी कभी बाहरी व्यक्ति भी इनके सदस्य चुन लिये जाते हैं। यदि कमेटियों के सदस्य अच्छे व्यक्ति हों और यदि उनमें बाहर के योग्य व्यक्ति भी कोआप्ट कर लिये जायँ, तो ये कमेटियां म्युनिसिपल शासन में बोर्ड की बहुत ज्यादा मदद कर सकती हैं।

म्युनिसिपल बोर्ड के अधिकार—प्रांतीय सरकार और कमिश्नर के अधिकारों को छोड़ कर, म्युनिसिपल क्षेत्र का शासनाधिकार म्युनिसिपल बोर्ड को होता है। जनता के जीवन को अधिक से अधिक सुखमय बनाना बोर्ड का कर्तव्य है। अतएव उसे अनेक अधिकार दिये गये हैं।

वह टैक्स लगाता है, म्युनिसिपल पदाधिकारियों को नियुक्त करता और निकालता है, और टैक्स द्वारा वसूल की गयी रक़म को आवश्यकतानुसार खर्च करता है। वह खाने पीने की चीज़ों का निरीक्षण करता है, और सड़ी और गंदी चीज़ों के बेचने वालों को दंड दे सकता है। वह खतरनाक मकानों को गिरा सकता है, और उन लोगों को दंड दे सकता है, जो नियम-विरुद्ध मकान बनवाते हैं, या बेक़ायदा म्युनिसिपल भूमि पर अपना अधिकार जमाते हैं। म्युनिसिपल शासन में बोर्ड का सर्वोच्च स्थान है। कमेटियों, चेयरमैन और म्युनिसिपल पदाधिकारियों के निर्णयों का अंतिम फैसला बोर्ड में ही होता है।

इंप्रूवमेंट ट्रस्ट—शहरों से संबंध रखने वाली स्थानीय स्वराज्य की तीसरी संस्था को इंप्रूवमेंट ट्रस्ट कहते हैं। ये संस्थाएं भारतीय शहरों की अवस्था सुधारने, और उनके बढ़ाने की ग़रज़ से बनायी गयी हैं। अधिकांश भारतीय शहर, बिना किसी नक़शे के बस गये हैं। उनकी सड़कें पतली और गंदी होती हैं, मकान तितर बितर होते हैं, और शहरों के कुछ हिस्से तो ऐसे होते हैं जहां न तो धूप जाती है और न रोशनी। दस्तकारियों की उन्नति और शहरों के प्रलोभनों के कारण उनकी आबादी नित्य-प्रति बढ़ती जाती है जिसकी वजह से बीमारियों के फैलने और स्वास्थ्य के बिगड़ने का डर हमेशा बना रहता है। औद्योगिक नगरों की मजदूर आबादी तो साधारणतया ऐसे घरों में अपना जीवन व्यतीत करती है, जो किसी हालत में मनुष्यों के रहने योग्य नहीं कहे जा सकते। अधिक आबादी और कम मकानों की वजह से मकानों का किराया भी बहुत ज्यादा होता है जिसकी वजह से छोटे छोटे घरों में उचित संख्या से अधिक मनुष्य रहते हैं। बंबई के ७१ प्रतिशत परिवार एक कमरे के मकानों में रहते हैं, १२ प्रतिशत दो कमरे के मकानों में, ४ प्रतिशत तीन कमरे के मकानों में, ९ प्रतिशत चार कमरे के मकानों में, और ३ प्रतिशत पांच या अधिक कमरे के मकानों में। एक कमरे में रहने वाले परिवारों की औसत जनसंख्या ४·१ है और कमरे की औसत लंबाई १५ फुट और चौड़ाई १० फुट है। इस प्रकार एक मनुष्य को केवल ३७ वर्ग फुट स्थान ही रहने को मिलता है। संयुक्त प्रांत में कानपुर और लखनऊ की हालत भी प्रायः ऐसी ही है।

निम्नलिखित तालिका से हमें यह विदित होता है कि इन नगरों में रहने वाले अधिकांश कुटुंबों को रहने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं मिलता—

शहर	एक कमरे के मकानों में रहने वाले परिवारों की प्रतिशत् संख्या	दो कमरे के मकानों में रहने वाले परिवारों की प्रतिशत् संख्या	तीन कमरे के मकानों में रहने वाले परिवारों की प्रतिशत् संख्या	चार कमरे के मकानों में रहने वाले परिवारों की प्रतिशत् संख्या	पांच या अधिक कमरे के मकानों में रहने वाले परिवारों की प्रतिशत् संख्या
लंदन	१२·२	२१·५	२५·१	१८·४	२२·८
लखनऊ	५०·४	२८·९	१०·७	५·२	४·८
कानपूर	६२·५	२४·८	७·५	२·९	२·३

कानपूर और लखनऊ की अवस्था से लंदन की अवस्था कहीं अच्छी है। भारतवर्ष में शायद जमशेदपूर ही एक ऐसा औद्योगिक नगर है जो उपर्युक्त निंदनीय अवस्था से मुक्त है।

बड़े शहरों की ऊपर लिखी हुई हालत के कारण यह आवश्यक है कि उनके गंदे हिस्से साफ़ किये जायँ, उनके फैलाव की समुचित व्यवस्था की जाय, और उनकी घनी आबादी के लिए नयी बस्तियाँ बसायी जायँ। भारतवर्ष के प्रमुख बड़े नगरों में इन्हीं उद्देश्यों से इंप्रूवमेंट ट्रस्ट स्थापित किये गये हैं। कलकत्ता इंप्रूवमेंट ट्रस्ट के, जो सन् १९१२ में स्थापित हुआ था, निम्नलिखित उद्देश्य हैं—घनी बस्तियों की आबादी को कम करने के लिए नयी बस्तियों का बसाना, नयी सड़कों का बनाना और पुरानी सड़कों का बदलना, हवा खाने के लिए और मकानों को अधिक हवादार बनाने के लिए, खुली जगहों का प्रबंध करना, पुराने मकानों को तोड़ना और नये मकानों का बनाना, ग़रीबों और मज़दूरों के रहने के लिए उपयुक्त मकान बनाना इत्यादि। ट्रस्ट का इंतज़ाम एक समिति को सौंपा गया है, जिसके, सभापति के अतिरिक्त, ग्यारह सदस्य हैं। सभापति ट्रस्ट का नौकर है और उसे अपना सारा समय ट्रस्ट के कामों की देखभाल में बिताना पड़ता है। कलकत्ते के अतिरिक्त, बंबई, रंगून, कानपूर, इलाहाबाद, लखनऊ, दिल्ली आदि बड़े नगरों में भी इंप्रूवमेंट ट्रस्ट स्थापित किये गये हैं।

इंप्रूवमेंट ट्रस्टों के कुछ सदस्यों को सरकार मनोनीत करती है, कुछ म्युनिसिपल वोर्ड की ओर से आते हैं और कुछ व्यापारिक संस्थाओं के द्वारा चुने जाते हैं। ट्रस्टों की आमदनी के निम्नलिखित ज़रिये हैं—विकी हुई ज़मीन का दाम, सरकारी सहायता, और ऋण। उनके खर्चे की मदें निम्नलिखित हैं—नयी सड़कों के वनाने के लिए मकान और ज़मीन का खरीदना, नयी सड़कों, गंदे नालों, आदि का वनाना, ऋण का व्याज देना और ऋण का चुकाना।

इंप्रूवमेंट ट्रस्टों की वजह से भारतवर्ष के कुछ वड़े शहरों की हालत सुधरने लगी है। नयी वस्तियाँ नक़शे के अनुसार वसायी जाती हैं, जिसके कारण वे देखने में आकर्षित, और निवासियों के लिए स्वास्थ्य-वर्द्धक होती हैं। मजदूरों और ग़रीवों के रहने का भी कुछ प्रवंध किया गया है, परंतु वह संतोषप्रद नहीं है। कहा जाता है कि इंप्रूवमेंट ट्रस्टों के मकानों का किराया वहुत ज्यादा होता है। वे अपनी ज़मीन को वहुत ज्यादा दाम पर वेंचते हैं, जिससे ग़रीवों की जायदादें छिन तो जाती हैं पर वे नयी जायदादों का मूल्य नहीं दे पाते। इंप्रूवमेंट ट्रस्टों की नीति के कारण शहरों के अधिकांश मकान पूंजीपतियों के अधीन होते जाते हैं, जिसके कारण किरायेदारों की संख्या वढ़ती जाती है और मकान-मालिकों की संख्या घटती जाती है।

पोर्ट ट्रस्ट—शहरों से संवंध रखने वाली स्थानीय शासन की चौथी संस्था को पोर्ट ट्रस्ट कहते हैं। ये केवल वंदरगाहों में ही स्थापित किये गये हैं। भारतवर्ष के मुख्य पोर्ट ट्रस्ट कलकत्ता, वंवई, मद्रास, करांची और चटगांव में हैं। कलकत्ता पोर्ट ट्रस्ट के कुछ सदस्य व्यापारिक संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं, कुछ कॉरपोरेशन द्वारा, और कुछ को सरकार मनोनीत करती है। वंवई पोर्ट ट्रस्ट के सदस्य भी इसी प्रकार चुने जाते हैं, और अन्य पोर्ट ट्रस्टों की भी प्रायः यही हालत है। पोर्ट ट्रस्टों में मनोनीत सदस्यों की संख्या कॉरपोरेशनों और म्युनिसिपिल्टियों की अपेक्षा कहीं ज्यादा होती है, और अधिकांश सदस्य युरोपियन होते हैं। मद्रास पोर्ट ट्रस्ट के प्रायः सभी सदस्य युरोपियन होते हैं। पोर्ट ट्रस्टों के शासन और प्रवंध में स्थानीय स्वराज्य की अन्य संस्थाओं की अपेक्षा सरकारी निरीक्षण और हस्तक्षेप अधिक होता है। ट्रस्टों की

आमदनी के मुख्य साधन जहाजी कर, गोदाम का किराया, और माल की लदाई और उतराई के टैक्स हैं। वे अपने काम के लिए ऋण भी ले सकते हैं। इन ट्रस्टों के सदस्यों को कुछ भत्ता मिलता है। निम्नलिखित तालिका से सन् १९३५-३६ में हमें पोर्ट ट्रस्टों की आर्थिक परिस्थिति का पता चलता है—

बंदरगाह	आमदनी	खर्च	ऋण
कलकत्ता	३,००,२७,६२०	३,१९,३४,३१५	२४,५०,९४,४०३
बंबई	२,३६,०२,१३८	२,६३,७६,३४९	१९,८६,३२,६९५
मद्रास	३१,४६,१८३,	३२,०५,९२१	१,५०,५९,९२७
करांची	७०,६९,६८५	६४,१३,३८४	४,०३,०९,०००
चटगांव	६,४६,९७८	६,६०,९२६	२६,१०,७३६

देहातों से संबंध रखने वाली स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं—भारतवर्ष के अभी तक लगभग ९० प्रतिशत् निवासी देहातों में रहते हैं। स्थानीय स्वराज्य से वास्तविक लाभ तभी पहुंच सकता है जब देहाती जनसंख्या को स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के द्वारा व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा दी जाय ! हमारे देश में देहातों से संबंध रखने वाली स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं, शहरों की अपेक्षा देर में स्थापित हुई हैं। विभिन्न प्रांतों में उनके नाम अलग अलग हैं। संयुक्त प्रांत में ऐसी दो मुख्य संस्थाओं के नाम जिला बोर्ड, और ग्राम-पंचायत हैं।

ज़िला बोर्ड—समस्त भारतवर्ष में जिला बोर्डों की संख्या लगभग २०७ है। संयुक्त प्रांत के प्रायः प्रत्येक जिले में एक जिला बोर्ड है। जिला बोर्डों के स्थापित करने का अधिकार प्रांतीय सरकार का है। बोर्ड का कामकाज एक समिति के अधीन होता है जो सांप्रदायिक आधार पर चुनी जाती है। मुसलमानों के प्रतिनिधित्व की निम्नलिखित व्यवस्था की गयी है—

जन-संख्या	बोर्ड में प्रतिनिधित्व
१ प्रतिशत् से कम	१० प्रतिशत्
१ प्रतिशत् से अधिक पर ५ प्रतिशत् से कम	१५ प्रतिशत्
५ प्रतिशत् से अधिक पर १५ प्रतिशत् से कम	२५ प्रतिशत्
१५ प्रतिशत् से अधिक पर ३० प्रतिशत् से कम	३० प्रतिशत्
३० प्रतिशत् से अधिक	जन-संख्या के अनुपात में

जिला बोर्ड का प्रत्येक निर्वाचक बोर्ड की सदस्यता का उम्मेदवार हो सकता है, यदि वह उन अयोग्यताओं से मुक्त हो जिनका उल्लेख म्युनिसिपिल्टियों के उम्मेदवारों के संबंध में किया गया है। जिला बोर्ड के अधिकार-क्षेत्र का प्रत्येक निवासी निर्वाचक हो सकता है, यदि उसका नाम वोटरों की सूची में लिखा हो। प्रत्येक मनुष्य, जो ब्रिटिश प्रजा हो, जो कम से कम २१ बरस का हो, और जिला बोर्ड की सीमा के अंदर रहता हो, अपना नाम वोटरों की सूची में लिखा सकता है, यदि उसमें निम्नलिखित योग्यताओं में से एक या अधिक पायी जायँ--

(१) ऐसी भूमि का मालिक जिसकी मालगुजारी २५ रुपये सालाना या अधिक हो।

(२) ऐसा असामी जो ५० रुपये वार्षिक या अधिक लगान देता हो।

(३) वह मनुष्य जो आय-कर देता हो।

(४) वह मनुष्य जो जिला बोर्ड को हैसियत टैक्स देता हो।

(५) वह मनुष्य जो अंगरेजी की एंट्रेंस या हिंदी या उर्दू की मिडिल परीक्षा पास हो।

वे मनुष्य जो उपयुक्त न्यायालय द्वारा पागल ठहराये गये हों, जो ऐसे दिवालिये हों जिन्होंने अपना भुगतान न किया हो, और जिन्होंने पिछले साल का जिला बोर्ड का टैक्स न चुकाया हो, निर्वाचक नहीं हो

सकते। वे मनुष्य जो भारतीय पीनल कोड के अनुसार छः मास से अधिक की क़ैद, या देश निकासे का दंड पाये हों, या जिन्हें फौजदारी अदालत ने निर्धारित अपराध का दोषी ठहराया हो, या जिनको नेकचलनी की जमानत देने की आज्ञा हुई हो परंतु जिनका दंड क्षमा न किया गया हो या आज्ञा वापस न ली गयी हो, या जिनको गत् पांच बरसों के अंदर भारतीय दंड-विधान के अनुसार ६ महीने से अधिक का दंड मिला हो, निर्वाचक नहीं हो सकते। प्रांतीय सरकार जब चाहे, इन अयोग्यताओं को रद्द करके, ऐसे व्यक्तियों को निर्वाचन का अधिकार दे सकती है।

ज़िला बोर्डों के अधिकांश सदस्य निर्वाचित सदस्य होते हैं। पर प्रत्येक बोर्ड में कुछ मनोनीत सदस्य भी होते हैं। म्युनिसिपिल्टियों की भांति ज़िला बोर्ड के सभापति को उसके सदस्य स्वयं चुनते हैं। ज़िला बोर्ड का काम भी कमेटियों में विभक्त कर दिया जाता है। ये कमेटियां उसी प्रकार चुनी जाती हैं जिस प्रकार म्युनिसिपिल्टियों की कमेटियां। ज़िला बोर्ड साधारणतया इन्हीं कमेटियों के परामर्श के अनुसार अपने प्रदेश का शासन करता है।

ग्राम-पंचायत—ज़िला बोर्ड का संबंध सारे ज़िले से होता है, पर ग्राम-पंचायतों का संबंध एक या अधिक गांवों से। यदि किसी पंचायत का संबंध कई गांवों से होता है तो उसे यूनियन बोर्ड कहते हैं। विभिन्न सूबों में, इन पंचायतों से संबंध रखने वाले एक्ट, विभिन्न बरसों में पास हुए हैं—बंगाल का सन् १९१९ में, बंबई, संयुक्त-प्रांत, मध्य प्रांत और मद्रास के सन् १९२० में, पंजाब का १९२१ में, बिहार का इसके कुछ दिनों बाद, आसाम का १९२६ में और पश्चिमोत्तर प्रदेश का १९३५ में। संयुक्त-प्रांत और पंजाब में प्रायः प्रत्येक गांव की अलग अलग पंचायत होती है, पर बंगाल में प्रत्येक यूनियन का क्षेत्रफल १० वर्गमील से १५ वर्गमील तक होना चाहिये और उसके निवासियों की संख्या १०००० व्यक्ति। बंबई में इस विषय में बड़ी विभिन्नता है। मद्रास में दोनों तरह की पंचायतें साथ साथ पायी जाती हैं।

ग्राम-पंचायतों और यूनियन बोर्ड के सदस्यों की संख्या पांच या अधिक होती है। कुछ प्रांतों में ये जनता द्वारा चुने जाते हैं और कुछ

में सरकार द्वारा नामज़द किये जाते हैं। मध्य-प्रांत में यूनियन में रहने वाले प्रत्येक बालिग़ पुरुष को या उस मनुष्य को जिसकी यूनियन में कुछ जायदाद हो, वोट देकर यूनियन बोर्ड के सदस्यों के चुनने का अधिकार है। बंबई और मध्य-प्रांत में, गांव का मुखिया पंचायत का एक्स-ऑफ़ीशियो सदस्य होता है। बंबई प्रांत में निर्धारित हैसियत के ज़मींदार पंचायतों के अधिवेशन में भाग ले सकते हैं। संयुक्त-प्रांत में ज़िले का कलक्टर पंचों और सरपंच को नियुक्त करता है। वह उनको निकाल भी सकता है और दुराचरण और ठीक काम न करने पर पंचायत तक को तोड़ सकता है। पंचायतों के अधिवेशन का स्थान कलक्टर की अनुमति से सरपंच निर्धारित करता है।

पंचायतों के अधिकार प्रायः दो प्रकार के होते हैं—(१) न्याय संबंधी अधिकार और (२) शासन संबंधी अधिकार। साधारणतया ग्राम-पंचायतें झगड़ों का ही निबटारा किया करती हैं। लेकिन यूनियन बोर्ड अपने अधिकार-क्षेत्र की कुछ आवश्यक बातों, जैसे सफ़ाई, सार्वजनिक भलाई के काम आदि, की भी देख रेख करते हैं। संयुक्त-प्रांत में ग्राम-पंचायतें निम्नलिखित मामलों का फ़ैसला कर सकती हैं—

(१) २५) रुपये तक के दीवानी मुक़द्दमें।

(२) मामूली मारपीट, या दस रुपये तक की चोरी, या दस रुपये तक के नुक़सान, या जान बूझकर अपमान करने वाले फ़ौजदारी मुक़द्दमें।

(३) जान बूझकर जानवर पकड़ने और स्वास्थ्य संबंधी बातों पर ध्यान न देने वाले मुक़द्दमे।

उन्हें फौजदारी के मामलों में दस रुपये, मवेशियों के मामलों में पांच रुपये और स्वास्थ्य संबंधी मामलों में एक रुपया तक जुर्माना करने का अधिकार है। ग्राम-पंचायतें उन मुक़द्दमों को नहीं कर सकतीं जिनका संबंध सरकारी कर्मचारियों से या ऐसे व्यक्तियों से हो जिनसे अच्छे आचरण के लिए मुचलके लिये गये हों। पंचायतों को कारावास का दंड देने का अधिकार नहीं है।

पंचायतों के शासन संबंधी भी अनेक अधिकार होते हैं। वे सड़कों और नालियों को बनाती और उनकी मरम्मत कराती हैं। वे नये कुंओं

को खोजाती है, और तालाबों और कुओं के पानी की सफाई का प्रबंध करती है। वे गांव की स्वास्थ्य संबंधी बातों की देखभाल करती है, गांव वालों की शिक्षा, और उनके खेल तमाशे की चीजों का प्रबंध करती है, और क़ब्रिस्तान और श्मशान आदि की व्यवस्था करती है। इनके अतिरिक्त वे सड़कों पर रोशनी करने, नये वृक्ष लगाने और पुराने वृक्षों की रक्षा करने, नये तालाब खुदवाने, गरीबों की सहायता करने, घरेलू दस्तकारियों के बढ़ाने आदि का भी प्रबंध कर सकती हैं[1]।

स्थानीय स्वराज्य और प्रांतीय सरकार का संबंध—स्थानीय शासन और केंद्रीय शासन के संबंध के विषय में संसार में दो प्रचलित आदर्श हैं, एक फ्रांस और जापान का और दूसरा इंगलैंड और अमरीका का। फ्रांस और जापान में केंद्रीय निरीक्षण एक ही केंद्र से होता है और इंगलैंड में केंद्रीय सरकार के कई विभाग स्थानीय शासन का निरीक्षण करते हैं। केंद्रीय निरीक्षण की आवश्यकता पर मतभेद का होना असंभव है। केंद्रीय सरकार शासन संबंधी बातों से अधिक परिचित होती है, और वह स्थानीय क्षेत्र को उपयुक्त सीमा के अंदर रखती है। मतभेद है केवल इस बात पर, कि केंद्रीय निरीक्षण और हस्तक्षेप किस हद तक हो? यदि स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का वास्तविक उपयोग होना है तो केंद्रीय निरीक्षण और हस्तक्षेप निर्धारित सीमा के अंदर होना चाहिये। अधिक और अनुचित केंद्रीय हस्तक्षेप और निरीक्षण के कारण स्थानीय स्वराज्य के उद्देश्य की पूर्ति में बाधा पड़ती है।

भारतवर्ष में सन् १९१९ के पश्चात् स्थानीय स्वराज्य, प्रांतीय सरकार के अधीन हो गया है। इस साल, द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार स्थानीय स्वराज्य हस्तांतरित विषय ठहराया गया था, और इस लिए उसके निरीक्षण का अधिकार उत्तरदायी मंत्रियों को मिला था। नये शासन-विधान के अनुसार, प्रांतीय शासन में हस्तांतरित और संरक्षित विषयों का भेदभाव मिटा दिया गया है और इस प्रकार प्रांतीय स्वराज्य की स्थापना के साथ साथ, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं प्रांतीय सरकार के अधीन रह कर, उसके निरीक्षण में अपना सारा कामकाज करती हैं।

---

(१) पश्चिमोत्तर-प्रदेश-विलेज पंचायत्स एक्ट सन् १९३५

प्रांतीय सरकारें, स्थानीय शासन की देखभाल दो तरह से करती हैं, (१) नियम बनाकर, और (२) शासन-संबंधी बातों का निरीक्षण करके। विविध प्रांतों के स्थानीय शासन से संबंध रखने वाली संस्थाओं के एक्ट्स (जैसे म्युनिसिपिल्टीज़ एक्ट्स, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड्स एक्ट्स, विलेज पंचायत्स एक्ट्स आदि) उन्हीं की व्यवस्थापक सभाओं या मंडलों द्वारा पास किये गये हैं। इनमें संशोधन एंव परिवर्तन करने का अधिकार भी प्रांतीय लेजिस्लेचरों को है। इन्हीं एक्ट्स के अनुसार स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं संगठित की जाती हैं, और उनके अधिकार और कर्तव्य निर्धारित किये जाते हैं। एक्टों का उल्लंघन करके स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं कुछ भी नहीं कर सकतीं। यदि स्थानीय शासन के अधिकार-क्षेत्र बढ़ाने या घटाने की आवश्यकता प्रतीत होती है, तो आवश्यक परिवर्तन प्रांतीय लेजिस्लेचरों के एक्टों द्वारा ही किये जाते हैं।

नियम-निर्माण-संबंधी उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त, प्रांतीय सरकारें स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के शासन का भी निरीक्षण करती हैं। इस काम में कमिश्नरों (जिन प्रांतों में कमिश्नरियां हैं) और कलक्टरों से उनको बड़ी सहायता मिलती है। संयुक्त-प्रांत में म्युनिसिपल संस्थाओं से संबंध रखने वाले कमिश्नरों और कलक्टरों के निम्नलिखित अधिकार हैं—

कमिश्नर के अधिकार—(१) अपने अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत स्थित म्युनिसिपिल्टियों के शासन का निरीक्षण करना, उनसे आवश्यक रिपोर्टें मांगना, और उन पर उचित कार्रवाई करना। यदि उनकी कार्रवाई और कर्तव्यपालन के संबंध में कुछ परामर्श देना हो, तो उसे लिखकर उनके पास भेजना।

(२) किसी ऐसी कार्रवाई का रोकना जो पब्लिक की भलाई के खिलाफ़ हो: जैसे वे काम जिनसे जनता के स्वास्थ्य, जान-माल, और अमनचैन पर बाधा पड़ने की आशंका हो।

(३) म्युनिसिपल्टियों से संबंध रखने वाले सारे पत्र-व्यवहार को प्रांतीय सरकार के पास भेजना।

(४) प्रत्येक म्युनिसिपल्टी बज़रिये कलक्टर के अपने वार्षिक आय-व्यय का ब्योरा कमिश्नर के पास भेजती है। कमिश्नर को अधिकार है कि वह म्युनिसिपिल्टियों की वार्षिक बचत की सीमा निर्धारित करे।

इन अधिकारों के अतिरिक्त, कमिश्नर उन सब अधिकारों पर भी अमल करते हैं, जो उनको प्रांतीय सरकारें प्रदान करें। उपर्युक्त अधिकारों का संबंध केवल बड़ी म्युनिसिपिल्टियों से है। छोटी म्युनिसिपिल्टियों के विषय में कमिश्नरों के अधिकार इनसे कहीं ज्यादा हैं।

कलक्टर के अधिकार—(१) जिले में स्थित म्युनिसिपिल्टियों के निरीक्षण के संबंध में, कलक्टर के वे ही अधिकार हैं जो कमिश्नर के।

(२) निर्धारित परिस्थिति के कारण कलक्टर किसी पास किये गये प्रस्ताव का अमल रोक सकते हैं, पर उनके ऑर्डर की अपील कमिश्नर से की जा सकती है।

(३) यदि बोर्ड अपने कर्तव्यों का पालन न करता हो तो असाधारण परिस्थितियों में कलक्टर बोर्ड के कर्तव्यों का पालन स्वयं कर सकते हैं।

(४) म्युनिसिपिल्टियों का कमिश्नर और प्रांतीय सरकार का पत्र-व्यवहार बज़रिये कलक्टर के होता है।

(५) जिन म्युनिसिपिल्टियों की आबादी ५०,००० से कम है उनके शासन की रिपोर्ट का पर्यालोचन करना, और अपने पर्यालोचन की सूचना कमिश्नर को देना।

कमिश्नरों और कलक्टरों के अतिरिक्त प्रांतीय सरकारें बज़रिये स्थानीय स्वराज्य के मंत्री के, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का निरीक्षण करती हैं। वे किसी प्रदेश को म्युनिसिपिल्टी घोषित कर सकती हैं, किसी म्युनिसिपिल्टी को शहर घोषित कर सकती हैं, और इन संस्थाओं के अधिकार-क्षेत्र और सीमा में परिवर्तन कर सकती हैं। ठीक काम न होने पर वे म्युनिसिपिल्टियों को तोड़ सकती हैं और उनके शासन का उचित प्रबंध कर सकती हैं। म्युनिसिपिल्टियों के आवश्यक कार्यों का खर्च प्रांतीय सरकार के निरीक्षण में होता है। प्रांतीय सरकारें म्युनिसिपिल्टियों से किसी रिपोर्ट को माँग सकती हैं, और उन्हें किसी काम के करने का आदेश दे सकती हैं। कुछ म्युनिसिपल पदाधिकारियों की योग्यताएं प्रांतीय सरकारों द्वारा निर्धारित की गयी हैं, और कुछ पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए उनकी अनुमति आवश्यक होती है। प्रांतीय सरकारें म्युनिसि-

पिल्टियों के ऋण लेने के अधिकार को नियंत्रित करती हैं, और उनकी आर्थिक अवस्था की देख रेख करती हैं।

प्रांतीय सरकारों के उपर्युक्त निरीक्षण के अतिरिक्त, म्युनिसिपिल्टियों की कार्रवाई पर न्यायालयों का भी अधिकार है। प्रत्येक म्युनिसिपिल्टी एक कॉरपोरेशन होती है, और न्यायालयों के सम्मुख कॉरपोरेशनों की वही स्थिति है जो किसी व्यक्ति की है। यदि म्युनिसिपिल्टियां अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करतीं, यदि वे कोई काम एक्ट के विरुद्ध करती हैं, या किसी काम के करने में अपनी निर्धारित सीमा का उल्लंघन करती हैं, तो न्यायालयों को अधिकार है कि आवश्यक रिपोर्ट आने पर, वे उनके कामों की जांच करें, और नियम-विरुद्ध कामों को ग़ैर-क़ानूनी घोषित करें। न्यायालयों के इस अधिकार के संबंध में, अभी तक उचित मात्रा में कार्रवाई नहीं हो रही है।

प्रांतीय सरकारों के निरीक्षण की उपर्युक्त व्यवस्था के होते हुए भी स्थानीय शासन की अवस्था संतोषप्रद नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि स्थानीय शासन की असफलता का एक मुख्य कारण कमिश्नरों और कलक्टरों का अनावश्यक हस्तक्षेप है। शायद इस कथन में सत्य का कुछ अंश हो। मौजूदा अधिकारों का उपयोग करके कमिश्नर और कलक्टर म्युनिसिपिल्टियों के कामों में अड़चनें पैदा कर सकते हैं, पर उनके मार्ग सरल बनाने में सहायता बहुत कम करते हैं। आवश्यकता इस बात की है, कि स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का नियमानुकूल निरीक्षण हुआ करे, और उन्हें अपने कर्तव्यों के पालन करने में अधिक से अधिक स्वतंत्रता प्राप्त हो। प्रांतीय सरकारों और म्युनिसिपिल्टियों के मौजूदा संबंध में ऐसा होना असंभव है।

संगठन-सुधार की कुछ आवश्यक बातें—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के संगठन के ऊपर दिये गये विवरण से यह समझना कठिन नहीं, कि उनका संगठन संतोषप्रद नहीं है और अनेक दिशाओं में सुधारों की आवश्यकता है। इन सुधारों में से निम्नलिखित सुधार विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) निर्वाचक और निर्वाचन का ढंग—आजकल स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के निर्वाचकों की संख्या प्रांतीय असेंबली के निर्वाचकों की

संख्या से कम है। अतएव निर्वाचकों की संख्या का बढ़ाना ज़रूरी है। स्थानीय स्वराज्य से लोकतंत्र की व्यावहारिक शिक्षा तभी मिल सकती है जब प्रत्येक स्त्री और पुरुष को, जो बालिग़ हैं, और जो निर्धारित काल तक म्युनिसिपल सीमा के अंदर रहा है, वोट देने का अधिकार मिल जाय। अतएव मताधिकार प्रत्येक बालिग़ स्त्री और पुरुष को, यदि उसका दिमाग़ ठीक हो, मिलना चाहिये। साथ ही सांप्रदायिक निर्वाचन का मिटाना भी आवश्यक प्रतीत होता है। स्थानीय संस्थाओं में, जिनके प्रायः सभी काम प्रत्येक आदमी की भलाई के लिए किये जाते हैं, सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली का अस्तित्व सिद्धांत में दोषयुक्त और व्यवहार में हानिकर है। सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यों और उद्योग-धंधों के विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लोकतंत्र के काल में अनुपयुक्त सी प्रतीत होती है।

(ब) सदस्य और उनका चुनाव—स्थानीय स्वराज्य की सफलता के लिए निर्वाचकों के अतिरिक्त योग्य सदस्यों का होना आवश्यक है। कहा जाता है कि मौजूदा हालत में म्युनिसिपिल्टियों और ज़िला बोर्डों के कुछ सदस्य अनैतिक ढंग से काम करने में नहीं हिचकिचाते। सदस्यों और बोर्डों को उपयुक्त बनाने के लिए कुछ लोगों का कहना है कि सदस्यों की अवस्था कम से कम ३० बरस की होनी चाहिये, और उनको सदस्य बनने के समय, प्रांतीय और केंद्रीय लेजिस्लेचरों के सदस्यों की भांति नैतिक ढंग से काम करने की शपथ खानी चाहिये। कुछ लोगों का ख्याल है कि चूंकि बोर्ड के सारे सदस्य, एक ही दिन उसके भंग होने पर, अपने पद से अलग हो जाते हैं, इस लिए बोर्ड की नीति बदलती रहती है, और उसके कामों में किसी प्रकार का तारतम्य नहीं रह जाता। अतएव वे चाहते हैं कि सारा बोर्ड एक ही समय भंग न किया जाय, बल्कि उसके एक तिहाई सदस्यों का चुनाव प्रतिवर्ष हुआ करे।

उपर्युक्त सुधार-योजनाओं में से कुछ तो उपयुक्त प्रतीत होती हैं और कुछ अनुपयुक्त। शपथ लेने से किसी की हानि नहीं हो सकती, किंतु यह आशा निर्मूल सी प्रतीत होती है, कि शपथ ही के कारण अनैतिक ढंग से काम करने वाले लोग, नैतिक ढंग से काम करने लगेंगे। ३० बरस या इससे अधिक अवस्था के होने और बोर्ड के कुछ सदस्यों के प्रतिवर्ष चुने जाने के कारण, इस बात की आशंका है कि बोर्ड में अनुदार

और अपरिवर्तनवादी सदस्यों का आधिक्य हो जाय। वोर्ड के ठीक ढंग से कार्य-संपादन के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि निर्वाचक लोग जागृत अवस्था में रहें, और वे सदस्य जो अनैतिक ढंग से काम करें, दंडनीय समझे जायँ। जब तक लोकमत अनैतिक ढंग से काम करने वालों का विरोध न करेगा, और ऐसे लोगों को भया वह दंड न मिलेगा, तब तक वोर्ड के सदस्यों के अनैतिक कामों का रोकना एक प्रकार से असंभव सा प्रतीत होता है।

(स) चेयरमैन—स्थानीय स्वराज्य की सफलता वहुत कुछ उसके चेयरमैन पर निर्भर होती है। इस पदाधिकारी का अपने अधिकार-क्षेत्र में आदर तो होता है, परंतु उसे अपने कामों में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। समय समय पर अविश्वास के प्रस्ताव उसके प्रतिकूल पेश होते हैं जिनके कारण सभापति और मेंबर दोनों को परेशानी होती है और वोर्ड का वहुमूल्य समय व्यर्थ नष्ट होता है। इस पदाधिकारी की स्थिति सुधारने के लिए कुछ लोगों का कहना है कि वह प्रतिवर्ष जनता द्वारा चुना जाया करे और इस काल में अविश्वास का प्रस्ताव न पेश किया जा सके। कुछ लोग चाहते हैं कि सभापति में काम करने की क्षमता होनी चाहिये और उसकी अवस्था कम से कम ४० वरस की होनी चाहिये। कुछ लोगों का ख्याल है कि सभापति के अधि-कारों को घटाने से वहुत से झगड़े, अपने आप ही निवट जायँगे। कुछ लोगों का विचार है कि यदि सभापति का चुनाव ३/४ सदस्यों द्वारा एक वरस के लिए किया जाय तो वहुत सी मतभेद की वातें स्वयं दूर हो जायँगी। कुछ लोगों का कहना है कि अविश्वास के प्रस्ताव के पास होने ही से सभापति को अपना पद न छोड़ना चाहिये। उसे अपने पद से तभी अलग होना चाहिये जब वोर्ड के ३/४ सदस्यों की प्रार्थना पर प्रांतीय सरकार उसे अपने पद से हटावे।

सभापति से संबंध रखने वाली उपर्युक्त वातों से ही यह विदित हो जाता है कि इस पदाधिकारी का स्थान कितने महत्व का है। अतएव इसकी स्थिति का सुधारना उतना ही आवश्यक है जितना स्वयं वोर्ड की स्थिति का सुधारना। इसमें संदेह नहीं कि सभापति का मौजूदा स्थान संतोषप्रद नहीं है और जब तक इसमें उपर्युक्त परिवर्तन न किये जायंगे उनका

स्थान संतोपप्रद न हो सकेगा। सभापति को योग्य पुरुष होना चाहिये। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसे म्युनिसिपिल्टी या ज़िला बोर्ड के कामों का कुछ अनुभव हो। अतएव सभापति चुने जाने के पूर्व उम्मेदवारों को कम से कम तीन बरस का, म्युनिसिपिल्टी या ज़िला बोर्ड के कामों का अनुभव, सदस्य या सभापति की हैसियत से होना चाहिये। सभापति का जनता द्वारा चुना जाना वर्तमान परिस्थिति में उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। परंतु उसमें विश्वास होने की दृष्टि से, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उसका चुनाव बोर्ड के ⅔ सदस्यों द्वारा एक ही बरस के लिए हुआ करे, और इस कार्यकाल में अविश्वास का प्रस्ताव न पेश किया जा सके। एक कार्यकाल के समाप्त होने पर, उसी व्यक्ति को दूसरे कार्यकाल के लिए भी सभापति चुने जाने का अधिकार होना चाहिये। इस परिवर्तन के कारण अविश्वास के प्रस्तावों से संबंध रखने वाले बहुत से झगड़े स्वयं मिट जायँगे और बोर्ड के सदस्य और चेयरमैन, फिजूल की दस्तंदाजी में समय न गँवाकर, उसे जनता की भलाई में व्यतीत करेंगे।

(द) स्थानीय स्वराज्य के कर्मचारी—स्थानीय स्वराज्य की सफलता बहुत कुछ उसके पदाधिकारियों और कर्मचारियों पर भी निर्भर होती है। भारतवर्ष में इनकी स्थिति भी संतोषप्रद नहीं है। म्युनिसिपिल्टियों और ज़िला बोर्डों के ऊंची श्रेणी वाले पदाधिकारी भी सदस्यों को ख़ुश करने की कोशिश में लगे रहते हैं। नीची श्रेणी वाले कर्मचारियों का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। म्युनिसिपल कर्मचारी मेंबरों की गुटबंदी में शरीक होते हैं और इस प्रकार अपनी स्थिति बिगाड़ते हैं। बहुत से कर्मचारी घूस लेने लगते हैं, और जनता के सच्चे सेवक न होकर उसको सताने लगते हैं। इस स्थिति को सुधारने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक प्रतीत होती हैं—

(१) म्युनिसिपल और ज़िला बोर्ड केवल नीति को ही निर्धारित करें, और शासन से उनका विशेष संबंध न रहे। इस परिवर्तन के करने से, म्युनिसिपल और ज़िला बोर्डों के कर्मचारी अपने काम में संलग्न रहेंगे, और मेंबरों की ख़ुशामद और गुटबंदी से उनका विशेष संबंध न रहेगा।

(२) म्युनिसिपल और ज़िला बोर्डों के कर्मचारियों का कार्य-काल निर्धारित कर दिया जाय, और उनका वेतन, भत्ता, तरक्क़ी आदि

नियमानुकूल हो। इस परिवर्तन के कारण म्युनिसिपल और ज़िला बोर्डों के कर्मचारी निर्भीक होकर अपने कामों को करेंगे, और उन्हें किसी की खुशी या नाखुशी की पर्वाह न रहेगी।

(३) अधिकांश म्युनिसिपल और ज़िला बोर्डों के कर्मचारियों की भर्ती प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर की जाय। इस परिवर्तन के कारण स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं को एक तो योग्य कर्मचारी मिलेंगे और दूसरे मेंबरों का उनकी नियुक्ति में विशेष हाथ न रहेगा।

(४) म्युनिसिपल और ज़िला बोर्डों के उच्च पदाधिकारी, एक संस्था से दूसरी संस्था को बदले जा सकें। इस परिवर्तन के कारण इन पदाधिकारियों की नौकरी बनी रहेगी, बोर्ड से अनचाहा आदमी निकल जायगा, और प्रांतीय सरकार का काम भी, अपीलों के न होने के कारण, कुछ कम हो जायगा।

(५) यदि म्युनिसिपल कर्मचारी कर्तव्य-पालन से मुंह मोड़ें, या अनैतिक ढंग से काम करें, तो उनको तत्संबंधी नियमानुकूल दंड मिले। ऐसे अपराधों के कारण निकाले गये कर्मचारी, अन्य स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं की नौकरी से निर्धारित काल के लिए वंचित कर दिये जायँ।

(य) प्रांतीय सरकार का निरीक्षण—स्थानीय स्वराज्य की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रांतीय सरकारें उनके कामों का वास्तविक निरीक्षण करें, और उनको अनावश्यक हस्तक्षेप से मुक्त रखें। प्रांतीय सरकार के निरीक्षण की मौजूदा परिस्थिति संतोषप्रद नहीं है। अधिकांश कमिश्नर म्युनिसिपल शासन की देखरेख में दिलचस्पी नहीं लेते। उनके दफ़्तर का एक कर्मचारी ही म्युनिसिपल रिपोर्टों का पर्यालोचन किया करता है, और साधारणतया उसी पर्यालोचन पर कमिश्नर के हस्ताक्षर हो जाते हैं। कभी कभी बजरिये कमिश्नर के पत्र-व्यवहार होने में आवश्यकता से अधिक विलंब होता है। अपनी रिपोर्टों में कमिश्नर म्युनिसिपल सभापतियों को आवश्यक परामर्श नहीं देते, और पब्लिक को भी बोर्डों की कमज़ोरियों का पता नहीं चलता जिनकी वजह से म्युनिसिपल शासन उतना उन्नतिशील नहीं है जितना उसको होना चाहिये। इस परिस्थिति का अंत करने के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय शासन की देखरेख करने के लिए कुछ निरीक्षक (इंस्पेक्टर्स)

नियुक्त किये जायँ। वे म्युनिसिपिल्टियों और ज़िला बोर्डों के शासन का निरीक्षण करें, और उन्हें शासन-संबंधी आवश्यक परामर्श दें। इंसपेक्टरों को कमिश्नरों के कुछ अधिकार मिलना चाहिये। ऐसा करने में किसी विशेष कठिनाई की संभावना नहीं है, क्योंकि मितव्ययता के लिए बहुत दिनों से कमिश्नरों के पद के तोड़ने की बातचीत हो रही है। असाधारण परिस्थितियों में म्युनिसिपल और ज़िला बोर्डों के शासन में कलक्टर के वे ही अधिकार हों जो आजकल कमिश्नर के हैं। स्थानीय स्वराज्य के मंत्री की सहायता के लिए एक स्थानीय स्वराज्य समिति स्थापित की जाय। स्थानीय स्वराज्य का मंत्री इसका सभापति हो। समिति के कुछ सदस्यों को स्थानीय स्वराज्य का मंत्री मनोनीत करे, और कुछ निर्धारित दर्जे की म्युनिसिपिल्टियों और जिला बोर्डों के सभापतियों द्वारा चुने जायँ। यह बोर्ड स्थानीय स्वराज्य के निरीक्षण के सिद्धांतों को निर्धारित करे, बोर्डों को परामर्श आदि देकर सहायता करे, और आवश्यकता पड़ने पर म्युनिसिपल नौकरों को एक स्थान से दूसरे स्थान को बदल सके। आशा है कि प्रांतीय निरीक्षण की उपर्युक्त व्यवस्था के कारण स्थानीय स्वराज्य का वास्तविक निरीक्षण होगा और वह अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त हो जायगा।
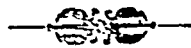
सत्रहवां परिच्छेद

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के काम और उनकी आर्थिक स्थिति

प्राक्कथन—स्थानीय संस्थाओं के काम—सार्वजनिक स्वास्थ्य के काम—वे काम जो बीमारियों को आने से रोकें; वे काम जो बीमारियों को अच्छा करें; स्वास्थ्य-संबंधी बातों का प्रचार—स्वास्थ्य संबधी कामों में सुधार—सार्वजनिक सुभीते के काम—सार्वजनिक सुभीते के कामों में सुधार—सार्वजनिक रक्षा के काम—सार्वजनिक रक्षा के कामों में सुधार—सार्वजनिक शिक्षा के काम—सार्वजनिक शिक्षा के कामों में सुधार—स्थानीय कामों से संबंध रखने वाली कुछ आवश्यक बातें—स्थानीय बोर्डों का कार्य-क्षेत्र बढ़ाना; मौजूदा कार्य-क्षेत्र में सावधानी की आवश्यकता; प्रांतीय और केंद्रीय सरकारों की सहायता; स्थानीय कामों में अधिक से अधिक आज़ादी, पर कड़ा निरीक्षण; स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक सहायता—म्युनिसिपल—राजस्व की कुछ विशेषताएं—परिमित साधन; परिमित अधिकार; निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति; स्थानीय खर्च; स्थानीय खर्च की उत्तरोत्तर वृद्धि; आमदनी के साधन—म्युनिसिपल खर्च—म्युनिसिपल खर्च की समालोचना—स्थानीय संस्थाओं की आमदनी—म्युनिसिपल आमदनी की कुछ आवश्यक बातें—उपसंहार।

प्राक्कथन—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित की जाती हैं। इन उद्देश्यों को हम पंद्रहवें परिच्छेद में लिख चुके हैं। केंद्रीय सरकार के काम को घटाने और जनता को व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा देने के अतिरिक्त, स्थानीय स्वराज्य की स्थापना, नागरिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए की जाती है। स्थानीय संस्थाएं, स्थानीय परिस्थिति से भली भांति परिचित होती हैं। उन्हें स्थानीय आवश्यकताओं का यथार्थ ज्ञान होता है और वे उन आवश्यकताओं को, दूसरी संस्थाओं की अपेक्षा, कम मूल्य में अधिक संतोषपूर्वक पूरा कर सकती हैं।

युरुप और अमरीका में स्थानीय स्वराज्य का कार्यक्षेत्र भारतवर्ष की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। वह उन सब कामों को करता है जिनके कारण

उसके अधिकार-क्षेत्र में रहनेवाले लोगों का जीवन अधिक से अधिक सुखमय बन जाय। उसके कुछ काम शहर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, और कुछ इस लिए कि बहुत दिनों से अनेक शहर उन कामों को करते आये हैं[1]। भारतीय स्थानीय संस्थाओं की परिस्थिति इससे कुछ भिन्न है। मौजूदा रूप में यहां का स्थानीय स्वराज्य लगभग ८० वरस पुराना है। अतएव यहां की स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के कामों में वह ऐतिहासिक तारतम्य और परंपरा नहीं जो इंगलैंड और जर्मनी में पायी जाती है। भारतीय स्थानीय स्वराज्य का कार्य-क्षेत्र संकुचित और नियमबद्ध है। उसका बढ़ाना आसानी से संभव नहीं। संकुचित कार्यक्षेत्र के कारण भारतीय स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं जनता की भलाई और सुख के लिए उन सब कामों को नहीं कर सकतीं, जो इंगलैंड, जर्मनी और अमरीका में नित्य-प्रति किये जाते हैं।

आर्थिक दृष्टि से स्थानीय संस्थाओं के काम दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। कुछ काम ऐसे होते हैं जिनसे या तो किसी तरह की आमदनी नहीं होती या जिन पर आमदनी की अपेक्षा ख़र्च अधिक होता है और कुछ काम ऐसे होते हैं जिनसे ख़र्च की अपेक्षा आमदनी अधिक होती है। अपने बहुत से काम स्थानीय संस्थाएं अपनी वार्षिक आमदनी से करती हैं। लेकिन कुछ काम ऐसे होते हैं जिनमें आरंभ में ख़र्च बहुत ज्यादा करना पड़ता है। ऐसे कामों को ये संस्थाएं ऋण लेकर करती हैं। ऋण लेने की निर्धारित शर्तें होती हैं और उनको पूरा करके ही ऋण लिया जा सकता है।

पिछले परिच्छेद में हमने जिन स्थानीय संस्थाओं का हाल लिखा है, उनमें से कुछ के कामों और आर्थिक स्थिति का विवरण वहीं पर दे दिया गया है। इस परिच्छेद में स्थानीय स्वराज्य की केवल बड़ी संस्थाओं, जैसे म्युनिसिपल बोर्ड, ज़िला बोर्ड, कॉरपोरेशन आदि के कामों और आर्थिक स्थिति का हाल लिखा जायगा। समस्त भारतवर्ष में ये काम प्रायः एक ही तरह के हैं और इन संस्थाओं के आर्थिक अधिकारों में भी विशेष अंतर नहीं है। लेकिन इस विषय में जो कुछ आगे लिखा जाता है, उसमें साधारणतया संयुक्त-प्रांत के ही उदाहरण दिये जायँगे।

---

(१) इस प्रकार के कामों के दो मुख्य उदाहरण हैं, पुलिस का काम, और ग़रीबों की देखभाल करने का काम।

स्थानीय संस्थाओं के काम—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं तरह तरह के काम करती हैं। उन सबका अलग अलग हाल लिखने के लिए बहुत ज्यादा जगह की ज़रूरत है। अतएव सुविधा के लिए हम उनका वर्णन निम्नलिखित चार समूहों में करेंगे—

(१) सार्वजनिक स्वास्थ्य के काम ;
(२) सार्वजनिक सुभीते के काम ;
(३) सार्वजनिक रक्षा के काम; और
(४) सार्वजनिक शिक्षा के काम।

स्थानीय संस्थाओं के कामों का यह सामूहिक वितरण सिद्धांत एवं व्यवहार में बिल्कुल दोषरहित नहीं है। इन संस्थाओं के कुछ काम ऐसे हैं जो एक से अधिक समूहों में शामिल किये जा सकते हैं। परंतु सुभीते के लिए उपर्युक्त सामूहिक वितरण बहुत ज्यादा अनुचित नहीं प्रतीत होता।

सार्वजनिक स्वास्थ्य के काम—युरोपीय देशों, अमरीका और जापान की अपेक्षा भारतवर्ष का सार्वजनिक स्वास्थ्य गिरा हुआ है। यहाँ के लोगों की औसत उम्र इंगलैंड और जर्मनी की केवल आधी है। पचास बरस की अवस्था में ही बहुत से भारतवासी निकम्मे और अकर्मण्य हो जाते हैं। उनकी कमर झुक जाती है, आंखों की ज्योति चली जाती है, और उनमें किसी काम के करने की इच्छा नहीं रह जाती। भारतीय नवयुवक जवानी में ही वृद्धों की सूरत धारण कर लेते हैं। आंखों की कमजोरी के वजह से कुछ छोटे छोटे बालकों तक को चश्मा लगाना पड़ता है। औरतों का स्वास्थ्य और भी ज्यादा असंतोष-प्रद है। भारतवर्ष की बहुत सी नौजवान स्त्रियां तपेदिक आदि बीमारियों के कारण अकाल ही मृत्यु के मुँह में चली जाती हैं। यद्यपि इंगलैंड और जापान की अपेक्षा यहाँ पर प्रतिशत पैदाइशें अधिक होती हैं, पर अधिक पैदाइशों के अनुपात की अपेक्षा अधिक मृत्युओं का अनुपात ज्यादा है। सन् १९३५ में भारतवर्ष की साधारण मृत्युएं इंगलैंड की दूनी और जापान की ड्योढ़ी थीं और बच्चों की मृत्युएं इंगलैंड की तिगुनी और जापान की ड्योढ़ी। निम्नलिखित तालिका से हमें सन १९३५ में भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों की प्रति सहस्र पैदाइशों और मृत्युओं का पता चलता है—

प्रांत	पैदाइश	मृत्यु
सीमा प्रांत	३१	१९
पंजाब	४३	२३
दिल्ली	४३	२९
संयुक्त-प्रांत	३४	२४
बिहार-उड़ीसा	३३	२४
बंगाल	३२	२२
मध्य-प्रांत	४३	३३
बंबई	३५	२४
मद्रास	३५	२४
आसाम	२९	२१
ब्रिटिश भारत	३४.९	२४

भारतवासियों के स्वास्थ्य ख़राब होने के अनेक कारण हैं। यहाँ का जलवायु उतना स्वास्थ्यवर्द्धक नहीं है जितना युरोपीय देशों का है। अधिक गर्मी के कारण लोगों की तंदुरुस्ती ठीक नहीं रह पाती। तिस पर ग़रीबी का भी कोप है। इसकी वजह से बहुत से लोग प्राकृतिक स्थिति के ग़ुलाम बने रहते हैं और प्रकृति की सख़्तियाँ ज़रा भी नहीं घटा पाते। कुछ लोग ग़रीबी के कारण बरसात में बिना छाते के भीगते हैं, जाड़े में बिना कंबल के ठिठुरते हैं, और गर्मी में बिना पंखे के पसीने से तर रहते हैं। लोगों में स्वास्थ्य-वर्द्धक आदतों का अभाव है। बहुत से लोग संसार को माया समझ कर, खाने पीने आदि की ओर से उदासीन रहते हैं। बहुत से लोग अपने शरीर और कपड़ों को तो साफ़ रखते हैं। पर उनका घर गंदा रहता है, और पब्लिक सफ़ाई का तो उन्हें ज़रा भी ध्यान नहीं रहता। अपने घर को साफ़ करके, दूसरे घरों के सामने उसका कूड़ा-कर्कट फेंकने में वे ज़रा भी नहीं हिचकिचाते। देश के बहुत से सामाजिक चलन भी स्वास्थ्य को बिगाड़ते हैं। कम उम्र में ब्याह करना, शिक्षा का अभाव होना, लड़कों और मज़दूरों से आवश्यकता से अधिक काम लेना आदि ऐसी बातें हैं, जिनसे भारतवासियों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। नाना प्रकार की बीमारियों ने भी भारतवर्ष में अपना घर बना लिया है। हैज़ा, प्लेग, चेचक, तरह तरह के ज्वर आदि सैकड़ों

मनुष्यों को अकाल मृत्यु के मुंह में फेंक देते हैं। इन सब कारणों से भारतवासियों का स्वास्थ्य, युरुप और अमरीका के मुक़ाबले में गिरा हुआ है।

सार्वजनिक स्वास्थ्य का सुधारना, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं, विशेष कर म्युनिसिपिल्टियों का, एक महत्वपूर्ण काम है। इसके लिए वे तीन प्रकार के काम करती हैं—

(१) वे काम जो बीमारियों को आने से रोकें।

(२) वे काम जो बीमारियों को अच्छा करें।

(३) वे काम जिनसे स्वास्थ्य संबंधी बातों का प्रचार हो।

वे काम जो बीमारियों को आने से रोकें—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं बहुत से ऐसे काम करती हैं जो बीमारियों को आने से रोकें। वे अपने अधिकार-क्षेत्र की सफ़ाई का प्रबंध करती हैं, और उसका कूड़ा-कर्कट किसी दूर स्थान को ले जाती हैं। वे पीने के लिए शुद्ध पानी का प्रबंध करती हैं। वे इस प्रकार के नाले और नालियां बनवाती हैं कि गंदा पानी किसी जगह एकत्रित न रहे, बरन् बह कर सड़क के नीचे बहने वाले नालों में चला जाय। वे गंदे स्थानों को साफ़ कराती हैं, और नागरिकों की हवा खोरी आदि के लिए पार्क और खेलने के मैदानों का प्रबंध करती हैं। लोगों को अच्छे मकान देने के लिए वे कहीं कहीं पर अपने मकान बनवाती और उनको किराये पर उठाती हैं। चेचक, प्लेग आदि बीमारियों को रोकने के लिए वे इनके टीकों का प्रबंध करती हैं, और इस बात की कोशिश करती हैं, कि लोगों के मकान हवादार हों और उनमें पर्याप्त प्रकाश और धूप पहुंच सके। वे नदियों को गंदगी से बचाती, और मुर्दों के जलाने और गाड़ने का प्रबंध करती हैं। वे खाने पीने की चीज़ों का निरीक्षण करती हैं, और उन लोगों को दंड देती हैं जो सड़ी गली वस्तुओं को बेच कर अपना भला करते हैं और दूसरों को हानि पहुंचाते हैं। इनके अतिरिक्त वे स्वास्थ्य संबंधी बहुत से क़ायदे बनाती हैं जिनके अनुसार काम करने से लोगों का स्वास्थ्य सुधर सकता है।

वे काम जो बीमारियों को अच्छा करें—इन कामों के अतिरिक्त स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं बहुत से ऐसे काम करती हैं, जो बीमार

लोगों की बीमारियों को दूर करें। वे स्वयं अपने अस्पताल खोलती और अन्य सार्वजनिक अस्पतालों को आर्थिक सहायता देती हैं। नव-जात शिशु और उसकी माता की देखभाल के लिए वे लेडी-डाक्टर और नर्सों का प्रबंध करती हैं। महामारी के दिनों में वे जगह जगह पर छोटे छोटे दवाखानों का प्रबंध करती हैं जिनमें लोगों को मुफ्त दवा दी जाती है और इस प्रकार महामारी का प्रकोप थोड़ा बहुत घटता है। शहरों की अपेक्षा देहाती स्थानीय संस्थाओं को इस काम में अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। देहात के कुछ निवासी इस हद तक पुरानी लकीर के फ़क़ीर होते हैं, कि चाहे वे मौत के मुंह में क्यों न चले जायं, पर डाक्टरी दवा खाने के लिए तैयार नहीं होते। बहुत से लोग तो अस्पताल तक जाने से मुंह मोड़ते हैं। परदे की वजह से शहरों और देहातों दोनों में, मर्दों की अपेक्षा औरतों का स्वास्थ्य अधिक गिरा हुआ होता है।

स्वास्थ्य संबंधी बातों का प्रचार—अपने अधिकार-क्षेत्र के निवासियों के स्वास्थ्य-सुधार के लिए स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं स्वास्थ्य संबंधी बातों का प्रचार करती हैं। वे स्वास्थ्य संबंधी उपदेशों का प्रबंध करती हैं, और चित्रपट के ज़रिये से लोगों को बीमारियों के कारण का सबक़ सिखाती हैं। लोगों को दंड देकर वे इस बात की कोशिश करती हैं, कि उनमें स्वास्थ्य और सफ़ाई की आदतें आ जायँ। वे लोग जो सड़कों पर गंदगी करते हैं, या ऐसे कामों को करते हैं जिनका पब्लिक के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ता है, दंडनीय समझे जाते हैं। इस प्रकार जनता को स्वास्थ्य संबंधी बातों की शिक्षा देकर, और यदि लोग उस शिक्षा के अनुसार न चलें, तो उनको दंड देकर, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधारने का प्रयत्न करती हैं।

स्वास्थ्य संबंधी बातों की देखभाल करने के लिए प्रत्येक बड़ी स्थानीय स्वराज्य की संस्था में एक हेल्थ ऑफ़ीसर (Health Officer) होता है। संयुक्त-प्रांत में, जब तक प्रांतीय सरकार की दूसरी आज्ञा न हो, प्रत्येक ऐसी म्युनिसिपिल्टी को, जिसकी आमदनी ५०,००० रुपये सालाना है, एक हेल्थ ऑफ़ीसर रखना पड़ता है। यह पदाधिकारी साधारणतया प्रांतीय सर्विस का सदस्य होता है, और उसकी नियुक्ति, वेतन, और नौकरी की शर्तों के लिए प्रांतीय सरकार की अनुमति

आवश्यक होती है। बोर्ड अपने हेल्थ ऑफ़ीसर को निकाल नहीं सकता, पर यदि वह स-कारण प्रांतीय सरकार से किसी हेल्थ ऑफ़ीसर के बदलने की प्रार्थना करता है तो साधारणतया उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली जाती है। हेल्थ ऑफ़ीसर की सहायता के लिए प्रत्येक बड़े शहर में कई सैनीटैरी इंसपेक्टर्स (Sanitary Inspectors), बहुत से जमादार और सैकड़ों अन्य कर्मचारी होते हैं।

स्वास्थ्य संबंधी कामों में सुधार—स्वास्थ्य संबंधी उपर्युक्त व्यवस्था के होते हुए भी इस देश के निवासियों का स्वास्थ्य साधारणतया ख़राब रहता है, और शहरों में यह ख़राबी कभी कभी विकराल रूप धारण करती है। स्वास्थ्य के सुधारने के लिए प्रथम आवश्यक बात यह है कि लोगों की ग़रीबी दूर की जाय। इस विषय में स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं अधिक सहायता पहुंचाने में असमर्थ हैं। फिर भी व्यापार करके वे नित्य-प्रति की बहुत सी आवश्यकताएं कम दामों में पूरी कर सकती हैं। सामाजिक कुप्रथाओं का मिटाना स्वास्थ्य-सुधार की दूसरी आवश्यक बात है। स्थानीय संस्थाएं प्रत्यक्ष रूप से इस विषय में कुछ भी नहीं कर सकतीं। इनके दूर करने में केंद्रीय और प्रांतीय सरकारें भी कुछ हिचकिचाहट के साथ काम करती हैं। शारदा एक्ट के बनने पर भी प्रतिवर्ष सहस्रों बाल-विवाह होते जाते हैं। पर परोक्ष रीति से, इनकी बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करके, वे इनके मिटाने में काफ़ी सहायता पहुंचा सकती हैं। स्वास्थ्य-सुधार की तीसरी आवश्यक बात स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा का प्रचार है। इस विषय में स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं कुछ काम करती तो हैं, पर समस्या की महत्ता को देखते हुए उनके काम पर्याप्त नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है, कि बच्चों, जवानों और बूढ़ों, मर्दों और औरतों सबको स्वास्थ्य की बातों से परिचित किया जाय। जब तक स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं निरंतर स्वास्थ्य संबंधी बातों का प्रचार न करेंगी, और नगर के शिक्षित लोग प्रचार-कार्य में इन संस्थाओं की सहायता न करेंगे, तब तक न तो प्रचार-कार्य का ही सदुपयोग होगा और न सार्वजनिक स्वास्थ्य ही सुधरेगा। स्वास्थ्य-सुधार की चौथी आवश्यक बात उन कामों का विस्तार बढ़ाना है जो बीमारियों को आने से रोकने

हैं। अभी तक सब शहरों में शुद्ध पानी तक का प्रबंध नहीं है। अनेक जगहों में पानी के नल नालियों के ऊपर से निकलते हैं। शहर की सफाई का समुचित प्रबंध नहीं होता। बहुत से शहर ऐसे हैं जहां घनी बस्तियों में खुली जगहों का अभाव है। सड़ी गली चीजें भी बिका करती हैं। म्युनिसिपल कर्मचारी घूस लेकर ऐसी चीजों को बाजारों में बिकने देते हैं। कभी कभी दूकानदार भी म्युनिसिपल कर्मचारी को आते देख कर सड़ी गली चीजों को छिपा देते हैं और निरीक्षण के लिए केवल ताजी और अच्छी चीजें दिखलाते हैं। बच्चों को प्रधान भोजन में ताजा और अच्छा दूध नहीं मिलता। इन कामों का विस्तार बढ़ाकर भारतवर्ष की स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं स्वास्थ्य-सुधार में बहुत कुछ सहायता पहुंचा सकती हैं। स्वास्थ्य-सुधार की पांचवीं आवश्यक बात उन कामों का विस्तार बढ़ाना है जो बीमारियों को अच्छा करने के लिए किये जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय शहरों में प्रति सहस्र मृत्युओं की संख्या क्रमशः घटती जाती है। पर यूरोपीय देशों, अमरीका और जापान को देखते हुए अभी तक स्थिति संतोषजनक नहीं है। म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों को अधिक अस्पतालों और औषधालयों का प्रबंध करना चाहिये और इस बात का ध्यान रखना चाहिये, कि उनमें चिकित्सा विधिपूर्वक और ध्यानपूर्वक की जाय। अक्सर सुना जाता है कि कुछ अस्पतालों के डाक्टर और वैद्य मरीजों का हाथ तक नहीं पकड़ते और अच्छी तरह रोगी का हाल सुनने के पूर्व ही नुस्खे को लिख देते हैं। प्राइवेट डाक्टर और वैद्य मरीजों का हाल अधिक हमदर्दी से सुनते हैं, परंतु उनकी फीस और औषधि का मूल्य इतना अधिक होता है कि गरीब जनता उससे फायदा नहीं उठा सकती। स्वास्थ्य-सुधार की छठी आवश्यक बात जनता द्वारा किये जाने वाले हानिकारक कामों का रोकना है। शहरों की सड़कों में छोटे छोटे लड़के अश्लील गाने गाते हुए पाये जाते हैं। उनमें से बहुत से सिगरेट पीते हैं, और कभी कभी चरस और गांजे की भी दम लगाते हैं। बहुत सी स्त्रियां अफीम खिलाकर, नवजात शिशुओं को सुला देती हैं और सब घर का कामकाज देखती हैं। बहुतेरी शिक्षित और सभ्य लोगों की स्त्रियां घर की सफाई नौकरों पर छोड़ कर स्वयं इधर उधर घूमती हैं, अपना समय नष्ट करती हैं। शायद यह कहना भी अनुचित न होगा,

कि गरीब देहातियों के मकान उनके मकानों की अपेक्षा अधिक साफ़ और सुव्यवस्थित रहते हैं और उनकी अपेक्षा वे अधिक स्वच्छ बर्तनों में भोजन खाते और पानी पीते हैं। बहुत से लोग शराब आदि मादक वस्तुओं का प्रयोग करके अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ देते हैं। स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं ऐसे हानिकारक कामों को रोक सकती हैं और उन अनैतिक कामों को भी जिनके कारण सार्वजनिक स्वास्थ्य के बिगड़ने की आशंका रहती है।

स्वास्थ्य-सुधार संबंधी ऊपर लिखी हुई बातों से यह स्पस्ट हो जाता है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य का सुधारना स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं की एक गुरुतर समस्या है। वे इस समस्या के हल करने की एक कोशिश कर रही हैं। परंतु उनका काम अभी तक संतोषप्रद नहीं है। इस विषय में उन्हें अपने कार्य-क्षेत्र को अधिक विस्तृत करना चाहिये। प्रांतीय और केंद्रीय सरकारों को भी, इन कामों में उनकी अवश्यक सहायता करना चाहिये। संकुचित अधिकारों की वजह से स्वास्थ्य-संबंधी अनेक ऐसे काम हैं जिनको स्थानीय संस्थाएं स्वयं नहीं कर सकतीं; पर प्रांतीय और केंद्रीय सरकारों की सहायता से कर सकती हैं। म्युनिसिपल सदस्यों, शिक्षित लोगों और जनता का सहयोग भी स्वास्थ्य-सुधार के लिए आवश्यक है। यदि केंद्रीय और प्रांतीय सरकारें, म्युनिसिपल संस्थाएं, म्युनिसिपल सदस्य और शिक्षित लोग मिल कर स्वास्थ्य-सुधार की कोशिश करें तो हमारे देश के निवासियों का स्वास्थ्य सुधर कर अन्य सभ्य देशों का सा हो सकता है।

सार्वजनिक सुभीते के काम—नागरिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए पाश्चात्य म्युनिसिपिल्टियाँ सैकड़ों सार्वजनिक सुभीते के काम करती हैं। भारतवर्ष में भी, स्थानीय स्वराज्य की कुछ संस्थाएं ऐसे कामों को करने लगी हैं, परंतु पाश्चात्य देशों और अमरीका के मुक़ाबले ये काम बहुत कम हैं। सार्वजनिक सुभीते के निम्नलिखित काम विशेषतया उल्लेखनीय हैं—

(अ) सड़कों का बनाना और उनकी रक्षा करना—सार्वजनिक सुभीते के लिए चौड़ी और अच्छी सड़कों का होना आवश्यक है। चौड़ी सड़कों के कारण मकान हवादार हो जाते हैं और उनमें

पर्याप्त रूप में पवन और प्रकाश पहुँचता है। भारतवर्ष के कुछ शहरों में चौड़ी सड़कें हैं और अच्छी अवस्था में रखी जाती हैं। परन्तु अधिकांश सड़कें पतली हैं, उनमें सैकड़ों गड्ढे होते हैं, और बरसात में कुछ सड़कें इस क़दर कीचड़ से ढक जाती हैं, कि आना जाना तक मुश्किल हो जाता है। पैदल यात्रियों के चलने के लिए कुछ सड़कों में किनारे किनारे पटरियाँ बनायी गयी हैं पर उनको यात्री लोग बहुत कम इस्तेमाल करते हैं। साधारणतया उनमें या तो खोंचे वाले बैठते हैं या दुकानदार लोग अपनी कुर्सियाँ और खाली पेटियाँ रखते हैं। बड़े शहरों को छोड़ कर सड़कों के सजाने का प्रयत्न बहुत कम किया जाता है। पार्कों का अभाव है। सड़कों में पेशाब-खानों की बहुत सख्त ज़रूरत है। उनकी अनुपस्थिति में निकट की कोई पतली गली पेशाबखाना बना ली जाती है। अधिकांश सड़कें ऐसे ढंग से बनायी जाती हैं कि एक बरस के अंदर ही उनमें मरम्मत की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है, और दो तीन बरसों में वे अगणित गड्ढों से भर जाती हैं। कुछ शहरों में अब ऐसफाल्ट और कोलतार की सड़कें बनायी जाने लगी हैं। सड़कों पर छायादार वृक्षों का अभाव है। कहीं कहीं पर सड़कों के नाम के साइन बोर्ड भी नहीं पाये जाते।

(च) सवारी का प्रबंध—सार्वजनिक सुविधा के लिए पाश्चात्य म्युनिसिपैलिटियाँ तरह तरह की सवारियों का प्रबंध करती हैं। शहरों का क्षेत्रफल इतना अधिक होता है, और उनके विभिन्न हिस्सों का संबंध इतना घनिष्ठ होता है कि सवारियों के बिना लोगों को बड़ी तकलीफ़ होती है। अतएव इंगलैंड, जर्मनी, अमरीका आदि में म्युनिसिपैलिटियाँ रेल, ट्रामकार और मोटरों का प्रबंध करती हैं। इनमें से अधिकांश सवारियों का सारा खर्च म्युनिसिपैलिटियाँ स्वयं बरदाश्त करती हैं। भारत-वर्ष में अभी तक सवारियों का ऐसा प्रबंध नहीं है। कुछ शहरों में ट्राम-कारों का प्रबंध ज़रूर है पर वे साधारणतया प्राइवेट कंपनियों की हैं, म्युनिसिपैलिटियों की नहीं। कहीं कहीं पर म्युनिसिपल बस-लाइन चलायी गयी है। कहा जाता है कि सवारियों के उपर्युक्त प्रबंध से म्युनिसिपैलिटियों को कुछ घाटा होता है। अतएव सवारियों का प्रबंध अधिकतर प्राइवेट लोगों के ही हाथ में है। म्युनिसिपैलिटियाँ इन

सवारियों को लाइसेंस देती हैं, इन पर नंबर डालती हैं, और वे अच्छी अवस्था में रहें, इस बात की भी देखभाल करती रहती हैं।

बाजार आदि का प्रबंध—सार्वजनिक सुविधा के लिए शहरों और देहातों में बाजारों आदि का होना बहुत जरूरी है। पाश्चात्य देशों में म्युनिसिपिल्टियों ने अपने बाजार स्थापित किये हैं। वे पास पड़ोस के गांवों से अपना सामान ला कर इनमें बेचती हैं, और इस प्रकार नागरिकों को ताजा सामान देती और स्वयं कुछ फ़ायदा उठाती हैं। कुछ म्युनिसिपिल्टियां सार्वजनिक इस्तेमाल के लिए टेलीफ़ून का प्रबंध करती हैं, और कुछ में जनता के मनबहलाव के लिए आमोद-प्रमोद के साधनों का प्रबंध रहता है। भारतवर्ष की स्थानीय संस्थाएं इन बातों में भी पाश्चात्य देशों से बहुत पीछे हैं। कुछ शहरों में म्युनिसिपिल्टियों ने अपने बाजार जरूर खोले हैं, पर ये बाजार पाश्चात्य बाजारों से भिन्न हैं। म्युनिसिपिल्टियां केवल टीन की छायी हुई एक इमारत खड़ी कर देती हैं, जिनमें दूकानदार लोग किराये पर जगह ले कर अपना सामान बेंचते हैं। अच्छा और ताजा सामान लेने और उसे बेंचने में म्युनिसि-पिल्टियों का कुछ भी हाथ नहीं होता। म्युनिसिपल टेलीफ़ून-सर्विस का भारतीय स्थानीय संस्थाओं में कहीं भी इंतजाम नहीं है। बहुत से शहरों में सार्वजनिक हालों का अभाव है। अतएव आमोद-प्रमोद के साधनों के प्रबंध की आशा करना व्यर्थ है।

पानी, बिजली, नालियों आदि का प्रबंध—सार्वजनिक सुविधा के लिए, पानी, बिजली, नालियों आदि की भी आवश्यकता होती है। पर्याप्त मात्रा में स्वच्छ पानी की आवश्यकता पर हम सार्वजनिक स्वास्थ्य के संबंध में कुछ लिख चुके हैं। पानी केवल स्वास्थ्य के लिए ही जरूरी नहीं है। यदि वह अशुद्ध और यथेष्ट मात्रा में नहीं मिलता तो लोगों को बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अच्छे से अच्छे मकानों को भी पानी की कमी के कारण, बहुत कम लोग किराये पर लेते हैं। यही हाल बिजली और गैस का भी है। इनके जरिये से सड़कों, सार्वजनिक इमारतों आदि में रोशनी का प्रबंध किया जाता है और प्राइवेट घरों में भी। ठीक नालियों और नालों से भी लोगों को नित्य-प्रति के जीवन में बड़ा सुभीता होता है। भारतवर्ष की स्थानीय संस्थाएं इन सब बातों का प्रबंध करती हैं, परंतु उनका प्रबंध अभी तक संतोषप्रद

नहीं है। संयुक्त-प्रांत में केवल १८ शहरों में पानी के कल का प्रबंध है। और ४३ शहरों में बिजली का। बड़े शहरों को छोड़ कर ज़मीन के अंदर के नालों का प्रबंध बहुत कम शहरों में किया गया है।

भिखमंगों और जानवरों का प्रबंध—भारतवर्ष में ग़रीबों की देख-भाल का अभी तक उपयुक्त प्रबंध नहीं है। अतएव बहुत से भिखमंगे सड़कों और गलियों में घूमा करते हैं। यात्रियों को कभी कभी इनसे भी असुविधा होती है। तीर्थ-स्थानों में इनकी संख्या इतनी अधिक है कि कभी कभी सड़क पर खड़े होकर बात करना भी असंभव हो जाता है। बहुत से शहरों में सांड़ निर्द्वंद होकर इधर उधर घूमा करते हैं, और कुछ में बंदरों की वजह से निवासियों को काफ़ी तकलीफ़ें होती हैं। कहीं कहीं पर कुत्तों की भरमार होती है। म्युनिसिपिल्टियां लोगों को इन जानवरों से बचाने का कुछ प्रबंध करती हैं। वे कुत्तों को पकड़वाती हैं, और बंदरों को पकड़वा कर दूर स्थानों को भेजने का प्रबंध करती हैं। पर उनका यह काम भी संतोषप्रद नहीं है। जानवरों के विषय में लोगों के धार्मिक चलन कभी कभी उनके कामों में अनावश्यक बाधा पहुँचाते हैं।

सार्वजनिक सुभीते के कामों में सुधार—सार्वजनिक सुविधा संबंधी उपर्युक्त कामों के विवरण से हमें यह ज्ञात होता है कि सार्वजनिक सुभीते के कामों में भी भारतीय स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं पाश्चात्य देशों और अमरीका से बहुत पीछे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उनका कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत किया जाय। उन्हें चौड़ी सड़कें अच्छे मसाले की बनवाना चाहिये, ताकि जनता को आने जाने में सुभीता हो, और ख़र्चा भी अधिक न हो। चौड़ी सड़कों में यात्रियों के पैदल चलने के लिए, पटरियों का प्रबंध होना चाहिये, और म्युनिसिपल संस्थाओं को इस बात की कोशिश करना चाहिये कि इन पटरियों का ठीक ठीक इस्तेमाल हो। यात्रियों के आराम के लिए कहीं कहीं पार्कों का होना जरूरी है। सायादार वृक्षों और पेशाबखानों का भी होना आवश्यक है। म्युनिसिपिल्टियों को सवारी का भी प्रबंध करना चाहिये। जिन शहरों में आज कल ट्राम-कार हैं, उनमें से ज़्यादातर ऐसे हैं जिनमें ट्राम-कार का मुनाफ़ा किसी प्राइवेट

कंपनी को मिलता है, म्युनिसिपिल्टी को नहीं। यदि ट्राम-कार, बिजली-घर, और वाटर-वर्क्स स्वयं म्युनिसिपिल्टियों के हो जायँ तो लोगों को सुभीता हो और म्युनिसिपिल्टियों की भी आमदनी किसी हद तक बढ़ जाय। म्युनिसिपल बाज़ारों में कुछ दूकानें म्युनिसिपिल्टियों की होनी चाहिये। इन दूकानों के ज़रिये से म्युनिसिपिल्टियाँ परोक्ष रीति से बाज़ार के भाव को तै कर सकती हैं, और लोगों के इस्तेमाल के लिए अच्छी चीज़ें मुहय्या कर सकती हैं। म्युनिसिपिल्टियों को ग़रीबों के भरण-पोषण और मालिकरहित जानवरों का भी प्रबंध करना चाहिये। व्यक्तिगत विवेकरहित दान की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि म्युनिसिपिल्टियों को, निर्धारित हैसियत के लोगों पर कर लगा कर ग़रीबों की देखभाल का अधिकार दिया जाय। भिखारी लोग यात्रियों को केवल परेशान ही नहीं करते, वे स्वयं बीमारियों के शिकार होते हैं और चारों ओर घूम कर उनका प्रचार करते हैं। संभव है कि इन सब कामों को करने के लिए म्युनिसिपिल्टियों के पास समुचित धन न हो। पर म्युनिसिपल व्यापार, प्रांतीय सहायता, और जनता की दानशीलता से किसी हद तक धन की कमी पूरी की जा सकती है, और इस प्रकार नागरिकों का जीवन अधिक सुखमय बनाया जा सकता है।

सार्वजनिक रक्षा के काम—नागरिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए, पाश्चात्य देशों और अमरीका की स्थानीय संस्थाएं, सार्वजनिक रक्षा के कामों का प्रबंध करती हैं। इंगलैंड और अमरीका में स्थानीय पुलिस की व्यवस्था है। भारतवर्ष की परिस्थिति इनसे भिन्न है। यहाँ की पुलिस पर स्थानीय संस्थाओं का लेशमात्र भी अधिकार नहीं है। स्थानीय संस्थाओं के नियमों को कार्यान्वित करने में पुलिस सहायता अवश्य करती है पर उसकी सहायता ऐसे दर्जे की नहीं होती कि म्युनिसि-पल नियम भली भांति कार्य रूप में परिणत किये जा सकें। प्रत्येक बड़े चौराहे पर खड़े होकर, पुलिसमैन आमदरफ्त का संचालन करते हैं, और उन लोगों का चालान करते हैं, जो रात में बिना रोशनी के चलते हैं, या जिनकी सवारियों का ठीक ठीक नंबर या लाइसेंस नहीं होता। प्रत्येक शहर में कुछ ऐसे मैजिस्ट्रेट होते हैं जो म्युनिसिपल मुकदमों का फ़ैसला करते हैं। सार्वजनिक रक्षा के लिए म्युनिसिपिल्टियां, कमज़ोर

और खतरनाक मकानों को गिराती हैं, सड़कों पर मलमा नहीं इकट्ठा होने देतीं और उन कामों और पेशों का नियंत्रण करती हैं, जिनका सार्वजनिक रक्षा पर कुप्रभाव पड़ता हो। यदि सड़क के किनारे कहीं पर गड्ढा होता है, या उस पर मलमा इकट्ठा होता है, तो सार्वजनिक रक्षा के लिए म्युनिसिपिल्टियाँ ऐसे स्थानों पर रात में लाल रोशनी का प्रबंध करती हैं। कहीं कहीं पर गड्ढों के चारों तरफ चहारदिवारी का प्रबंध किया जाता है। प्रत्येक बड़े शहर में आग बुझाने के इंजन का प्रबंध होता है। शहरों में बिजली, सिगरेट आदि के प्रयोग के कारण हमेशा आग लगने के साधन उपस्थित रहते हैं। सांप्रदायिक झगड़ों में जान बूझ कर मकानों में आग लगायी जाती है। ऐसे अवसरों पर आग बुझाने का इंजन, अग्नि के कोप को वश में करके, सार्वजनिक रक्षा करता है। रात में सड़कों की रोशनी की वजह से भी कुछ अंश में लोगों के जान और माल की रक्षा होती है।

सार्वजनिक रक्षा के कामों में सुधार—सार्वजनिक स्वास्थ्य और सुभीते के कामों की तरह, भारतीय स्थानीय संस्थाओं के सार्वजनिक रक्षा के काम भी संतोषप्रद नहीं हैं। उनको संतोषप्रद बनाने के लिए सबसे ज़रूरी बात यह है कि म्युनिसिपिल्टियों को कुछ पुलिस संबंधी अधिकार दिये जायँ। इसमें संदेह नहीं कि साधारणतया पुलिस का काम भारतीय दंड-विधान की धाराओं को कार्य-रूप में परिणत करके देश की शांति और सुव्यवस्था की रक्षा करना होता है। चूंकि समस्त देश का दंड-विधान एक ही है, इस लिए पुलिस पर केंद्रीय अथवा प्रांतीय अधिकार होने की दलील बिल्कुल निर्मूल नहीं है। पर पुलिस के अधिकांश काम स्थानीय होते हैं। अतएव स्थानीय अधिकार की दलील भी साररहित नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि पुलिस पर स्थानीय संस्थाओं का जोर हो और उसकी मौजूदा योग्यता भी क़ायम रहे। यह तभी हो सकता है जब पुलिस स्थानीय संस्थाओं के अधीन कर दी जाय, और उस पर केंद्रीय अथवा प्रांतीय सरकार का कड़ा निरीक्षण होता रहे। अमरीका के कुछ शहरों की पुलिस स्थानीय संस्थाओं के अधीन है और कुछ में राज्य के निरीक्षण में स्थानीय संस्थाएं

पुलिस का प्रबंध करती हैं। भारतवर्ष के लिए भी इसी प्रकार की पुलिस का प्रबंध सिद्धांत में बिल्कुल अनुचित नहीं प्रतीत होता। पुलिस के अतिरिक्त भारतीय स्थानीय संस्थाओं को सार्वजनिक रक्षा के कामों का विस्तार बढ़ाना चाहिये। आग बुझाने वाले इंजनों का प्रत्येक शहर में होना परमावश्यक है। भारतीय म्युनिसिपिल्टियाँ अभी तक उन लोगों की सहायता नहीं करतीं जो आकस्मिक कारणों से आर्थिक आपत्तियों के शिकार बन जाते हैं। पाश्चात्य देशों और अमरीका में म्युनिसिपल बीमें का प्रबंध है। भारतवर्ष में भी आकस्मिक आर्थिक आपत्तियों के कम करने का इसी प्रकार का कुछ प्रबंध होना चाहिये।

सार्वजनिक शिक्षा के काम—सर्व साधारण को शिक्षित बनाना स्थानीय संस्थाओं का एक आवश्यक कार्य है। भारतवर्ष में इस काम की भी अवस्था संतोषप्रद नहीं है। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, अमरीका और जापान में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो पढ़ लिख न सकता हो। भारतवर्ष में शिक्षित लोगों की संख्या बहुत कम है। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार संयुक्त-प्रांत में केवल ४·४ प्रतिशत् लोग पढ़े लिखे कहे जा सकते थे। सन् १९३५ में भारतवर्ष में समस्त जन-संख्या के केवल ५.०९ प्रतिशत् लोग शिक्षालयों में शिक्षा पाते थे। पुरुष-विद्यार्थियों की संख्या पुरुष-संख्या की ७.७२ प्रतिशत् थी और स्त्री-विद्यार्थियों की संख्या स्त्री-संख्या की केवल २.२९ प्रतिशत्। समस्त भारतवर्ष में केवल १६० शहरात् प्रदेशों में, ३,२०६ देहाती प्रदेशों में, और १०,३५५ गांवों में अनिवार्य शिक्षा का प्रबंध था। संयुक्त-प्रांत में स्कूल जाने वाली अवस्था के केवल ५०.३ प्रतिशत् लड़के, और स्कूल जाने वाली अवस्था की केवल १६·५ प्रतिशत् लड़कियां स्कूलों में पढ़ती थीं। इन आंकड़ों से यह साफ़ विदित हो जाता है कि भारतवर्ष में शिक्षा का कितना अभाव है।

भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार का उत्तरदायित्व प्रांतीय सरकार और स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं पर है। प्रांतीय सरकारों ने कुछ सरकारी स्कूल कॉलेज और विश्व-विद्यालय खोल रखे हैं, और कुछ प्राइवेट शिक्षालयों की वे आर्थिक सहायता करती हैं। स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं ने भी प्राइमरी और सेकंडरी शिक्षा के लिए अनेक शिक्षालय

खोले हैं। कुछ म्युनिसिपिल्टियों ने अंगरेज़ी की शिक्षा के लिए हाई स्कूल स्थापित किये हैं। सन् १९३५-३६ में लड़कों की शिक्षा के लिए संयुक्त-प्रांत में स्थानीय बोर्डों के अधीन ९४२ प्राइमरी स्कूल थे और उन पर ११,३९,००० रुपये ख़र्च हुए थे। स्थानीय बोर्ड ६३० प्राइमरी शिक्षालयों को आर्थिक सहायता के रूप में १,६२,६१६ रुपये देते थे। ३६ म्युनिसिपिल्टियों में अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा का प्रबंध था। लड़कियों की शिक्षा के लिए ४९५ स्कूल थे, और उन पर ५,०५,००० रुपये ख़र्च हुए थे।

प्राइमरी और सेकंडरी स्कूलों के अतिरिक्त, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं कई अन्य तरीक़ों से भी शिक्षा-प्रचार की सहायता करती हैं। कुछ म्युनिसिपिल्टियां पुस्तकालयों और अजायबघरों को स्थापित करती हैं, या इस प्रकार की प्राइवेट संस्थाओं की आर्थिक सहायता करती हैं। कहीं पर उद्योग-धंधों की शिक्षा का प्रबंध किया गया है, और कहीं पर गश्ती पुस्तकालयों का। कहीं कहीं पर पुरुषों और स्त्रियों की भी शिक्षा का प्रबंध है। कुछ म्युनिसिपिल्टियां हरिजनों की शिक्षा के लिए छात्रवृतियां देती हैं, और कुछ चित्रपट के ज़रिये से शिक्षा-प्रचार की कोशिश करती हैं।

सार्वजनिक शिक्षा के कामों में सुधार—शिक्षा की उपर्युक्त व्यवस्था के होते हुए भी सार्वजनिक शिक्षा की अवस्था सोचनीय है। आवश्यकता इस बात की है, कि स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत किया जाय। स्थानीय संस्थाओं को प्रत्येक स्त्री और पुरुष, बालक और बालिका को शिक्षित बनाने की कोशिश करना चाहिये। उन्हें उद्योग-धंधों के स्कूलों को स्थापित करके, विद्यार्थियों को इस योग्य बनाना चाहिये कि वे पढ़-लिख कर किसी काम में लग जायँ। उन्हें पुस्तकालयों और अजायबघरों को खोलकर जनता में विद्या-प्रचार का प्रयत्न करना चाहिये। उन्हें उच्च शिक्षा की भी आर्थिक सहायता करना चाहिये। इन सब कामों के लिए धन की आवश्यकता है। कुछ लोगों का ख़्याल है कि अपने कामों को अधिक विस्तृत करने के लिए म्युनिसिपिल्टियों के पास पर्याप्त धन नहीं है। उनका यह कथन बहुत कुछ ठीक है। किंतु प्रांतीय सहायता और धनी पुरुषों की दानशीलता की वजह से, धन की कमी बहुत

कुछ पूरी हो सकती है, और अवैतनिक कार्यकर्ताओं की सहायता से सार्वजनिक शिक्षा की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है।

स्थानीय कामों से संबंध रखने वाली कुछ आवश्यक बातें—स्थानीय बोर्डों के काम के विषय में निम्नलिखित आवश्यक बातें विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) स्थानीय बोर्डों के कार्य-क्षेत्र का बढ़ाना—स्थानीय स्वराज्य की सफलता के लिए प्रथम आवश्यक बात यह है कि स्थानीय बोर्डों का कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत किया जाय। इसमें संदेह नहीं कि आज कल प्रांतीय सरकारें बहुत कुछ जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में हैं। पर इस आधार पर स्थानीय स्वराज्य के अधिकारों को संकुचित रखना ठीक नहीं। सरकार चाहे किसी तरह की क्यों न हो, स्थानीय स्वराज्य की वास्तविक उपयोगिता के लिए यह आवश्यक है कि उसका कार्य-क्षेत्र बढ़ाया जाय, और उसे अपने कामों के करने में अधिक से अधिक आजादी हो। स्थानीय संस्थाओं को अपनी पुलिस रखने का अधिकार मिलना चाहिये। उन्हें ग़रीबों की देखभाल करने, म्युनिसिपल बीमा का प्रबंध करने, म्युनिसिपल व्यापार को बढ़ाने, आदि का अधिकार मिलना चाहिये। म्युनिसिपल संस्थाओं को इंप्रूवमेंट ट्रस्ट और पोर्ट ट्रस्ट के भी कुछ अधिकारों का मिलना ज़रूरी है। यदि इंप्रूवमेंट ट्रस्ट तोड़ दिये जायं और उनके अधिकार म्युनिसिपल संस्थाओं को दे दिये जायं, तो संभव है कि ख़र्च भी कम हो, और जनता को भी अधिक सुभीता हो।

(ब) मौजूदा कार्य-क्षेत्र में अधिक सावधानी की आवश्यकता—स्थानीय स्वराज्य की सफलता के लिए दूसरी आवश्यक बात यह है कि मौजूदा कार्य-क्षेत्र में स्थानीय संस्थाएं अधिक सावधानी से काम करें। इसमें संदेह नहीं कि म्युनिसिपल असावधानी के उत्तरदायित्व का भार बहुत कुछ उसके संकुचित अधिकारों पर डाला जा सकता है। पर इस बहाने, सारी असावधानी का कलंक, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं अपने ऊपर से नहीं हटा सकतीं। उनके कर्मचारियों को स्वार्थरहित होकर, निष्पक्ष भाव से काम करना चाहिये, और उनके सदस्यों को, जनता के हित को सर्वोच्च समझ कर नैतिक ढंग से

काम करना चाहिये। संकुचित अधिकारों के यथासंभव सफल प्रयोग से ही हम अधिक अधिकारों के अधिकारी बन सकते हैं। नैतिक ढंग से काम करके हम उच्च अधिकारियों, और जनता को यह दिखला सकते हैं, कि हम अधिक अधिकारों के योग्य हैं।

(स) प्रांतीय और केंद्रीय सरकारों की सहायता—स्थानीय स्वराज्य की सफलता के लिए तीसरी आवश्यक बात प्रांतीय और केंद्रीय सरकारों की आवश्यक सहायता है। ये सरकारें स्थानीय संस्थाओं की सहायता दो तरह से कर सकती हैं—(१) ऐसे नियमों को बना कर, जिनका स्थानीय संस्थाओं को अधिकार नहीं है, पर जिन पर उनकी सफलता कुछ अंश में निर्भर रहती है। देश में बहुत सी सामाजिक कुरीतियां मौजूद हैं। इनकी वजह से नागरिक जीवन सुखमय नहीं बन पाता। केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों को उनके दूर करने के नियम बनाना चाहिये और उनको यथासंभव सख्ती से कार्यरूप में परिणत करना चाहिये। यदि संभव हो, तो अनिवार्य शिक्षा की तरह, म्युनिसिपल संस्थाओं को इनके भी रोकने का अधिकार मिलना चाहिये। (२) म्युनिसिपल संस्थाओं से उन कामों को लेकर, जो वास्तव में उनके कहे जा सकते हैं, पर जिनको आजकल प्रांतीय सरकारें कर रही हैं। ग्राम-सुधार का सारा काम स्थानीय संस्थाओं को सौंपा जा सकता है। इसमें संदेह नहीं, कि गत् बरसों में उनका काम संतोषप्रद नहीं रहा है। पर प्रांतीय स्वराज्य के अंतर्गत्, जनता के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी सरकार के निरीक्षण में, यह असंभव नहीं कि वे अधिक सावधानी से काम करें, और अपने कामों में बहुत कुछ सफल हों।

स्थानीय कामों में अधिक से अधिक आज़ादी, पर कड़ा निरीक्षण—स्थानीय स्वराज्य की सफलता के लिए चौथी आवश्यक बात यह है कि स्थानीय संस्थाओं को अपने कामों में अधिक से अधिक आज़ादी हो, पर उनके कामों का कड़ा निरीक्षण होता रहे। भीतरी बातों में हस्तक्षेप होने से, प्रायः सभी प्रकार की संस्थाएं कुछ अंश में अपने को उत्तरदायित्व से मुक्त समझने लगती हैं। इस मनोवृत्ति का उनके कार्य-संचालन के ढंग पर काफ़ी प्रभाव पड़ता है। यदि काम की सारी ज़िम्मेदारी उन पर छोड़ दी जाय, और निर्धारित एवं आकस्मिक निरीक्षण का उन्हें भय

रहे, तो यह असंभव नहीं कि वे अपने कामों को अधिक सावधानी से करें. और स्थानीय स्वराज्य पहले की अपेक्षा अधिक सफल हो। यदि प्रांतीय सरकारें, हस्तक्षेप की पुरानी नीति का परित्याग करके, इस सिद्धांत के अनुसार काम करें तो यह आशा निर्मूल नहीं, कि स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं पहले की अपेक्षा अधिक सफल हो सकती हैं।

स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक सहायता—स्थानीय स्वराज्य की सफलता के लिए पांचवीं आवश्यक बात उनकी आर्थिक स्थिति का सुधारना है। इस विषय का विस्तारपूर्वक विचार आगे किया जायगा। यहां पर केवल इतना ही जान लेना चाहिये कि स्थानीय संस्थाओं की मितव्ययता, म्युनिसिपल व्यापार, अवैतनिक कार्य-कर्ताओं, और सर्वसाधारण की दानशीलता के कारण, इन संस्थाओं की आमदनी बढ़ सकती है। प्रांतीय सरकारों को भी यथाशक्ति उनकी सहायता करना चाहिये। प्रांतीय सहायता के बल पर म्युनिसिपिल्टियां नये नये कामों को करके, सर्वसाधारण के जीवन को सुखमय बनावेंगी और अपने काम में आजकल की अपेक्षा अधिक सफल होंगी।

म्युनिसिपल राजस्व की कुछ विशेषताएँ—अपने कामों के करने के लिए स्थानीय संस्थाओं को धन की आवश्यकता होती है। बिना धन के वे कुछ भी नहीं कर सकतीं। शायद यह कहना भी अनुचित न होगा कि अपने धन के अनुसार ही म्युनिसिपल संस्थाएं जनता की भलाई के काम कर सकती हैं। आवश्यक धन को ये संस्थाएं कई साधनों से एकत्रित करती हैं। उनका विचार आगे किया जायगा। यहां पर म्युनिसिपल आमदनी और ख़र्च की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है।

परिमित साधन—म्युनिसिपल आमदनी के साधन परिमित होते हैं। केंद्रीय सरकार की परिस्थिति इससे भिन्न होती है। वह किसी तरह का टैक्स लगा सकती है। म्युनिसिपिल्टियों और ज़िला बोर्डों को यह अधिकार नहीं होता। एक्ट के अंतर्गत् दी हुई मदों पर ही टैक्स लगाकर वे आवश्यक धन को एकत्रित करती हैं।

परिमित अधिकार—परिमित साधनों के साथ साथ म्युनिसिपल संस्थाओं के धन संबंधी अधिकार भी परिमित होते हैं। अपनी आर्थिक

नीति के लिए प्रयत्न तो वे जनता के प्रति उत्तरदायी होती हैं और फिर प्रांतीय सरकार के प्रति। आर्थिक बातों में शायद प्रांतीय सरकारों का हस्तक्षेप आवश्यकता से अधिक होता है। नये म्युनिसिपल टैक्सों के विषय में प्रांतीय सरकार की अनुमति आवश्यक होती है। बिना प्रांतीय सरकार की स्वीकृति के म्युनिसिपैलिटियां ऋण भी नहीं ले सकतीं।

निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति—म्युनिसिपल टैक्स निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वसूल किये जाते हैं। केंद्रीय टैक्सों का भी यही हाल है, परंतु कभी कभी केंद्रीय आमदनी से ऐसे खर्च किये जाते हैं जो आकस्मिक होते हैं और जिनसे सर्व-साधारण को लाभ नहीं पहुँचता। कभी कभी दो या अधिक देशों में लड़ाई छिड़ जाती है। ऐसे अवसरों पर लड़ाई का सारा खर्च केंद्रीय सरकार को बरदाश्त करना पड़ता है। लड़ाइयों से सर्वसाधारण को फायदा भी नहीं पहुंचता। म्युनिसिपल खर्च इस प्रकार का नहीं हो सकता। स्थानीय संस्थाओं का आकस्मिक खर्च भी सर्वसाधारण की भलाई के लिए किया जाता है। नागरिक जीवन को अधिक से अधिक सुखमय बनाना म्युनिसिपल खर्च का मुख्य उद्देश्य है।

स्थानीय खर्च—म्युनिसिपल संस्थाओं का सारा खर्च स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। किसी म्युनिसिपैलिटी या जिला बोर्ड को यह अधिकार नहीं होता कि वह अपनी आमदनी से दूसरे शहरों की उन्नति करे। केंद्रीय सरकार के खर्च में भी साधारणतया यही बात पायी जाती है। पर कभी कभी केंद्रीय सरकार की आमदनी से, विशेषकर जब कि देश पराधीन है, दूसरे देशों के लोगों को फायदा पहुँचता है। म्युनिसिपल संस्थाओं का खर्च इस प्रकार का नहीं हो सकता।

स्थानीय खर्च की उत्तरोत्तर वृद्धि—म्युनिसिपल संस्थाओं का खर्च उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। पाश्चात्य देशों में इस वृद्धि की दर भारतवर्ष की अपेक्षा कहीं ज्यादा है। सन् १८७० से सन् १९२२ तक के बावन बरसों में बंबई का खर्च लगभग दस गुना बढ़ गया था, कलकत्ते का लगभग छः गुना और मद्रास का लगभग ग्यारह गुना। अन्य स्थानीय संस्थाओं की भी यही व्यवस्था थी। गत बीस बरसों

में म्युनिसिपल ख़र्च और भी बढ़ा है। इस बढ़े हुए ख़र्च के कारण स्थानीय संस्थाओं के कामों की भी वृद्धि हुई है, पर ख़र्च के देखते हुए यह वृद्धि पर्याप्त नहीं है।

आमदनी के साधन—म्युनिसिपल आमदनी के कई साधन हैं। केंद्रीय सरकार की अधिकांश आमदनी टैक्सों से होती है। कहीं कहीं केंद्रीय सरकारें रेल, डाकखाने आदि का प्रबंध करती हैं, और उनसे उनको कुछ लाभ होता है। इस आमदनी के अपर्याप्त होने पर केंद्रीय सरकार ऋण लेकर अपनी आमदनी को पूरा करती है। स्थानीय संस्थाएं टैक्स, म्युनिसिपल व्यापार, ऋण आदि के अतिरिक्त प्रांतीय सहायता पर भी निर्भर होती हैं। म्युनिसिपल व्यापार से पाश्चात्य देशों, विशेषकर जर्मनी की म्युनिसिपिल्टियों, को अच्छी आमदनी होती है। भारतवर्ष की स्थानीय संस्थाओं को इस विषय में जर्मनी का अनु-करण करना चाहिये।

म्युनिसिपल ख़र्च—स्थानीय संस्थाओं का धन उन कामों के करने में ख़र्च होता है जिनका विस्तारपूर्वक विवरण हम ऊपर लिख चुके हैं। भारतवर्ष की स्थानीय संस्थाएं प्रतिवर्ष लगभग ३१ करोड़ रुपये ख़र्च करती हैं। सिर्फ़ म्युनिसिपिल्टियों का ख़र्च लगभग १८ करोड़ रुपये है। इस रक़म का १३ प्रतिशत् सर्वसाधारण के कामों में, १३ प्रतिशत् पानी के प्रबंध में, १८ प्रतिशत् स्वास्थ्य संबंधी बातों में, और ११ प्रतिशत् शिक्षा में ख़र्च होता है। सन् १९३५-३६ में संयुक्त-प्रांत में म्युनिसिपिल्टियों का ख़र्च इस प्रकार था—

सार्वजनिक स्वास्थ्य और सुभीता	९१,७७,५२० रुपये
सार्वजनिक शिक्षा	२४,४४,५६४ रुपये
सार्वजनिक रक्षा	१५,७८,१९९ रुपये
आम इंतज़ाम और जमा करने का ख़र्च आदि	२०,१४,३५१ रुपये
अन्य ख़र्च	१८,३१,२६८ रुपये
जमा	१,१५,००,१४१ रुपये

इसके अतिरिक्त म्युनिसिपिल्टियों ने लगभग ११,१९,००० रुपये नये कामों के करने, ऋण के चुकाने, पेशगी देने, और वार्षिक बचत में ख़र्च किये थे। विभिन्न मदों के ख़र्च का अनुपात इस प्रकार था—

आम इंतज़ाम और जमा करने का ख़र्च आदि	११·५१ प्रतिशत्
सड़क	७·९६ प्रतिशत्
रोशनी	८·६० प्रतिशत्
अस्पताल और दवाख़ाना	४·०३ प्रतिशत्
सार्वजनिक शिक्षा	१३·५८ प्रतिशत्
स्वास्थ्य संबंधी अन्य ख़र्च	१५·१६ प्रतिशत्

म्युनिसिपल ख़र्च की समालोचना—म्युनिसिपल ख़र्च संबंधी निम्नलिखित बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) आम इंतज़ाम और जमा करने का ख़र्च—इस मद में भारतवर्ष की म्युनिसिपिल्टियों का ख़र्च एक ही अनुपात में नहीं होता। संयुक्त-प्रांत की म्युनिसिपिल्टियां इस विषय में ११·५१ प्रतिशत् ख़र्च करती हैं। बंबई कॉरपोरेशन इस मद में लगभग ८ प्रतिशत् ख़र्च करता है और रंगून कॉरपोरेशन लगभग १२ प्रतिशत्। जर्मनी के नगर इस मद में लगभग १७ प्रतिशत् ख़र्च करते हैं,[१] और इंगलैंड के नगरों का ख़र्च इसी अनुपात के आस पास होता है। भारतीय म्युनिसिपिल्टियों का इस मद का इतना ज्यादा ख़र्च उच्च पदाधिकारियों के वेतन और भत्ते की वजह से होता है। यदि इन कर्मचारियों का वेतन घटाया जाय, और बची हुई रक़म से नीची तनख्वाह वाले कर्मचारियों का वेतन बढ़ाया जाय, तो संभव है कि म्युनिसिपल कर्मचारी अधिक योग्यता से काम करें, और ख़र्च में भी कुछ कमी हो। भारतवर्ष ऐसा ग़रीब देश, उच्च अधिकारियों को इतना अधिक वेतन नहीं दे सकता, जितना वे आजकल इस देश में पा रहे हैं।

(ब) सार्वजनिक स्वास्थ्य के काम—अपनी आमदनी का एक बहुत बड़ा हिस्सा भारतीय म्युनिसिपिल्टियां सार्वजनिक स्वास्थ्य और सुभीते के कामों में ख़र्च करती हैं। संयुक्त-प्रांत में इस मद का ख़र्च सारे ख़र्च का लगभग ५२ प्रतिशत् है। मद्रास कॉरपोरेशन इस विषय में लगभग ४० प्रतिशत् ख़र्च करता है, बंबई कॉरपोरेशन लगभग ३५ प्रतिशत् और

(१) जर्मनी और इंगलैंड में इस मद का ख़र्च इतना अधिक इस लिए होता है कि वहां के नगरों को अपनी अपनी पुलिस का प्रबंध करना पड़ता है।

रंगून कॉरपोरेशन लगभग ३० प्रतिशत् सार्वजनिक स्वास्थ्य और भलाई के कामों में जर्मनी की म्युनिसिपिल्टियां ४७.२ प्रतिशत् ख़र्च करती हैं। इतना अधिक खर्च होने पर भी भारतीय जन-संख्या का स्वास्थ्य संतोष-प्रद नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस खर्च में मितव्ययता की आवश्यकता है। कुछ दिन हुए बंबई कॉरपोरेशन के ख़र्च की जांच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त हुई थी और उसने लगभग ११,००,००० रुपये की बचत की सिफ़ारिश की थी। अन्य म्युनिसिपिल्टियों की अवस्था भी शायद इसी प्रकार की हो।

(स) सार्वजनिक शिक्षा—भारतीय म्युनिसिपिल्टियां अपनी आमदनी का बहुत कम हिस्सा सार्वजनिक शिक्षा में ख़र्च करती हैं। इस मद का खर्च विभिन्न प्रांतों में अलग अलग है। बंबई कॉरपोरेशन को छोड़ कर बंबई प्रांत में इस मद में २१ प्रतिशत् ख़र्च होता है, मध्य-प्रांत और बरार में १७ प्रतिशत् और संयुक्त-प्रांत में १३.५८ प्रतिशत्। बंबई कॉरपोरेशन इस मद में अपने सारे ख़र्च का लगभग ११ प्रतिशत् ख़र्च करता है। जर्मनी में इस मद का ख़र्च लगभग २७ प्रतिशत् है। अन्य युरोपीय देशों की भी यही व्यवस्था है। यही कारण है कि वहां की सारी जनता पढ़ी लिखी होती है और भारतवर्ष में पढ़े लिखे लोगों की संख्या इतनी कम है।

म्युनिसिपल ख़र्च संबंधी उपर्युक्त विवेचना से हमें यह ज्ञात होता है कि भारतीय म्युनिसिपिल्टियां कुछ कामों में फिज़ूल ख़र्ची करती हैं और कुछ कामों में कंजूसी। सार्वजनिक स्वास्थ्य और साधारण शासन संबंधी कामों में मितव्ययता की आवश्यकता है, और सार्वजनिक शिक्षा के कामों में अधिक ख़र्च की आवश्यकता। पर इतने हेर फेर से ही स्थानीय संस्थाओं के काम संतोषप्रद नहीं हो सकते। इसके लिए अधिक आमदनी की आवश्यकता है। ख़र्च में मितव्ययता करके, और आमदनी को बढ़ा कर ही भारतीय स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएं अपने कर्तव्यपालन में सफल हो सकती हैं।

स्थानीय संस्थाओं की आमदनी—भारतवर्ष में स्थानीय संस्थाओं की आमदनी के चार मुख्य साधन हैं—(१) म्युनिसिपल टैक्स और फ़ीस, (२) म्युनिसिपल व्यापार का मुनाफ़ा (३) सरकारी सहायता, (४) म्युनिसिपल ऋण।

म्युनिसिपल टैक्स और टोल—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं को अपने अधिकार-क्षेत्र में कई तरह के टैक्स लगाने का अधिकार दिया गया है। ये टैक्स दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष टैक्स जैसे मकान का टैक्स, पानी का टैक्स आदि और अप्रत्यक्ष टैक्स जैसे चुंगी आदि। संयुक्त-प्रांत में सन् १९३५–३६ में म्युनिसिपिलिटियों द्वारा लगाये गये टैक्सों और उनकी आमदनी का पता हमें नीचे दी गयी तालिका से चलता है—

टैक्स	लगाने वाली म्युनिसिपिलिटियों की संख्या	रुपयों में आमदनी
चुंगी	४५	३८, ६६, २४९
मकान और ज़मीन का टैक्स	३२	१६, ५८, ३३७
जानवर और सवारी का टैक्स	५८	३, १९, १५०
रोज़गार संबंधी टैक्स	४९	१, ७५, १५८
सड़क और नाव का टैक्स	२८	५, ७५, २७३
पानी का टैक्स	१३	१८, ६४, ००४
सफ़ाई आदि का टैक्स	१५	१, २५, २६९
हैसियत और मकान का टैक्स	१६	१, १८, ६२५
यात्रियों का टैक्स	७	२, ४२, ७२१
विविध टैक्स		३९,४८,२६९

उपर्युक्त तालिका से हमें यह विदित होता है, कि म्युनिसिपल टैक्सों की आमदनी का लगभग ½ चुंगी से वसूल किया जाता है। चूंकि यह टैक्स खाने पीने की चीज़ों पर भी लगता है इसलिए इसकी वजह से गरीबों को तकलीफ होती है। संयुक्त-प्रांत की म्युनिसिपिलिटियां प्रत्येक मनुष्य से ३ रु० ८ आना १ पाई टैक्स के रूप में वसूल करती हैं। पाश्चात्य देशों में यह औसत भारतवर्ष की अपेक्षा कहीं ज्यादा है, पर भारतवर्ष की औसत आमदनी को देखते हुए, यह औसत भी काफ़ी ज्यादा प्रतीत होता है।

म्युनिसिपल व्यापार का मुनाफ़ा—भारतीय स्थानीय संस्थाओं की आमदनी का दूसरा साधन म्युनिसिपल व्यापार का मुनाफ़ा है। पाश्चात्य

देशों, विशेष कर जर्मनी में, म्युनिसिपिल्टियों को व्यापार से काफ़ी फ़ायदा होता है। भारतवर्ष में अभी तक म्युनिसिपल व्यापार उन्नत अवस्था में नहीं है। कुछ म्युनिसिपिल्टियों ने अपने बाज़ार खोल रखे हैं और कुछ पानी का प्रबंध करती हैं। कहीं कहीं पर मज़दूरों के रहने के लिए मकान बनवाये गये हैं, और कुछ में म्युनिसिपल बस-सर्विस का प्रबंध है। इन छोटी मोटी बातों को छोड़कर म्युनिसिपल व्यापार का सारा क्षेत्र प्राइवेट कंपनियों और व्यक्तियों के हाथ में है। फलस्वरूप म्युनिसिपिल्टियों की आमदनी इस मद से उतनी नहीं होती जितनी अन्यथा हो सकती है। संयुक्त-प्रांत की म्युनिसिपिल्टियों की कुल आमदनी १,७५, ३६, २३५ रुपये है। इसमें से म्युनिसिपल व्यापार से केवल ४२, ४२, ८६०, रुपये मिलते हैं। भारतीय म्युनिसिपिल्टियां म्युनिसिपल व्यापार के ज़रिये अपनी आमदनी बहुत कुछ बढ़ा सकती हैं।

सरकारी सहायता—भारतीय स्थानीय संस्थाओं की आमदनी का तीसरा साधन सरकारी सहायता है। पाश्चात्य देशों में सरकारी सहायता से म्युनिसिपिल्टियों की अच्छी ख़ासी आमदनी होती है। जर्मनी में म्युनिसिपल आमदनी का लगभग २९·६ प्रतिशत् केंद्रीय सरकार से मिलता है। इसके अतिरिक्त उपांग राज्यों की स्थानीय सरकारें भी म्युनिसिपिल्टियों की आर्थिक सहायता करती हैं। इंगलैंड में म्युनिसिपल आमदनी का लगभग २० प्रतिशत् केंद्रीय सरकार से मिलता है। भारतवर्ष में सरकारी सहायता न तो पर्याप्त रूप से मिलती है और न वह किसी सिद्धांत के अनुसार दी जाती है। सन् १९३५-३६ में संयुक्त-प्रांत की म्युनिसिपिल्टियों को सरकारी सहायता के रूप में केवल ६,३३,७२६ रुपये मिले थे। सारी आमदनी के देखते हुए इस आमदनी का अनुपात ४ प्रतिशत् से भी कम है। कानपुर को अपनी आमदनी का लगभग २ प्रतिशत्, इलाहाबाद को लगभग ८ प्रतिशत्, बनारस को लगभग २·५ प्रतिशत् और लखनऊ को लगभग ५ प्रतिशत् सरकारी सहायता के रूप में मिलता है।

म्युनिसिपल ऋण—म्युनिसिपल आमदनी का चौथा साधन म्युनिसिपल ऋण है। भारतवर्ष की अधिकांश म्युनिसिपिल्टियां ऋण

के भार से दबी हुई हैं। कहीं कहीं पर तो यह ऋण पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भी ज्यादा है। ऋण साधारणतया ऐसे कामों के लिए लिया जाता है जिसे म्युनिसिपिल्टियां अपनी सालाना आमदनी से नहीं कर सकतीं। ऋण लेने के पूर्व निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति आवश्यक होती है—

(१) ऋण के लिए प्रांतीय सरकार के पास प्रार्थना-पत्र भेजना।

(२) प्रार्थना-पत्र में क़र्ज़ की रक़म, ज़मानत, सूद की दर, ऋण की मियाद आदि का उल्लेख होना चाहिये।

(३) प्रांतीय सरकार द्वारा प्रार्थना-पत्र की जांच। यदि वह नियमानुकूल होता है और ऋण की मियाद निर्धारित काल से अधिक नहीं होती, तो वह दरख़्वास्त मंज़ूर होती है। अन्यथा प्रांतीय सरकार उसे नामंज़ूर कर सकती है।

(४) प्रांतीय सरकार की मंज़ूरी के बिना स्थानीय संस्थाएं ऋण नहीं ले सकतीं। स्थानीय संस्थाओं का ऋण सरकारी होता है और ग़ैर-सरकारी भी।

सन् १९३५-३६ में संयुक्त-प्रांत की म्युनिसिपिल्टियों ने १४,३२,८६१ रुपयों का ऋण लिया था। यह ऋण सारी आमदनी का लगभग ७ प्रतिशत् था।

म्युनिसिपल आमदनी की कुछ आवश्यक बातें— म्युनिसिपल आमदनी की निम्नलिखित बातें विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) म्युनिसिपल टैक्सों में परिवर्तन की आवश्यकता—स्थानीय संस्थाओं के टैक्सों में परिवर्तन की बहुत कुछ गुंजाइश है। टैक्सों को साधारणतया उन लोगों पर लगाना चाहिये जो उन्हें दे सकें, और जिनसे आमदनी भी काफ़ी हो। प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा अप्रत्यक्ष कर अच्छे समझे जाते हैं। इन सिद्धांतों के विचार से चुंगी के विषय में यह ज़रूरी मालूम होता है कि वह ऐसी चीज़ों से उठा ली जाय, जिनको ग़रीब लोग इस्तेमाल करते हैं। अनाज, तरकारी, दूध, घी आदि की चुंगी व्यवहार में अनुचित और सिद्धांत में दोषयुक्त है। इनको शीघ्र ही उठा देना चाहिये। आमदनी की कमी की पूर्ति के लिए

शान-शौक़त की चीज़ों पर अधिक चुंगी लगना चाहिये। डाकखाने के सहयोग से चुंगी की आमदनी बढ़ सकती है। बहुत से व्यापारी फाउंटेन पेन, घड़ी आदि ज्यादा दाम की चीज़ों को बज़रिये डाक मँगवाते हैं। इन चीज़ों का दाम अधिक होता है, पर डाक महसूल कम पड़ता है, और डाक को वजह से वे चुंगी से भी बच जाती हैं। कुछ दूकानदार रेल के ज़रिये आने वाले माल को शहर के बाहर की दूकान के पते से मंगाते हैं और इस प्रकार चुंगी से बचा कर उसे शहर में बेंचते हैं। म्युनिसिपल कर्मचारियों की अधिक सतर्कता से यह ख़राबी रोकी जा सकती है और इस प्रकार म्युनिसिपल आमदनी बढ़ सकती है।

(ब) म्युनिसिपल व्यापार की वृद्धि—म्युनिसिपल आमदनी की वृद्धि के लिए म्युनिसिपल व्यापार की वृद्धि परमावश्यक है। भारतीय म्युनिसिपिल्टियों के सामने इस तरह का एक विस्तृत क्षेत्र है। वे अपने पावर-हाउस बनवा कर बिजली को बेच सकती हैं, मकानों को बनवा कर उन्हें किराये पर उठा सकती हैं, ट्राम-कार चला सकती हैं, दवाओं के बनाने के कारख़ाने खोल सकती हैं, और म्युनिसिपल बैंक और दूध की दूकानों आदि का प्रबंध कर सकती हैं। इन कामों से म्युनिसिपिल्टियों की आमदनी काफ़ी बढ़ सकती है। म्युनिसिपल व्यापार के विषय में स्थानीय संस्थाओं को हमेशा यह याद रखना चाहिये कि इस व्यापार का मुख्य उद्देश्य नागरिकों की सुविधा है, म्युनिसिपिल्टियों का मुनाफ़ा नहीं। परंतु बड़े पैमाने में करने की वजह से यह संभव नहीं, कि इन कामों से म्युनिसिपिल्टियों को कुछ मुनाफ़ा न हो।

(स) सरकारी सहायता—म्युनिसिपल आमदनी की वृद्धि के लिए सरकारी सहायता का बढ़ाना भी जरूरी है। अन्य देशों में सरकारी सहायता कितनी होती है इसके विषय में कुछ ऊपर लिखा जा चुका है। भारतवर्ष में भी ग़रीबों की देखभाल, शिक्षा का प्रचार और स्वास्थ्य की उन्नति, पर्याप्त सरकारी सहायता के बिना नहीं हो सकती। प्रांतीय सरकारों को चाहिये कि अन्य मदों का रुपया बचाकर वे इन आवश्यक कामों में स्थानीय संस्थाओं की आवश्यक सहायता करें।

ऋण लेने का अधिकार—म्युनिसिपिल्टियों को ऋण लेकर उन

कामों को करना चाहिये जिनसे कुछ लाभ की आशा हो। इस विषय में उनको अधिक स्वाधीनता मिलनी चाहिये।

दाम बढ़ने का टैक्स—म्युनिसिपल संस्थाएं कभी कभी ऐसे काम करती हैं, जिनकी वजह से कुछ लोगों की जायदाद का मूल्य उनके बिना मेहनत किये बढ़ जाता है। जायदाद का मूल्य बढ़ता तो म्युनिसिपल कामों से है परंतु उसका सारा मुनाफ़ा जायदाद के मालिकों को मिलता है। कहीं पर म्युनिसिपिल्टियाँ पार्क बनवाती हैं और कहीं पर गंदा नाला। कहीं पर वे पानी के कल का प्रबंध करती हैं, और कहीं पर बिजली का। कहीं पर वे नये बाज़ार बनवाती हैं। इन कामों की वजह से आस पास की जायदाद का मूल्य कभी कभी दूने, तिगुने से भी अधिक हो जाता है। म्युनिसिपल संस्थाओं को चाहिये कि ऐसी जायदादों पर अधिक टैक्स लगावें और इस प्रकार बढ़ी हुई क़ीमत का कुछ हिस्सा स्वयं ले। यही बर्ताव उन इमारतों के साथ भी होना चाहिये जो शहर के स्वास्थ्य-वर्द्धक भागों में स्थित हैं, पर जिनमें शायद ही कभी कोई रहता है। ऐसी इमारतों पर म्युनिसिपिल्टियों को इतना अधिक टैक्स लगाना चाहिये कि अंत में ये इमारतें या तो उचित किराये पर उठायी जायँ या बेंच दी जायँ। उपर्युक्त दोनों टैक्सों से म्युनिसिपल आमदनी कुछ हद तक बढ़ सकती है।

उपसंहार—पिछले तीन परिच्छेदों में हमने भारतवर्ष की स्थानीय संस्थाओं के संगठन, उनके काम और उनकी आर्थिक स्थिति का विवरण लिखा है। उनके पढ़ने से यह विदित होता है कि भारतवर्ष की स्थानीय संस्थाएं अन्य देशों की अपेक्षा बहुत पीछे हैं। उनकी उन्नति के लिए उनके अधिकारों की वृद्धि, संगठन में सुधार, और आमदनी की वृद्धि की सख्त जरूरत है। साथ ही स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचक और सदस्यों को नैतिक ढंग से काम करना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब सर्व साधारण में स्थानीय स्वराज्य के प्रति दिलचस्पी हो। जनता की समुचित जागृति और दिलचस्पी के बिना भारतवर्ष की स्थानीय संस्थाएं न तो सफल ही होंगी और न उनके उद्देश्य की पूर्ति होगी। प्रत्येक उत्तरदायी नागरिक का कर्तव्य है कि वह, सर्वसाधारण में स्थानीय स्वराज्य के प्रति उत्साह पैदा करके, उसके सफल बनाने में यथाशक्ति सहायता करे।

अठारहवाँ परिच्छेद

सन् १९३५ से १९३९ तक (१)

नये शासन-विधान का अमली रूप

प्राक्कथन—नये शासन-विधान पर अमल—प्रांतीय स्वराज्य—स्थानापन्न मंत्रि-मंडल—कांग्रेसी मंत्रि-मंडल—वैधानिक संकट—विहार और संयुक्त-प्रांत के मंत्रि-मंडलों का इस्तीफ़ा; उड़ीसा का वैधानिक संकट; मध्य-प्रांत का वैधानिक संकट; राजकोट और वैधानिक संकट की आशंका,—कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का कार्य-क्रम—कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों के काम—कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों की कठिनाइयां; उदार वादे और कम समय; वैधानिक संकटों की आशंका; सांप्रदायिक वैमनस्य; मजदूरों, किसानों आदि के आंदोलन—संघ राज्य का विरोध—शासन-विधान में संशोधन का प्रस्ताव—उपसंहार।

प्राक्कथन—सन् १९३५ से सन् १९३९ तक के चार बरस भारतीय राजनीतिक इतिहास में बड़े महत्व के हैं। सन् १९३५ में सम्राट जॉर्ज पंचम की रजत जयंती सारे साम्राज्य में बड़े समारोह के साथ मनायी गयी। तत्पश्चात् सम्राट के स्वर्गवास से सारा साम्राज्य शोकातुर हुआ। सम्राट इडवर्ड आंठवें के सिंहासनारूढ़ होने और व्यक्तिगत् कारणों से उसे छोड़ने के पश्चात्, सम्राट जॉर्ज छठे, सिंहासनारूढ़ हुए। इन महत्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तनों में डोमीनियनों की पार्लमेंटों का यथोचित हाथ था, पर भारतवर्ष का परामर्श तक न लिया गया था। इसी काल में, गांधी जी और वाइसराय की घोषणाओं के कारण, कांग्रेस ने नये शासन विधान के अंतर्गत् प्रांतीय मंत्रि-मंडलों को निर्मित करने का निश्चय किया, और सात प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रि-मंडल स्थापित हुए। विरोधी दल द्वारा शासन किये जाने का यह पहला अवसर है, और अब तक अन्य मंत्रि-मंडलों के अपेक्षा, कांग्रेसी मंत्रि-मंडल सार्वजनिक भलाई के कामों में अधिक सफल हुए हैं। सांप्रदायिक समझौते के लिए भी इस काल में कई असफल प्रयत्न हुए। श्रीराजेंद्र प्रसाद जी,

पं० जवाहरलाल जी नेहरू, महात्मा जी, श्री सुभाष बोस, मिस्टर जिन्ना और हिज हाईनेस प्रिंस आगा खां में इस विषय में आवश्यक पत्र-व्यवहार हुआ पर कुछ परिणाम न निकला। ऐसा प्रतीत होता है कि देश की सांप्रदायिक समस्या दिन पर दिन अधिकाधिक जटिल होती जाती है। सांप्रदायिक दंगों की वजह वह और भी जटिल हो गयी है। देशी रियासतों को भी इस काल में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनके सामने एक ओर तो संघ राज्य में शामिल होने का प्रश्न था और दूसरी ओर शासन-सुधार का प्रश्न। देशी रियासतों की प्रजा, ब्रिटिश भारत के आंदोलनों से प्रभावित होकर अपनी रियासतों में हलचल मचा रही थी, और उसे कांग्रेस की सहायता और सहानुभूति प्राप्त थी। इसी काल में राजनीतिक बंदियों की रिहाई के लिए गांधी जी ने सफल प्रयत्न किये। सन् १९३७ में, परिवर्तित परिस्थिति के कारण, मुस्लिम लीग का भी ध्येय पूर्ण स्वाधीनता हो गया। इसी काल में कांग्रेस में वाम-पक्षियों का ज़ोर बढ़ा, और किसान और मज़दूर आंदोलन खड़े हुए। इन सब बातों का कुछ विस्तारपूर्वक विवरण इस और अगले परिच्छेद में दिया जायगा।

नये शासन-विधान पर अमल—सन् १९३५ से सन् १९३९ तक, नये शासन-विधान के कुछ भाग कार्य-रूप में परिणत किये गये। १ अप्रैल, सन् १९३७ को भारत-मंत्री की कौंसिल, जिसे तोड़ने का भारतीय लोकमत बहुत दिनों से आग्रह कर रहा था तोड़ दी गयी, और भारत-मंत्री के विभाग की स्थापना हुई। इसके पूर्व सन् १९३५ में ही रिज़र्व बैंक स्थापित हो चुका था। ब्रिटिश सरकार की इच्छा थी कि संघ राज्य के स्थापित होने के पूर्व, उसकी आर्थिक स्थिरता के लिए रिज़र्व बैंक स्थापित किया जाय। भारतवर्ष में इसकी चर्चा बहुत दिनों पहले से हो रही थी। हम इन बातों का विवरण पूर्व परिच्छेदों में लिख चुके हैं। संघीय पब्लिक सर्विस कमीशन और संघीय रेलवे अथॉरिटी, विधानांतर्गत व्यवस्था के अनुसार स्थापित हो चुकी हैं और अपना अपना निर्धारित काम कर रही हैं। १ अक्टूबर, सन् १९३७ से संघीय न्यायालय अपना काम कर रहा है, और वह कई महत्वपूर्ण विवादास्पद बातों का निर्णय कर चुका है। नये शासन-विधान के ये परिवर्तन महत्वपूर्ण हैं, इनमें

संदेह नहीं। परंतु इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रांतीय स्वराज्य की स्थापना है, विशेष कर इस लिए, कि सात प्रांतों का शासन कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों द्वारा हो रहा है। अब तक लेजिस्लेचरों में कांग्रेस विरोधी दल की हैसियत से काम करती थी। शासन करके रचनात्मक कार्य करने का यह उसका पहला प्रयत्न है, और इसकी सफलता अथवा असफलता पर देश का भविष्य बहुत कुछ निर्भर है।

प्रांतीय स्वराज्य; प्रथम निर्वाचन—हम पिछले परिछेदों में बतला चुके हैं कि भारतवर्ष की प्रायः सभी प्रमुख संस्थाएं नये शासन-विधान से असंतुष्ट थीं और उसका विरोध करती थीं। सबकी दृष्टि में नया विधान अपर्याप्त, निराशाजनक और अपमानसूचक था। इतना होते हुए भी कुछ संस्थाएं ऐसी थीं जो उसे कार्य-रूप में परिणत करके उससे अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहती थीं। भारतीय लिबरल फेडेरेशन के यही विचार थे। कांग्रेस के विचार लिबरल फेडेरेशन से सहमत न थे। न तो उसका शासन-विधान के बनाने में कुछ हाथ था और न वह उसे कार्य रूप में परिणत करने के ही पक्ष में थी। फिर भी वह अपनी स्थिति को सुदृढ़ रखना चाहती है। अतएव वोटरों की पूरी पूरी सूची बनाने, और चुनाव संबंधी अन्य कामों के करने के लिए वह तैयार थी। तत्कालीन राष्ट्रपति बा० राजेंद्र प्रसाद जी ने, एक पत्र संवाददाता से, अक्टूबर सन् १९३५ में ही अपने विचार वोटरों की सूची बनाने के पक्ष में प्रगट किये थे[1]। पद-ग्रहण के विषय में कांग्रेस के विभिन्न

[1] "As regards the enrolment of voters in the registers under the new Constitution, the Working Committee has not issued any particular instruction, but since it is likely that the Congress may participate in the elections, it is just as well that Provincial Committees should take steps to carry on propaganda amongst the people to get themselves enrolled as voters. Nothing will be lost by such action on the part of Provincial Committees, and even if the Congress decides not to participate in the elections, *which appears to me unlikely*, enrolled voters may or may not vote as they choose when elections take place."—B. Rajendra Prasad. Indian Quarterly Register 1935. Vol. II p. 252.

दलों में मतभेद था। वामपक्षी पद-ग्रहण के घोर विरोधी थे, परंतु दक्षिणपक्षी कुछ आवश्यक आश्वासन के पश्चात् पद-ग्रहण करना अनुचित न समझते थे। फैजपूर कांग्रेस ने कांग्रेसवादियों को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आज्ञानुसार निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार दिया पर पद-ग्रहण की समस्या का विचार उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया गया जब तक प्रांतीय असेंबलियों के चुनाव का नतीजा न मालूम हो जाय। फलस्वरूप फरवरी सन् १९३७ के निर्वाचन में कांग्रेस ने अपने उम्मेदवार खड़े किये और उसकी शानदार विजय हुई। उसके विरोध करने वाले कुछ उदारवादी नेता थे और कुछ जिमींदार। कहीं कहीं पर, विशेषतया पंजाब और बंगाल में, हिंदू महासभा ने भी अपने उम्मेदवार खड़े किये थे। इसका मुख्य कारण कांग्रेस की सांप्रदायिक नीति थी जिस से हिंदू महासभा सहमत न थी। निम्नलिखित तालिकाओं से हमें चुनाव के नतीजे का पता चलता है—

तालिका १—प्रांतीय असेंबली

प्रांत	कांग्रेस को मिले हुए प्रतिशत् वोट	कांग्रेस के हाथ में प्रतिशत् स्थान
मद्रास	६५	७४
बिहार	७५	६५
बंबई	५६	४९
संयुक्त-प्रांत	६५	५९
बंगाल	२५	२२
मध्य-प्रांत	६१	६२.५
पंजाब	१३	१०.५
सीमा-प्रांत	×	३८
उड़ीसा	×	६०
आसाम	×	३०.५
सिंध	१२	१२

तालिका २—प्रांतीय कौंसिल

प्रांत	कुल निर्वाचित स्थान	खड़े किये गये कांग्रेसी उम्मेदवार	कांग्रेस द्वारा जीते गये स्थान
मद्रास	४६	३३	२६
बिहार	२६	१२	८
बंबई	२६	१५	१३
संयुक्त-प्रांत	५२	१६	८
बंगाल	५७	१२	६
आसाम	१८	१	×

उपर्युक्त तालिकाओं से हमें यह विदित होता है, कि ६ प्रांतीय असेंबलियों में कांग्रेस का बहुमत है, और दो में कांग्रेसी दल के सदस्यों की संख्या सबसे ज्यादा है। देश का बहुमत भी कांग्रेस के पक्ष में है। कई प्रांतों में कांग्रेस को मिले हुए वोटों का अनुपात जीते गये स्थानों के अनुपात से अधिक है। बंगाल और पंजाब में कांग्रेस की ताक़त बहुत कम है। परंतु मद्रास में उसकी ताक़त इतनी ज्यादा है कि बड़ी सभा में भी उसी का बहुमत है। देश की मुसल्मान जनता पर कांग्रेस का प्रभाव क्रमशः बढ़ता जाता है, किंतु अभी तक मुस्लिम लीग के मुक़ाबले उसका प्रभाव बहुत कम है। बड़ी सभा के चुनाव में भी कांग्रेस बुरी तरह नहीं हारी है। खड़े किये गये उम्मेदवारों में से आसाम को छोड़ कर, प्रायः प्रत्येक प्रांत में कम से कम ५० प्रतिशत् उम्मेदवारों की विजय हुई है। इन सब बातों से हमें कांग्रेस के बढ़ते हुए प्रभाव का पता चलता है। उप-निर्वाचनों में कांग्रेस के विरोधी उम्मेदवारों की होना भी इसी बात का द्योतक है।

स्थानापन्न मंत्रि-मंडल—निर्वाचन में कांग्रेस की शानदार विजय तो हुई, पर कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का निर्माण तुरंत ही न हो सका। कांग्रेस के दक्षिण पक्षियों और वामपक्षियों में इस विषय में भयंकर मतभेद था। जो लोग पद-ग्रहण के पक्ष में थे उनका कहना था कि मंत्रि-पद न ग्रहण करना जनता के साथ धोखेबाज़ी करना है और जो लोग पद-ग्रहण के विरोधी थे उनके विचार में मंत्रि-पद ग्रहण करना

कांग्रेस के साथ धोखेबाज़ी करता था। तदनन्तर कांग्रेस में इस प्रश्न पर दोनों दलों में काफी पकड़ा पकड़ी और बहस हुई थी। पर अंत में पद-ग्रहण करने वालों की जीत हुई। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने यह निर्णय किया कि जिन प्रांतों में कांग्रेस का बहुमत है वहां इस शर्त पर पद-ग्रहण किया जाय कि गवर्नर, वैधानिक कार्रवाइयों के संबंध में, मंत्रि-मंडल की सलाह को नामंजूर न करेंगे और न उनके संबंध में अपने विशेष अधिकारों का उपयोग करेंगे। प्रांतीय लेजिस्लेचरों के कांग्रेस नेताओं को गवर्नरों से इस विषय का स्पष्ट आश्वासन मांगना चाहिये, और आश्वासन मिलने पर ही मंत्रि-मंडल निर्माण करने पर राजी होना चाहिये। कुछ लोग कांग्रेस की इस मांग को अनुचित समझते थे। पर सदियों पुराने परस्पर अविश्वास के कारण, कांग्रेसवादियों की राय में ऐसा आश्वासन उचित और आवश्यक था। तत्कालीन राष्ट्रपति पं० जवाहर लाल जी नेहरू इस विषय में अपने विचार इन शब्दों में प्रगट किये थे—"जब तक इस प्रकार का आश्वासन प्राप्त न कर लिया जाय तब तक जिम्मेदारी मजाक होगी, क्योंकि उसमें अधिकार न होंगे। यदि ब्रिटिश सरकार के वादे सच्चे होते तो इस प्रकार का आश्वासन अवश्य दिया जाता। सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह जो कुछ उचित समझेगी वही करेगी, चाहे भारत के करोड़ों निर्वाचकों की इच्छा का उससे समर्थन होता हो या न होता हो।" पर प्रांतीय गवर्नर इस प्रकार का आश्वासन न दे सके, जिसके कारण कांग्रेस पार्टी ने मंत्रि-मंडल निर्माण करने से इनकार कर दिया। इस परिस्थिति को संभालने के लिए अल्प-संख्यक दलों के स्थानापन्न मंत्रि-मंडल बने। इन मंत्रि-मंडलों के साथ न तो जनता ही का बहुमत था और न लेजिस्लेचरों का। फिर भी कुछ दिन तक इनके चलाने की कोशिश की गयी। कुछ लोग तो इनको विधानयुक्त सिद्ध करने के लिए, शासन-विधान के ही नये नये अर्थ करने लगे। जब तक स्थानापन्न मंत्रि-मंडल पदासीन रहे, तब तक गवर्नरों ने व्यवस्थापक सभाओं को भी बुलाने से इनकार कर दिया। पर इस प्रकार से अधिक से अधिक छः महीने तक काम चल सकता था। इसके बाद या तो प्रांतीय असेंबलियां बुलायी जातीं, या उनका नया चुनाव किया जाता। नये निर्वाचन से परिस्थिति बदलने की विशेष संभावना न थी। अधिवेशन करने से मंत्रि-मंडल के विरोध में अविश्वास के प्रस्ताव पा

भय था, जिसे कांग्रेसी दल के लोग अवश्य पेश करते, और जो अवश्य पास होता। ऐसी अवस्था में स्थानापन्न मंत्रि-मंडल को त्याग-पत्र देना पड़ता, और देश के सामने मंत्रि-मंडल-निर्माण की समस्या पुनः पेश होती। आश्वासन प्राप्त किये बिना कांग्रेस पार्टी के लोग मंत्रि-मंडलों के बनाने से फिर इनकार करते, और तब, असाधारण परिस्थिति के कारण, प्रांतीय गवर्नर, शायद शासन-विधान को स्थगित करके, आवश्यकतानुसार अपने अपने प्रांतों का शासन अपने अधीन करते। भारतवर्ष के राजनीतिक वायुमंडल में इस प्रकार का वातावरण बड़े ज़ोर से चल रहा था। पर परिस्थिति इतनी अधिक न बिगड़ने पायी और छः महीने की अवधि के पूर्व ही स्थानापन्न मंत्रि-मंडलों के स्थान पर कांग्रेसी मंत्रि-मंडल स्थापित हुए।

कांग्रेसी मंत्रि-मंडल—निर्वाचन के पश्चात्, जब तक कांग्रेस पार्टी ने अपने मंत्रि-मंडल निर्मित नहीं किये तब तक स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए भारत-मंत्री, वाइसराय, माहत्मा गांधी, और अन्य भारतीय नेताओं ने अनेक वक्तव्य प्रकाशित किये जिनकी वजह से अख़बारों में काफ़ी चहल पहल रही और देश के सामने वैधानिक समस्याओं का जाल फैला रहा। यदि कांग्रेस चुप-चाप मंत्रि-पद को ग्रहण कर लेती, तो नये शासन-विधान की वह व्याख्या न हो पाती जो इस परिस्थिति के कारण हुई और जिसकी वजह से शासन-विधान की संबंधित धाराओं का वास्तविक अर्थ स्पष्ट रूप से लोगों को मालूम हो गया। कांग्रेस और महात्मा जी मंत्रि-पद ग्रहण करने के पूर्व दो बाते चाहते थे—

(१) यह आश्वासन कि वैधानिक कार्रवाइयों के संबंध में गवर्नर मंत्रि-मंडल की सलाह को नामंजूर न करेंगे और न उनके संबंध में अपने विशेष अधिकारों का उपयोग करेंगे।

(२) यदि ऐसे कामों की बावत गवर्नर और मंत्रि-मंडल में गंभीर मतभेद होगा, तो गवर्नर मंत्रि-मंडल से इस्तीफ़ा न मांग कर उसको बरख़ास्त करेंगे।

२२ जून, सन् १९३७ को वाइसराय ने एक वक्तव्य निकाला, जिससे स्थिति सुलझ गयी, और कुछ दिनों के बाद कांग्रेसी मंत्रि-मंडल भी बन गये। वाइसराय ने अपने वक्तव्य में कहा कि मांगे गये आश्वा-

सन की कोई आवश्यकता न थी। मंत्रियों के अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत् सभी मामलों में, जिनमें अल्प-संख्यक जन-समुदायों और नौकरियों की बातें भी शामिल हैं, गवर्नर साधारणतया मंत्रियों की सलाह पर ही चलेंगे। केवल उन मामलों में जिनमें गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व हैं, विशेष कर प्रांत के अमन-आमान के मामले में और नौकरियों के विधान द्वारा संरक्षित अधिकारों के मामलों में, गवर्नर अपनी ज़िम्मेदारी पर कार्य करेंगे। ये विशेष उत्तरदायित्व बहुत ही सीमित हैं। इनमें भी गवर्नर मंत्रियों को अपने साथ रखने की इच्छा करेंगे। परंतु मंत्रियों के अधिकार-क्षेत्र की बातों में गवर्नर मंत्रियों की सलाह पर चलने के लिए बाध्य होंगे, चाहे वे मंत्रियों की सलाह से बिल्कुल संतुष्ट न हों। इस्तीफ़े या बरख़ास्तगी की बाबत वाइसराय ने कहा कि यदि किसी गंभीर मतभेद के विषय में, विचार विनिमय के पश्चात् भी, गवर्नर और मंत्रि-मंडल का मतभेद दूर न हो तो मंत्रि-मंडल को या तो इस्तीफ़ा दे देना चाहिये या उसको बरख़ास्त कर देना चाहिये। इस्तीफ़ा और बरखास्तगी में से प्रचलित वैधानिक प्रथा का बहुत ज्यादा झुकाव इस्तीफ़े की ओर है। इस्तीफ़ा मंत्रि-मंडल की प्रतिष्ठा के अधिक उपयुक्त और गवर्नर के कार्य के प्रति मंत्रियों का सार्वजनिक रुख़ प्रगट करने का अधिक प्रभावशाली तरीक़ा है। साथ ही इस्तीफ़ा मंत्रि-मंडल की इच्छा से किया हुआ कार्य है। बरख़ास्तगी का तरीक़ा वैधानिक प्रथा में प्रचलित नहीं है। इस तरीक़े में एक प्रकार की छोटाई ज़ाहिर होती है जिसको हम नये विधान में कोई स्थान नहीं देना चाहते।

वाइसराय के उपर्युक्त वक्तव्य के कारण देश की स्थिति में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ। सभी लोग वाइसराय की दूरदर्शिता और व्यावहारिक राजनीति-कुशलता की प्रशंसा करने लगे। पर कांग्रेसवादी कुछ दिनों तक चुप रहे। ५ जुलाई, सन् १९३७ से ८ जुलाई तक वर्धा में कांग्रेस कार्य-समिति की अत्यंत महत्वपूर्ण बैठक हुई और उसमें मंत्रि-पद स्वीकार करने का प्रस्ताव पास हुआ। प्रस्ताव का संबंधित अंश इस प्रकार है—

कमेटी (कार्य-समिति) का ख़्याल है कि परिस्थितियों और घटनाओं के परिणाम-स्वरूप जो परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है उससे विश्वास होता

है कि गवर्नरों के लिए यह आसान न होगा कि वे विशेषाधिकारों का प्रयोग करें। कमेटी ने असेंबलियों के कांग्रेसी सदस्यों और साधारण कांग्रेसजनों की रायों पर भी विचार किया है। इस लिए कमेटी इस परिणाम पर पहुंची है कि कांग्रेसवादियों को, जहां वे मंत्रि-पद के लिए आमंत्रित किये जायँ, मंत्रि-पद स्वीकार करने की इजाजत दे दी जाय। परंतु वह इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती है कि मंत्रि-पद की स्वीकृति और उसका प्रयोग कांग्रेस चुनाव-विज्ञप्ति में बताये गये कार्य-क्रम के अनुसार कार्य करने और नये विधान से लड़ने की कांग्रेस-नीति को हर संभव उपाय से अग्रसर करने, और रचनात्मक कार्य-क्रम को पूरा करने के लिए होगा।

कांग्रेस कार्य-समिति के उपर्युक्त प्रस्ताव के पश्चात् प्रांतीय गवर्नरों ने कांग्रेस नेताओं को मंत्रि-मंडल निर्मित करने के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने मंत्रि-मंडलों के निर्माण का भार अपने ऊपर लिया। स्थानापन्न मंत्रि-मंडल इस्तीफ़ा देकर शासन संबंधी कामों से अलग हुए, और उनके स्थान में कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों की स्थापना हुई।

मंत्रि-पद ग्रहण करने के कारण—हम ऊपर लिख चुके हैं कि मंत्रि-पद ग्रहण करने के विषय में कांग्रेसवादियों में मतभेद था। कार्य-समिति में उपर्युक्त प्रस्ताव के पास होने पर भी यह मतभेद पूर्ववत् बना रहा। समाजवादियों ने अपने को मंत्रि-मंडलों से बिल्कुल अलग रखा। जिन लोगों ने मंत्रि-पद ग्रहण किया उनकी मनोवृत्ति में भी कोई विशेष परिवर्तन न हुआ था। वे अब भी नये विधान को अपर्याप्त और निराशा-सूचक समझते हैं और उन्हें इस बात की लेशमात्र भी आशा न थी कि नये शासन-विधान को कार्यान्वित करके वे प्रांतों की स्थिति में मनचाहे परिवर्तन और सुधार कर सकेंगे। फिर भी निम्नलिखित तीन कारणों से कांग्रेसवादियों ने सात प्रांतों में मंत्रि-पद को ग्रहण किया—

(अ) यदि कांग्रेसवादी अपने मंत्रि-मंडल न बनावेंगे, तो या तो स्थानापन्न मंत्रि-मंडलों का शासन स्थापित होगा, या शासन-विधान स्थगित कर दिया जायगा। दोनों हालतों में राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि की उतनी आशा न थी, जितनी उस हालत में जब कि कांग्रेसी मंत्रि-मंडल विधानांतर्गत की गयी कार्रवाई से जनता के उभारने की कोशिश करते।

संबंध में परामर्श किया पर इसका कोई परिणाम होता हुआ न देख कर मैंने इन बंदियों की रिहाई की आज्ञा दे दी। भारतीय शासन-विधान की धारा १२६ (५) के अनुसार गवर्नर जनरल से आदेश पाकर, गवर्नर ने मेरी आज्ञा को कार्यान्वित होने देने में अपनी असमर्थता प्रगट की। ऐसी अवस्था में मेरे लिए पद-त्याग करने के सिवा कोई दूसरा उपाय ही न रह गया।" संयुक्त-प्रांत के प्रधान मंत्री ने अपने त्यागपत्र के साथ गवर्नर को निम्नलिखित आशय का पत्र लिखा—"आप ने (गवर्नर ने) मुझे और मेरे साथियों को यह लिखा है कि भारत शासन-विधान की धारा १२६(५) के अनुसार गवर्नर जनरल के आज्ञानुसार अपने राजनीतिक बंदियों की रिहाई की हमारी सलाह अस्वीकार कर दी है। राजनीतिक बंदियों की रिहाई हमारा कर्तव्य है। अब हमारे सामने केवल यही एक मार्ग है कि हम त्यागपत्र दे दें। अतएव हम त्यागपत्र देते हैं"। प्रांतीय गवर्नरों ने भी अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए अपने वक्तव्य निकाले। संयुक्त-प्रांत के गवर्नर के सेक्रेटरी ने अपने वक्तव्य में कहा कि "संयुक्त-प्रांत के मंत्रि-मंडल ने १५ राजनीतिक बंदियों की रिहाई के संबंध में गवर्नर से बातचीत की थी। एक के सिवा इनमें सब राजबंदी हिंसात्मक कामों के कारण सज़ा पाये हुए थे। मंत्रि-मंडल ने यह आशा प्रगट की कि उनकी रिहाई से हिंसा का प्रचार न होगा। गवर्नर ने उनके व्यक्तिगत् मामलों पर विचार करना स्वीकार भी कर लिया पर मंत्रियों ने उनकी तुरंत रिहाई पर ज़ोर दिया। इस पर गवर्नर ने यह मामला वाइसराय के पास भेजा। वाइसराय ने भारतीय शासन-विधान की धारा १२६ (५) के अनुसार इन क़ैदियों को छोड़ने से इनकार कर दिया। मंत्रियों को इसकी सूचना देने पर उन्होंने अपने इस्तीफ़े दे दिये।" बिहार के गवर्नर का वक्तव्य भी इसी आशय का था।

त्यागपत्र देने के पश्चात् कांग्रेसी मंत्री हरिपुरा की ओर रवाना हुए। देश के राजनीतिक आकाश में पुनः काले बादल मंडराने लगे। अनेक नेताओं और विद्वानों ने इस संकट के विषय में अपने विचार प्रगट किये। गांधी जी का ख़याल था कि "चंद क़ैदियों की रिहाई से चाहे उन्हें हिंसात्मक अपराधों के लिए ही सज़ा क्यों न दी गयी हो शांति और व्यवस्था को ख़तरा नहीं हो सकता।" अतएव वैधानिक संकट के अवांछनीय दुष्परिणामों का संकेत करते हुए उन्होंने गवर्नर जनरल से अपने किये

गये पर फ़िर विचार करने की प्रार्थना की। हरिपुरा कांग्रेस ने भी इस विषय में वड़ी सावधानी से काम किया। आंदोलन, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा अथवा लड़ाई आदि से गूँजे हुए वायुमंडल को पुनः शांति की ओर अग्रसर करके हरिपुरा कांग्रेस ने शेष पांच सूबों के इस्तीफ़े रोक दिये, और गवर्नर जनरल को फिर से अपने निश्चय पर विचार करने का निमंत्रण दिया। आखिर में वाइसराय ने पुनः एक वक्तव्य प्रकाशित किया। उसका भावार्थ निम्नलिखित है—"गवर्नर खुशी से हरेक वंदी के व्यक्तिगत् मामले पर ग़ौर करने के लिए तैयार हैं। कांग्रेस प्रांतों में व्यक्तिगत् रिहाई का सिद्धांत कई महीनों से स्थिर किया जा चुका है। मंत्री व्यक्तिगत् जांच के सिद्धांत से सहमत नहीं हो सके। अंत में अपनी जिम्मेदारियों का ख़्याल रखते हुए गवर्नरों ने राजनीतिक वंदियों की रिहाई संवंधी वात को आदेश के लिए मेरे पास भेज दिया। गवर्नर अव भी इस वात के लिए तैयार हैं कि रिहाई के मसले पर व्यक्तिगत् रूप से विचार किया जाय और जिनसे उनके तथा अन्य प्रांतों को कोई ख़तरा न हो. वे वंदी छोड़ दिये जायँ। न तो गवर्नर जनरल और न गवर्नर यह चाहते हैं कि मंत्रियों की जिम्मेदारी पर हमला किया जाय। मैं इस वात पर ज़ोर देना चाहता हूं कि मैंने जो कार्रवाई की है वह इस भावना से प्रेरित होकर नहीं की है कि कांग्रेसी मंत्रियों की स्थिति को कमज़ोर वनाया जाय। मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि इन दो प्रांतों की स्थिति शीघ्र ही अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त कर लेगी और मंत्रिगण गवर्नरों से वातचीत करके अपने काम को फिर से सँभालने में समर्थ होंगे।

वाइसराय के वक्तव्य के जवाव में गांधी जी ने इस वात पर संतोष प्रगट किया कि वाइसराय ने समझौते का दरवाज़ा खुला रखा है। क़ैदियों की रिहाई के पहले उनके मामलों की जांच करने से किसी को इनकार नहीं है। लेकिन यह जांच गवर्नर को नहीं, मंत्रियों को करना चाहिये। यदि गवर्नर मंत्रियों को यह आश्वासन दे दें कि वह मंत्रियों के इस अधिकार का अपहरण नहीं करेंगे तो समझौते का रास्ता निकल सकता है। वाइसराय और गांधी जी के वक्तव्य के आधार पर संयुक्त-प्रांत के गवर्नर और प्रधान मंत्री में विचार विनिमय हुआ और दोनों ने अपने संयुक्त वक्तव्य में निम्नलिखित समझौते की घोषणा की—"वे

राजनीतिक बंदी जिनके मामलों की जांच हो चुकी है मंत्रियों की सलाह के अनुसार शीघ्र ही रिहा किये जा रहे हैं। बाक़ी राजनीतिक बंदियों के मामलों की जांच मंत्री करेंगे और मुनासिब हुक्म जारी करेंगे"। वक्तव्य में यह भी घोषित किया गया कि गवर्नरों का इरादा मंत्रियों के वैधानिक काम में हरगिज़ अड़ंगा लगाने का नहीं है। बिहार में भी इसी प्रकार की घोषणा की गयी। वैधानिक संकट का अंत हुआ। राजनीतिक वायुमंडल में पुनः शांति की स्थापना हुई; लड़ाई और आंदोलन की बातचीत बंद हुई, और कांग्रेसी मंत्रि-मंडल पुनः अपने रचनात्मक कार्य-क्षेत्र में उत्साह से अग्रसर हुए।

(ब) **उड़ीसा का वैधानिक संकट**—संयुक्त-प्रांत और बिहार के वैधानिक संकट के लगभग तीन महीने पश्चात् उड़ीसा में वैधानिक संकट आ उपस्थित हुआ। उड़ीसा के गवर्नर सर जॉन हवक छुट्टी पर जाने को थे। उनकी छुट्टी मंजूर हो गयी थी, और उनके स्थान पर, भारतीय सिविल सर्विस के एक अनुभवी सदस्य मिस्टर डेन, जो उड़ीसा-सरकार के मातहत थे, स्थानापन्न गवर्नर नियुक्त किये गये थे। उड़ीसा मंत्रि-मंडल को यह नियुक्ति नापसंद थी। उनके विचार में एक ऐसे पदाधिकारी का, जो मंत्रि-मंडल के मातहत काम करता हो, उसी मंत्रि-मंडल का सिरताज बनाना अनुचित था। अतएव उड़ीसा मंत्रि-मंडल ने, कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड की अनुमति से यह घोषित किया कि यदि मिस्टर डेन, स्थानापन्न गवर्नर का काम करेंगे तो मंत्रि-मंडल को त्याग-पत्र देने के सिवा कोई दूसरा मार्ग न रह जायगा। देश के राजनीतिक वायुमंडल में पुनः काले बादल मंडराने लगे। कांग्रेसी प्रांतों के मंत्रि-मंडलों के इस्तीफ़े की बातचीत होने लगी। प्रांतीय स्वराज्य की निःसारता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जाने लगा, और भारतीय नेताओं के संबंधित वक्तव्यों से समाचार-पत्रों में कुछ दिन फिर चहल पहल रही। इस विषय में गांधी जी के विचार निम्नलिखित थे—"······जो कुछ भी कष्टकर बात है वह सिर्फ़ इसी में है कि एक मातहत अफ़सर अपने प्रांत का स्थानापन्न गवर्नर बन जाय और उसके साथ मंत्रीगण काम करें, रोज़मर्रा अपने काग़ज़ों को पेश करें और उसकी अध्यक्षता में अपनी बैठक करें। यह बात असंगत और अशोभनीय है। इससे प्रांतीय स्वराज्य मखौल हो जाता है। ····उच्च

सत्ता को पहले की तरह कोई कार्रवाई नहीं करना चाहिये। उसके हरेक काम नियम और प्रथा के अनुसार होना चाहिये। उसे भारत-मंत्री या गवर्नर जनरल की सनक पर निर्भर नहीं रहना चाहिये।······मुझे उम्मेद है कि यह भूल अति विलंब होने से पहले सुधार ली जायगी। इसे सुंदरता के साथ सही करने के कई तरीक़े हैं, किंतु कोई भी सुंदर तरीक़ा ढूँढ़ निकालने के पहले इस तरह की इच्छा का होना लाज़िमी है। मुझे उम्मेद है कि यह ग़ल्ती सुधार ली जायगी।"

हुआ भी ऐसा ही। पर छुट्टी शुरू होने के एक दिन पहले, अर्थात् ४ मई, सन् १९३८ तक, देश की राजनीतिक स्थिति डांवाडोल रही। ४ मई को गवर्नर जनरल और भारत-मंत्री के परामर्श से सर जॉन हबक ने अपनी छुट्टी मंसूख करवा ली। इस विषय में उनके सेक्रेटरी ने निम्नलिखित विज्ञप्ति प्रकाशित की—"राजनीतिक परिस्थिति की अस्थिरता को ध्यान में रखते हुए, जो कि गवर्नर के प्रस्थान करने के बाद उनके उत्तराधिकारी पर पड़ती, उड़ीसा के गवर्नर अपने पूर्व निश्चित कार्य-क्रम को अमल में लाना उचित नहीं समझते। उनका ख्याल है कि प्रांत के हित को ध्यान में रखते हुए, सिवा इसके उनके पास कोई दूसरा मार्ग नहीं है, कि वे अपनी स्वीकृत छुट्टी को रद्द कर दें। भारत-मंत्री ने गवर्नर जनरल से परामर्श करके उनकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली है।" गवर्नर की इस दूरदर्शिता के कारण उड़ीसा का वैधानिक संकट टल गया। देश में पुनः शांति की स्थापना हुई, और संकट टल जाने के कारण सभी क्षेत्रों में संतोष और प्रसन्नता प्रगट की गयी।

(स) मध्य-प्रांत का वैधानिक संकट—उड़ीसा के वैधानिक संकट के लगभग दो महीने पश्चात् मध्य-प्रांत में वैधानिक संकट की बारी आयी। यह संकट उपर्युक्त दो संकटों से भिन्न था। अन्य प्रांतों के वैधानिक संकटों का कारण या तो आवश्यक सरकारी हस्तक्षेप था या कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों की प्रतिष्ठा की रक्षा। परंतु मध्य-प्रांत के वैधानिक संकट का कारण मंत्रि-मंडल के मंत्रियों का परस्पर झगड़ा था। बहुत दिनों से यह प्रश्न देश के सामने था। मंत्रियों पर यह दोषारोपण किया जाता था कि वे कांग्रेस के ऊँचे आदर्शों के अनुसार न चल कर व्यक्तिगत तथा सांप्रदायिक पक्षपात से प्रभावित होते हैं। धीरे धीरे मंत्रि-मंडल

का मतभेद बढ़ता गया और अंत में ऐसी नौबत आयी जिसका कोई अनुमान तक न कर सकता था। मध्य-प्रांत के प्रधान मंत्री डा० खरे और दो अन्य मंत्रियों ने अपने इस्तीफ़े दे दिये। शेष तीन मंत्रियों ने इस्तीफ़ा देने से इनकार किया। इस पर गवर्नर ने अपने विशेषाधिकारों का उपयोग करके उनको बरख़ास्त कर दिया। तत्पश्चात् डा० खरे पुनः प्रधान मंत्री नियुक्त हुए और उन्होंने अपना नया मंत्रि-मंडल बनाया। अनचाहे मंत्रियों के निकालने का यह अनोखा तरीक़ा था। गवर्नर के विशेषाधिकारों का उपयोग, विशेषतया जिस तरीक़े से वह इस अवसर पर किया गया था, कांग्रेस की प्रतिष्ठा एवं मर्यादा के प्रतिकूल था। डाक्टर खरे के काम करने का ढंग भी अनुचित, और जल्दबाज़ी से भरा हुआ था, विशेष कर इस लिए कि कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन कुछ ही दिनों बाद होने को था। राजनीतिक वायुमंडल में पुनः बिजली दौड़ गयी। डा० खरे और मध्य-प्रांत के गवर्नर के काम करने के ढंग पर टिप्पणियां होने लगीं और नेताओं ने पुनः अपने वक्तव्य निकाले। २३ जुलाई, सन् १९३८ से लेकर २७ जुलाई तक वर्धा में कार्य-समिति की बैठक हुई। मध्य-प्रांत के वैधानिक संकट के विषय में वह इस नतीजे पर पहुँची कि डा० खरे ने कई बार बेसमझी की भारी भूल की है जिसके कारण मध्य-प्रांत में कांग्रेस हास्यास्पद हुई है और उसकी शान घटी है। चेतावनी देने पर भी वे अपनी जल्दबाज़ी से बाज नहीं आये। इसलिए वे अनुशासन भंग के भी दोषी हैं। कार्य-समिति की राय में मध्य-प्रांत के गवर्नर ने अपनी भद्दी जल्दबाज़ी से, जिसके द्वारा उन्होंने रात को दिन बना दिया, यह साबित किया है कि वे अपनी शक्ति भर कांग्रेस को कमज़ोर और बदनाम करने को उत्सुक थे। अतएव कार्य-समिति ने डा० खरे को यह आज्ञा दी कि अपने ज़िम्मेदार पद के योग्य न होने के कारण वह दुबारा इस्तीफ़ा दें। डा० खरे ने समिति द्वारा लगाये गये अपराध को अस्वीकार करते हुए कहा कि उन्होंने जो कुछ किया है स्थिति के अनुकूल और उचित किया है। उनका विचार कांग्रेस के विरुद्ध कार्रवाई करने का कदापि नहीं था। इस्तीफ़े के बारे में उन्होंने कहा कि उन्हें कार्य-समिति की आज्ञा सर्वदा मान्य है। अतएव उन्होंने अपना इस्तीफ़ा गवर्नर के पास भेज दिया। तत्पश्चात् कार्य-समिति के आज्ञानुसार मध्य-प्रांत की कांग्रेस पार्टी के

नेता का चुनाव हुआ। श्री रविशंकर जी शुक्ल, जो पुराने मंत्रि-मंडल के सदस्य थे और जिनको विशेषाधिकार का उपयोग करके गवर्नर ने मंत्रि-पद से निकाला था, कांग्रेस पार्टी के नेता चुने गये और गवर्नर से निमंत्रित होकर उन्होंने अपना मंत्रि-मंडल बनाया।

मध्य-प्रांत के वैधानिक संकट की वजह कुछ लोग कांग्रेस की नीति की कड़ी आलोचना करने लगे। उनके विचार में कांग्रेस क्रमशः फासिष्टवादी होती जाती थी। परंतु वास्तव में परिस्थिति न ऐसी उस समय थी और न आज है। अनुशासन की दृष्टि से कार्य-समिति ने जो कुछ किया वह ठीक था। गांधी जी के कथनानुसार "फासिज्म तो नंगी तलवार है। उसके नीचे तो डाक्टर खरे का सर धड़ से अलग हो जाना चाहिये"। आंतरिक विकास और शासन के लिए कांग्रेस एक लोकतंत्रात्मक संस्था है किंतु साम्राज्यवादी संस्था से लड़ने की वजह से उसे बतौर सेना के काम करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यदि कार्य-समिति डा० खरे के कार्य की निंदा करके उनके खिलाफ़ अनुशासन संबंधी कार्रवाई न करती, तो कांग्रेस की प्रतिष्ठा और देश की मर्यादा की दृष्टि से एक भारी भूल होती।

(द) राजकोट और वैधानिक संकट की आशंका—अभी आठ महीने भी न हो पाये थे कि वैधानिक संकट की आशंका से देश में पुनः काले बादल मंडराने लगे। इस बार का वैधानिक संकट एक देशी रियासत की वजह से था जिसके कारण महात्मा जी ने आमरण अनशन आरंभ किया था। राजकोट में वैधानिक सुधार की बातें बहुत दिनों से चल रही थीं। ठाकुर साहब और सरदार पटेल में इस विषय में समझौता भी हो चुका था, परंतु समझौते की शर्तों के पालन न होने की शिकायतों की वजह से राजकोट में सत्याग्रह आरंभ हुआ। गांधी जी ने सत्याग्रह को स्थगित करवा दिया, और लड़ाई का सारा भार अपने ऊपर लिया। कुछ जांच-पड़ताल करने के बाद उन्होंने ठाकुर साहब के पास कुछ शर्तों के स्वीकार करने के लिए एक अल्टीमेटम भेजा, और उसमें यह स्पष्ट कर दिया कि यदि वे शर्तें स्वीकार न की जायंगी तो वे निर्धारित दिन आमरण अनशन आरंभ कर देंगे। ठाकुर साहब ने गांधी जी की शर्तों को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रगट की। अतएव गांधी जी का

आमरण अनशन आरंभ हुआ। देश का कोना कोना इस कठोर तपस्या की खबर से विह्वल हो उठा। लाखों आदमियों ने गांधी जी की सफलता के लिए ईश्वर से प्रार्थना की। अगणित मनुष्यों ने अनशन आरंभ के दिन स्वयं भोजन नहीं किया। कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने इस परिस्थिति के अंत करने के लिए वाइसराय से प्रार्थना की, और यह स्पष्ट कर दिया कि यदि वाइसराय शीघ्र ही इस मसले को न सुलझा सकेंगे तो वे अपना इस्तीफ़ा भेजने के लिए मजबूर होंगे। वैधानिक संकट पुनः निकट दृष्टिगोचर होने लगा। वाइसराय शीघ्र ही दिल्ली वापस आये। दिन भर दिल्ली, राजकोट, लंदन और वाइसराय में तार द्वारा बातचीत होती रही। अंत में वाइसराय के हस्तक्षेप और आश्वासन से संतुष्ट हो कर, चार दिन के बाद गांधी जी ने अपना आमरण उपवास समाप्त किया। देश की भयंकर चिंता दूर हुई। गांधी जी के आत्मबल की विजय हुई। वैधानिक संकट की आशंका मिटी, और १५ और १६ मार्च सन् १९३९ को वाइसराय और गांधी जी की महत्वपूर्ण मुलाक़ात हुई जिसमें देशी रियासतों से संबंध रखने वाली अनेक समस्याएं हल की गयीं।

उपर्युक्त वैधानिक संकटों के अतिरिक्त प्रांतीय स्वराज्य के दो बरसों में कई बार और वैधानिक संकटों की बातचीत हुई है। उन सबका वर्णन लिखना यहां पर संभव नहीं। परंतु जिन संकटों का विवरण ऊपर दिया गया है उनके आधार पर हम निम्नलिखित नतीजे पर पहुंचते हैं—कांग्रेस मर्यादापूर्वक शासन करना चाहती है। वह उत्तरदायी शासन संबंधी उन प्रथाओं को स्थापित करना चाहती है जो ग्रेट ब्रिटेन और डोमीनियनों में प्रचलित हैं। ब्रिटिश सरकार की भारतीय मनोवृत्ति में अभी तक वह परिवर्तन नहीं हुआ है, जो डोमीनियनों के संबंध में हो गया है। अतएव अपनी प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए कांग्रेस को आवश्यकता पड़ने पर वैधानिक संकटों का सहारा लेना पड़ता है। भाग्यवश दोनों पार्टियां समझौते के दरवाज़े को खुला रखती हैं जिसकी वजह से स्थिति बिगड़ने के पूर्व ही वैधानिक संकट मिट जाता है। यदि सरकार और कांग्रेस का यही रुख रहा तो संभव है कि भारतवर्ष में भी उत्तरदायी शासन संबंधी वे प्रथाएं चल जायं जिनके अनुसार आजकल डोमीनियनों का शासन हो रहा है।

कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का कार्य-क्रम—प्रांतीय स्वराज्य के दो बरसों के वैधानिक संकटों की जानकारी हासिल करने के पश्चात् हमें यह जान लेना चाहिये, कि कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने कौंसिलों में प्रवेश करके, और मंत्रि-पद ग्रहण करके, जनता की भलाई के लिए कौन कौन से काम किये हैं। पूर्व इसके कि कांग्रेस द्वारा किये गये कामों का वर्णन किया जाय, कांग्रेस की चुनाव-घोषणा पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। कांग्रेस आरंभ से ही नये शासन-विधान की विरोधनी रही है। अतएव वह कौंसिल में जाकर भी नये विधान से सहयोग करने के पक्ष में न थी। नये विधान का अंत कर देना ही उसका लक्ष्य था। कांग्रेस की यह इच्छा थी कि "कौंसिलों के भीतर की कार्रवाई ऐसी हो जिससे कांग्रेस के बाहरी काम में सहायता मिल सके, जनता की शक्ति बढ़े और उन सभी उपायों को प्रोत्साहन मिले जो स्वराज्य-प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं"। कांग्रेसवादी कौंसिलों में ऐसे प्रस्तावों का विरोध करने को थे जो "भारतीय हित के विनाशक हैं। वे हिंदुस्तान की आज़ादी की लहर को कुचलने वाले सभी दमनकारी क़ानूनों तथा ऑर्डीनेंसों को रद् करने के सभी उपाय करेंगे। वे नागरिक स्वतंत्रता की स्थापना के लिए, राजनीतिक क़ैदियों तथा नज़रबंदियों की रिहाई के लिए और राष्ट्रीय युद्ध के समय सताये गये किसानों और अन्य लोगों को मुआविज़ा दिलाने के लिए पूरी कोशिश करेंगे"। देश की ग़रीबी, बेकारी और किसानों के कर्ज़ की समस्या के विषय में कांग्रेस का यह विश्वास था कि इन सबकी जड़ लगान व मालगुज़ारी का दक़ियानूसी एवं घातक तरीक़ा है। अतएव उसका ध्येय "बंदोबस्त, लगान, तथा मालगुज़ारी के मौजूदा नियमों में संशोधन कराना है, छोटे छोटे किसानों के मौजूदा लगान व मालगुज़ारी में काफ़ी कमी कराना है, ऐसी ज़मीनों का लगान बिल्कुल माफ़ कराना है जिनसे किसानों को कोई फ़ायदा नहीं है तथा काश्तकारी की ज़मीन के बोझ को उचित ढंग से कम कराना है।" कांग्रेस किसानों के क़र्ज़ की अदायगी को मुल्तवी करने और क़र्ज़ को कम करने और ऐसे नियमों के बनाने के पक्ष में थी जिनके द्वारा सरकार से सस्ती दर से क़र्ज़ मिल सके। मज़दूरों के लिए कांग्रेस गुज़रबसर का उचित प्रबंध करना चाहती थी और यह चाहती थी कि "उनके काम करने के घंटे और काम करने के नियम भारत की आर्थिक अवस्था

पर ध्यान रखते हुए अंतर्राष्ट्रीय ढंग पर हों"। वह स्त्रियों और पुरुषों की असमानता, चाहे वह क़ानूनी हो या सामाजिक, दूर करने के पक्ष में थी, खादी प्रचार तथा ग्राम उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित करना चाहती थी और सांप्रदायिक निर्णय का तीव्र विरोध करते हुए यह विश्वास करती थी कि इस प्रश्न का संतोषजनक निर्णय मुख्य मुख्य जातियों की सद्-भावना तथा सहयोग से ही हो सकता है। अतएव कांग्रेस का निर्णय था कि "सांप्रदायिक निर्णय से पैदा हुई परिस्थिति का मुक़ाबला करने के लिए हमको अपनी आज़ादी की लड़ाई को और भी प्रभावशाली बनाना चाहिये"। साथ ही साथ हमें विभिन्न जातियों में परस्पर समझौते की कोशिश करना चाहिये जिससे भारतीय एकता की नींव सुदृढ़ हो। नये शासन-विधान के अंत करने के लक्ष्य को सामने रख कर, कांग्रेस का यह निश्चय था कि संघ शासन वाली सूचना काम में न लायी जा सके।

कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों के काम—इस चुनाव-घोषणा को कार्यरूप में परिणत करने के लिए ही कांग्रेस ने चुनाव में भाग लिया था, और तत्पश्चात् अपने मंत्रि-मंडल बनाये थे। लगभग दो बरसों से सात प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का शासन है। क्या ये मंत्रि-मंडल कांग्रेसी चुनाव-घोषणा को कार्यान्वित करने में सफल हुए हैं?

इस प्रश्न का एक शब्द में उत्तर देना आसान नहीं। इतना ज़रूर कहा जा सकता है, कि विभिन्न प्रांतों के कांग्रेसी मंत्रि-मंडल अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी अपने काम में लगे हुए हैं, और कांग्रेस की चुनाव-घोषणा को सार्थक बनाने की कोशिश कर रहे हैं। संघ-राज्य की स्थापना अभी कुछ दूर सी प्रतीत होती है। कांग्रेस उसकी स्थापना कहां तक रोक सकेगी यह बतलाना इस समय कठिन है। पर अभी तक इस अंश में नया शासन-विधान स्थगित सा दिखायी पड़ता है। किंतु प्रांतीय शासन के विषय में कुछ लोगों का कहना है कि कांग्रेस शासन-विधान के इस अंग को विध्वंश न करके, उसे कार्यरूप में परिणत कर रही है। उनका यह कथन बिल्कुल संदेह-रहित नहीं है। वैधानिक संकटों के कारण शासन-विधान के प्रांतीय अंग के क़ानूनी और वास्तविक रूप में वांछनीय अंतर होता जाता

है जिसकी वजह से यह कहा जा सकता है कि कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने नये शासन-विधान के इस हिस्से को परिवर्तित करके एक नया स्वरूप दे दिया है, और इस हद तक सन् १९३५ का शासन-विधान विध्वंश हो चुका है।

नये शासन-विधान का इस हद तक अंत करने के अतिरिक्त, कांग्रेस मंत्रियों ने चुनाव-घोषणा की अन्य बातों को भी कार्य-रूप में परिणत किया है। राजनीतिक क़ैदी छोड़ दिये गये हैं। गांधी जी के प्रयत्नों के कारण बंगाल के भी अधिकांश राजनीतिक क़ैदी मुक्त कर दिये गये हैं। सब कांग्रेसी प्रांतों में राजनीतिक मुक़द्दमें उठा लिये गये हैं, अखबारों से ज़मानतें मांगने वाली नोटिसें मंसूख़ कर दी गयी हैं, और कुछ की ज़ब्त ज़मानतें वापस कर दी गयी हैं। राजनीतिक कार्यकर्ता कांग्रेसी प्रांतों में आज़ादी से राजनीतिक और सामाजिक काम कर रहे हैं, और जिन संस्थाओं को पहले ग़ैर-क़ानूनी घोषित किया गया था, वे भी पुनर्जीवित हो कर अपने अपने काम में लगी हैं। राजनीतिक चित्रपटों पर अब किसी प्रकार की रुकावट नहीं है और बहुत सी ज़ब्त किताबें फिर से छपने और बिकने लगी हैं। इन कामों को देखते हुए, किसी निष्पक्ष मनुष्य को यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं हो सकता, कि कांग्रेसी मंत्रि-मंडल नागरिक स्वतंत्रता के कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने में बहुत कुछ सफल हुए हैं।

कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने किसानों और मज़दूरों की भलाई के कई काम किये हैं। ऋण के बोझ से दबे हुए किसानों की रक्षा के लिए पुराने क़र्ज़ कम कर दिये गये हैं। कहीं कहीं पर, जैसे मद्रास, पुराने क़र्ज़ मंसूख़ कर दिये गये हैं। नये ऋणों के लिए ब्याज की दर निर्धारित कर दी गयी है। मालगुज़ारी और लगान में कमी करने की कोशिश की गयी है। विभिन्न प्रांतों में हक़ आराज़ी प्रस्ताव (Tenancy Bills) पास हो चुके हैं या विचाराधीन हैं। कुछ प्रांतों में बक़ाया लगान-वसूली और बेदख़ली बंद कर दी गयी हैं और क़र्ज़ अदायगी के नीलाम रोक दिये गये हैं। ग्राम-सुधार के लिए कांग्रेसी मंत्रि-मंडल भरसक कोशिश कर रहे हैं। संयुक्त-प्रांत में निर्वाचित ग्राम-

पंचायतों के स्थापित होने की बातचीत हो रही है। नये औषधालय और अस्पताल खोले गये हैं, खेती की उन्नति के उपाय कार्य-रूप में परिणत किये जा रहे हैं, और देहातियों के मनबहलाव एवं शिक्षा के लिए वायरलेस का प्रबंध किया जा रहा है। इन कामों से यह विदित होता है, कि कांग्रेसी मंत्रि-मंडल किसानों की हालत से भली भांति परिचित हैं, और चुनाव-घोषणा के अनुसार उसे सुधारने की कोशिश कर रहे हैं।

पर मज़दूरों के विषय में, कुछ लोगों का कहना है कि कांग्रेस-सरकार उस सहानुभूति से काम नहीं कर रही है जिसकी उससे आशा थी। कई स्थानों पर, मज़दूर-हड़ताल आदि के कारण, मज़दूरों पर, शांति और सुव्यवस्था के नाम पर गोलियां चलायी गयी हैं। अतएव समाजवादी और वर्गवादी कांग्रेस से कुछ असंतुष्ट से रहने लगे हैं। पर विचारपूर्वक देखने से यह विदित होता है कि इस विषय में भी कांग्रेसी मंत्रि-मंडल चुपचाप नहीं है। संयुक्त-प्रांत में मील-मालिकों और मज़दूरों के झगड़ों को निबटाने के लिए एक लेबर कमिश्नर नियुक्त हुआ है। बंबई के एक नियम के अनुसार, मील-मालिक और मज़दूर बिना उचित समय का नोटिस दिये न तो कोई नियम बदल सकते हैं और न हड़ताल कर सकते हैं। इस नियम के कारण मील-मालिकों पर एक भारी पाबंदी लग गयी है और उन मज़दूर नेताओं का भी नियंत्रण हो गया है जो व्यर्थ में ही मज़दूरों को उकसा कर हड़तालें करा देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इन नियमों के कारण मज़दूरों की आये दिन हड़ताल करने की आज़ादी छिन गयी है। पर आज़ादी की भी कुछ सीमाएं होती हैं और इन सीमाओं के बिना नागरिक स्वतंत्रता कदापि उपयोगी नहीं हो सकती।

इन कामों के अतिरिक्त कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने और भी अनेक उपयोगी काम किये हैं। संयुक्त-प्रांत में घूसबंदी का नया महकमा स्थापित हुआ है। कांग्रेस-सरकार के पहले कुछ सरकारी महकमों में, ख़ास कर पुलिस और कचहरियों में खुल्लमखुल्ला रिश्वत ली जाती थी। आज कल परिस्थिति कुछ सुधरी हुई नज़र आती है। पुलिस के अत्याचारों में भी कमी दृष्टिगोचर होती है। शिक्षा का प्रचार किया जा रहा है,

और उसमें सुधार करने के लिए कई कमेटियां जांच पड़ताल कर रही हैं। स्थानीय स्वराज्य के भी महत्वपूर्ण परिवर्तन विचाराधीन हैं। शराब-बंदी की कोशिश की जा रही है, और इस कारण घटी हुई आमदनी की पूर्ति के लिए थिएटर, बाइसकोप, खेल और घुड़दौड़ के टिकटों पर सरकारी टैक्स लगाया गया है। कोर्ट-फीस बढ़ा दी गयी है और निर्धारित आमदनी वाले व्यक्तियों पर इंप्लॉयमेंट टैक्स लगाने का प्रस्ताव पास हो चुका है, पर अभी तक उसका अंतिम निर्णय नहीं हो पाया है। विरोधी सज्जन शायद उसे संघीय न्यायालय के सम्मुख अंतिम फैसले के लिए पेश करें।

कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों द्वारा किये गये उपर्युक्त काम भारतीय समस्याओं और कांग्रेस के पूर्व वादों को देखते हुए पर्याप्त तो नहीं है, पर वास्तव में वे इतने महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं और इतने अल्प समय में किये गये हैं, कि उनको यथेष्ट कहना अनुचित नहीं प्रतीत होता। यदि कांग्रेसी मंत्रि-मंडल इसी त्याग और परिश्रम से काम करते रहे, और अपने पद पर कुछ वर्षों टिक गये, तो ऐसा विदित होता है, कि सरकारी अफ़सरों का रवैया बिल्कुल बदल जायगा, और जनता के उभारने के अनेक काम किये जायँगे। किंतु इसके लिए समय की आवश्यकता है। जादूगर की तरह छूमंतर करके कांग्रेस सैकड़ों बरस पुराने शासन-संचालन के ढंग में, एक या दो बरस के अंदर क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं कर सकती।

कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों की कठिनाइयां—कांग्रेसी मंत्रि-मंडल अपने कामों में विघ्नरहित नहीं हैं। उन्हें अनेक कठिनाइयों का मुक़ाबला करना पड़ रहा है। उनमें से निम्नलिखित विशेपतया उल्लेखनीय हैं—

(अ) उदार वादे और कम समय—कांग्रेसवादियों ने पद-ग्रहण के पूर्व, विरोधी दल की हैसियत से सैकड़ों वादे किये थे। पुरानी सरकार के दोपों को दिखलाते हुए, भूतकाल में उन्होंने ऐसा रुख़ अख़्तियार किया था, कि सभी सुधारों की आशा उनसे की जा सकती है। कांग्रेस चुनाव-घोपणा में भी सभी महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख है। अतएव कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों को आवश्यकता से अधिक काम करना

पड़ रहा है और प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय में उनकी एक कमेटी जांच कर रही है। उन्हें शासन करते हुए अभी केवल दो ही बरस हुए हैं, पर लोगों की उम्मेदें इतनी ज्यादा हैं कि इस अल्प काल में ही वे दिये गये सारे वादों को पूरा करा लेना चाहते हैं। ऐसा होना इतनी जल्दी से संभव नहीं। मंत्रि-पद के कामों और सार्वजनिक व्याख्यानों में बड़ा भारी अंतर होता है, अतएव अपने उदार वादों, लोगों की आशाओं, अल्प समय, और मंत्रि-पद की जिम्मेदारियों की वजह से कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

(ब) वैधानिक संकटों की आशंका—कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की दूसरी कठिनाई वैधानिक संकटों की आशंका है। वे पूर्ण स्वतंत्रता के पक्ष-पाती हैं, और इसी उच्च आदर्श को हमेशा अपने सम्मुख रखते हैं। वे स्वाधीन देशों की प्रचलित प्रथाओं के अनुसार अपने प्रांतों का शासन-संचालन करना चाहते हैं। पर ऐसा करने में उन्हें कुछ कठिनाइयों का मुक़ाबला करना पड़ रहा है। प्रांतीय गवर्नर और कभी कभी भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों के कारण उनके सामने वैधानिक कठिना-इयां आ उपस्थित होती हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें अंत में वैधानिक संकटों का सहारा लेना पड़ता है। इन वैधानिक संकटों की वजह से शासन-संचालन की मनोवृत्ति, तुरंत ही भावी संग्राम की ओर जाने लगती है। सौभाग्यवश अभी तक जितने वैधानिक संकट हुए हैं वे समझौते द्वारा सुलझा लिये गये हैं पर यह बात निर्विवाद हैं कि उपर्युक्त वैधानिक संकटों या उनके भय के कारण कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

(स) सांप्रदायिक वैमनस्य—कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों की तीसरी कठिनाई का संबंध सांप्रदायिक वैमनस्य से है। हिंदू और मुसल्मानों के दंगे, भारतवर्ष की पुण्य भूमि को बहुत दिनों से रक्त-रंजित करते आये हैं। इन दंगों को दबाने में कांग्रेस मंत्रियों को अनोखी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। हिंदू संप्रदाय के लोग उन पर यह दोषारोपण करते हैं कि वे मुसल्मानों का पक्षपात करते हैं। मुसल्मान लोग कांग्रेस-सरकार को हिंदू सरकार कहते हैं, और उस पर अपने अधिकारों और हितों पर कुठाराघात करने का दोष लगाते हैं। इस

परिस्थिति में शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों द्वारा किया गया कोई काम बदनामी से बच नहीं सकता। तिस पर वैधानिक संकटों तक का सहारा लेकर कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने शांति और व्यवस्था की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली है। सांप्रदायिक दंगों की वजह यह जिम्मेदारी मखौल सी प्रतीत होती है। संतोष इसी बात का है कि इन दंगों की बाबत कांग्रेस की नीति निष्पक्ष रहती है। दोनों वर्गों द्वारा पक्षपात को दोषी ठहराया जाना, निष्पक्षता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(४) मजदूरों, किसानों आदि के आंदोलन—कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों की चौथी कठिनाई का संबंध मजदूरों और किसानों के आंदोलनों से है। इसमें संदेह नहीं कि कांग्रेस मजदूरों और किसानों की हालत सुधारने का वादा कर चुकी है और विद्यार्थियों को उन बंधनों से छुड़ाने का वादा जिनके कारण वे राजनीतिक कामों और आंदोलनों में भाग लेने के कारण दंडनीय समझे जाते थे। पर इन समुदायों ने अपने अपने आंदोलन चलाये हैं, और आये दिन हड़ताल और कभी भूख हड़ताल की नौबत आ जाती है। इनके कारण कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का काम बहुत ज्यादा बढ़ जाता है और उनको कुछ दिनों चिंतित अवस्था में रहना पड़ता है। कांग्रेसी मंत्री इन आंदोलनों को दबाना नहीं चाहते, पर वे इन आंदोलनों के प्रवर्तकों से यह प्रार्थना जरूर करते हैं, कि उनके काम और चिंता में अनावश्यक वृद्धि न की जाय। उनकी प्रार्थना प्रायः नहीं सुनी जाती, जिसके कारण उनकी कठिनाइयों की वृद्धि होती है।

संघ राज्य का विरोध—नये शासन-विधान का केंद्रीय अंश अब तक कार्य-रूप में परिणत नहीं हो पाया है। भारतीय लोकमत अब भी संघ राज्य की स्थापना का विरोधी है। मुस्लिम लीग, लिबरल फेडरेशन, हिंदू महासभा आदि सभी संस्थाओं ने संघ राज्य के विरोधात्मक प्रस्ताव पास किये हैं। कांग्रेस संघ राज्य को स्थापित होने के पूर्व दफ़ना देना चाहती है। समाजवादी दल प्रस्तावित संघ राज्य का कांग्रेस से भी ज्यादा विरोधी है। वाइसराय ने कुछ दिन हुए, यह घोषणा की थी कि शायद सन् १९४१ में संघ राज्य स्थापित हो जायगा। वाइसराय

और देशी नरेशों में इस विषय में पत्र-व्यवहार हो रहा है। बिना देशी नरेशों की सम्मति संघ राज्य स्थापित नहीं हो सकता है। पर अभी तक देशी नरेश भी प्रस्तावित संघ राज्य के अनुकूल नहीं हैं। वे अपने प्रवेश प्रार्थना-पत्र के मसविदे में ही अपनी स्थिति को अधिक से अधिक मज़बूत बना लेना चाहते हैं। इस मसविदे में कुछ संशोधन तो किया गया है, पर अभी तक वह देशी नरेशों के अनुकूल नहीं बन पाया है। जून सन् १९३९ में बंबई में देशी राज्यों के शासकों और दीवानों की एक परिषद् हुई थी जिसमें प्रस्तावित संघ राज्य को अस्वीकार करने के लिए निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुआ था—"परिषद् ने भारतीय संघ राज्य के परिवर्धित प्रवेश प्रार्थना-पत्र और उस संबंध के दूसरे काग़ज़ों पर विचार किया और यह निश्चय किया कि प्रवेश प्रार्थना-पत्र की शर्तें मौलिक रूप में असंतोषजनक हैं जैसा कि हैदरी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा है और ग्वालियर के परिषद् में समर्थन किया गया है। साथ ही परिषद् यह विश्वास करती है कि राज्यों के लिए सरकार संघ राज्य में शामिल होने का द्वार बंद न करेगी"। इस स्वीकृत प्रस्ताव से यह विदित होता है कि देशी रियासतें भी संघ राज्य में शामिल होने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हैं, और प्रस्तावित संघ अभी कुछ दूर है।

शासन-विधान में संशोधन का प्रस्ताव—अभी तक नया शासन-विधान पूर्ण रूप से कार्य-रूप में परिणत नहीं होने पाया है पर उसमें संशोधन करने का एक प्रस्ताव पार्लमेंट के विचाराधीन है। उसमें पंद्रह धाराएं हैं। कुछ धाराएं नियेमर रिपोर्ट के प्रस्तावों से संबंध रखती हैं, और कुछ संघीय न्यायालय और हाईकोर्ट से। सबसे अधिक महत्वपूर्ण धारा असाधारण परिस्थिति के नियमों में अधिक अधिकार देने वाली है। इसके अनुसार लड़ाई की हालत में नये लागू होने वाले नियमों पर रोक लग जायगी। इसके ज़रिये से संघीय इक्ज़ीक्यूटिव को यह अधिकार मिलता है कि वह प्रांतीय सरकारों को आदेश दे सके कि वे अपनी शक्तियों का किस प्रकार उपयोग करें। प्रस्तावित संशोधन से भी भारतीय लोकमत असंतुष्ट है। क्योंकि उसके कारण प्रांतीय स्वराज्य के अधिक परिमित हो जाने की आशंका है।

उपसंहार—नये शासन-विधान संबंधी उपर्युक्त विवरण से हमें यह विदित होता है कि उसके कुछ अंश तो कार्य-रूप में परिणत हो चुके हैं, और कुछ अभी तक केवल क़ानूनी रूप में हैं। संघ राज्य कब स्थापित होगा, और यदि स्थापित होगा तो किस रूप में, यह बतलाना अभी कठिन है। भारतीय लोकमत उसका विरोधी है, पर उसका प्रभाव कहां तक पड़ेगा यह बतलाना असंभव है। प्रांतीय स्वराज्य का भी अभी तक असली रूप निर्धारित नहीं हो पाया है। सरकार और कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों में इस विषय में कभी कभी संघर्ष हो जाता है, जिसकी वजह से वैधानिक संकटों की मदद से ही शासन-विधान का वास्तविक रूप निर्धारित होता है। ये वैधानिक संकट कब तक चलेंगे ? तब तक, जब तक शासन-विधान का वास्तविक रूप भारतीय लोकमत के अनुसार न हो जाय। लोकमत के कारण इंगलैंड के शासन-विधान के क़ानूनी और वास्तविक रूप में काफ़ी अंतर हो गया है। अंत में शायद भारतीय शासन-विधान की भी यही स्थिति हो।
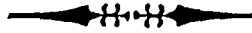
उन्नीसवां परिच्छेद

सन् १६३५ से १६३६ तक (२)

राष्ट्रीय जागृति

देशी रियासतों में हलचल—कांग्रेस और देशी रियासतें—जयपुर और राजकोट के मामले—हैदराबाद की विशेष समस्या—देशी रियासतें कहां हैं?—सांप्रदायिक समस्या—सांप्रदायिक समझौते की शर्तें—हिंदू-मुसलमानों के दंगे—मुस्लिम लीग के ध्येय और विधान में परिवर्तन—वाम पक्षी दलों का उत्कर्ष—कांग्रेस की परिस्थिति—अग्रगामी दल की उत्पत्ति और उसका कार्य-क्रम—कांग्रेस-विधान में संशोधन—उपसंहार।

देशी रियासतों में हलचल—इस पुस्तक के पांचवें परिच्छेद में हम देशी रियासतों के शासन के विषय में कुछ लिख चुके हैं। उसके पढ़ने से हमें यह विदित होता है कि अधिकांश देशी रियासतों में मध्यकालीन सामंतशाही का ज़ोर और नागरिक स्वतंत्रता का अभाव है। इस परिस्थिति की ज़िम्मेदारी, कुछ लोगों की राय में ब्रिटिश सरकार पर है। अपना साम्राज्य क़ायम रखने की गरज़ से, ब्रिटिश सरकार ने, भारतवर्ष को ब्रिटिश भारत और भारतीय भारत नाम के दो अप्राकृतिक हिस्सों में बांटा है, और निरंकुश देशी नरेशों को सहायता देकर इस बात की कोशिश की है कि बज़रिये उनके भारतवर्ष में ब्रिटिश आधिपत्य क़ायम रहे। इस कथन में कितनी सत्यता है, इस बात का ज्ञान पोलीटिकल विभाग के गुप्त काग़ज़ों से ही चल सकता है। पर हम इतना ज़रूर कह सकते हैं कि शायद ब्रिटिश सरकार ने प्रगतिशील रियासतों के उत्थान-मार्ग में कभी रोड़े अटकाने की ज़िम्मेदारी नहीं ली है, और कुछ वाइसरायों ने इस बात तक का प्रत्यक्ष संकेत किया है कि रियासतें अब पुरानी अवस्था में नहीं रह सकतीं। उन्हें प्रगतिशील समय के साथ स्वयं प्रगतिशील होना पड़ेगा। देशी रियासतों की प्रजा भी कभी कभी इसी तरह का इशारा करती रही हैं। पर नरेशों पर इन

संकेतों का विशेष असर न पड़ा और सन् १९३७ तक, इनी गिनी रियासतों को छोड़ कर, शेष रियासतें अपने मध्यकालीन रंग में रंगी रहीं।

रियासतों की तो मध्यकालीन राजनीतिक अवस्था रही, पर ब्रिटिश भारत का क्रमशः राजनीतिक विकास होता गया। सन् १९२० के पश्चात् द्वैध शासन-प्रणाली के द्वारा, प्रांतों में उत्तरदायी शासन आरंभ हुआ और सन् १९३७ में संरक्षणों सहित प्रांतीय स्वराज्य। राजनीतिक आंदोलनों के कारण प्रजा में अपूर्व जागृति, और उत्साह का प्रादुर्भाव हुआ। लोग स्वराज्य, आज़ादी, अधिकार आदि शब्दों से परिचित हो गये, और जो प्राथमिक अधिकार रियासतों में स्वप्नवत् हैं उनका उपयोग करने लगे। ब्रिटिश भारत की इस जागृति का प्रभाव रियासतों पर भी पड़ा। ब्रिटिश भारतीय प्रांतों से मिली हुई, या उनके मध्य में स्थित रियासतों पर यदि इस प्रकार का प्रभाव न पड़ता तो एक आश्चर्यजनक बात होती। फल-स्वरूप रियासतों की प्रजा ने भी शासन-सुधार की मांग आरंभ की। देशी, राज्य-प्रजा-सम्मेलन ने अपने प्रत्येक अधिवेशन में शासन-सुधार संबंधी प्रस्ताव पास किये, पर नरेशों पर उनका भी विशेष असर न पड़ा। अंत में रियासतों की प्रजा के सामने शासन-सुधार के लिए आंदोलन के सिवा दूसरा मार्ग न रह गया। सन् १९३५ से १९३९ तक भारतवर्ष की प्रायः प्रत्येक रियासत में राजनीतिक हलचल हुई और शासन-सुधार और नागरिक स्वाधीनता की मांग, सविनय अवज्ञा, और सत्याग्रह के ज़रिये से पेश की गयी।

इस अपूर्व परिस्थिति के कारण देशी नरेशों की सुख-निद्रा भंग हुई। प्रथम तो उन्होंने आंदोलन के दबाने की भरसक कोशिश की। नये नये काले क़ानून बनाये गये, प्रजा-मंडल ग़ैर-क़ानूनी घोषित किये गये, कार्यकर्ताओं को कारावास का दंड मिला, कुछ की जायदादें ज़ब्त की गयीं, और कहीं कहीं पर आंदोलनों में भाग लेने वाली जनता पर गोली चली। पर इस दमन से आज़ादी का आंदोलन बंद न हुआ, वरन् दिन पर दिन अधिकाधिक ज़ोर पकड़ता गया। अतएव कुछ नरेशों ने शासन-सुधार की व्यवस्था की, और कुछ ने इस विषय की जांच करने के लिए विधान-कमेटियां नियुक्त कीं। परंतु कुछ रियासतों

ने देशी राज्य-रक्षा-क़ानून को कार्य-रूप में परिणत करने की अपील की, और कहीं कहीं पर सेना के भेजे जाने की भी ख़बरें सुन पड़ीं। पर आंदोलन की लहर इन असाधारण कामों से भी न रुक सकी।

कांग्रेस और देशी रियासतें—आरंभ में देशी रियासतों के प्रति कांग्रेस की नीति उदासीनता की नीति थी। सन् १९२० तक, कांग्रेस ने रियासतों के विषय में जितने प्रस्ताव पास किये थे वे या तो नरेशों के संबंध में थे या नरेशों पर की गयी ब्रिटिश सरकार की ज़्यादतियों के संबंध में। सन् १९२० के अधिवेशन में कांग्रेस ने पहले पहल देशी नरेशों से आग्रहपूर्वक यह प्रार्थना की कि वे अपने अपने राज्यों में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की आयोजना करें। इसी अधिवेशन में देशी राज्यों की प्रजा को कांग्रेस कमेटियां स्थापित करने का अधिकार मिला। सन् १९२६ में, देशी नरेशों और उनकी प्रजा दोनों के हित की दृष्टि से, रियासतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना पर पुनः ज़ोर दिया गया और सन् १९२८ में उत्तरदायी शासन के साथ साथ, प्राथमिक अधिकारों की घोषणाएं करने का अनुरोध किया गया। द्वितीय गोलमेज परिषद् में, कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि की हैसियत से गांधी जी ने नरेशों से उत्तरदायी शासन स्थापित करने और नागरिक स्वतंत्रता की घोषणा करने का पुनः अनुरोध किया।

कांग्रेस देशी रियासतों से प्रार्थना और अनुरोध तो करती थी, किंतु वह देशी राज्यों की प्रजा और वहां के नरेशों के झगड़ों में स-क्रिय भाग लेने की विरोधिनी थी। गांधी जी के कथनानुसार यदि कांग्रेस देशी रियासतों में हस्तक्षेप करेगी तो वहां की प्रजा को नुक़सान पहुंचेगा। वे यह मानते थे कि "ब्रिटिश भारतीय प्रजा और देशी रियासतों की प्रजा के हित तो एक ही हैं, पर देशी नरेश इसे स्वीकार नहीं करते, और ब्रिटिश क़ानून और ब्रिटिश हथियार उनकी रक्षा में उद्यत हैं।" अतएव देशी रियासतों के प्रति तटस्थता की नीति ही सर्वोत्तम नीति समझी जाती थी। राजकोट के पूर्व गांधी जी इस नीति के इतने कट्टर समर्थक थे कि कांग्रेस कार्य-समिति द्वारा देशी नरेशों के दमन की निंदा भी उन्हें अवैधानिक और अनुचित प्रतीत होती थी। हरिपुरा कांग्रेस के पूर्व, कांग्रेस कार्य-समिति ने, वर्धा के अधिवेशन में देशी रियासतों में कांग्रेस

कमेटियों के बनने के प्रतिकूल निर्णय किया, और देशी नरेशों और उनकी प्रजा की लड़ाई में प्रजा को कांग्रेस का नाम उपयोग करने के अधिकार से वंचित कर दिया। कार्य-समिति के उपर्युक्त प्रस्ताव से बहुत से कांग्रेसवादी असंतुष्ट थे। अतएव हरिपुरा के खुले अधिवेशन में इस प्रश्न पर बड़ा वादविवाद हुआ और अंत में यह तय किया गया कि उस समय तक जिन रियासतों में कांग्रेस कमेटियां थीं उनको अपनी कांग्रेस कमेटियाँ बनाने का अधिकार रहे, पर उन पर सीधा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का नियंत्रण रहे। तटस्थता की नीति की अन्य बातें, हरिपुरा अधिवेशन में भी स्वीकृत हुईं।

कांग्रेस संस्था के रूप में तो तटस्थता की नीति के पक्ष में थी, पर बहुत से प्रभावशाली कांग्रेसवादी, इस नीति से पूर्णतया सहमत न थे। उनका विश्वास था कि समस्त भारत एक और अविभाज्य है और देशी रियासतों को साथ लिये बिना राष्ट्रीय स्वतंत्रता की ओर बढ़ना असंभव है। १६ मई, सन् १९३६ को देशी राज्य-प्रजा-सम्मेलन की अध्यक्षता में होने वाली एक सार्वजनिक सभा में श्री जवाहर लाल जी नेहरू ने इस विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे—"कांग्रेस की स्वतंत्रता की लड़ाई सारे देश के लिए है और वह इस बात को नहीं सहन कर सकती कि देशी राज्यों में मध्यकालीन सामंतशाही और अधिनायक-तंत्र क़ायम रहे। देशी राज्यों के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने का भार देशी राज्यों की प्रजा के ऊपर ही होगा परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि कांग्रेस उनकी मदद नहीं करेगी"। अगस्त सन् १९३६ में मछली-पट्टन में भाषण देते हुए डा० पट्टाभि सीतारामय्या ने देशी रियासतों के विषय में यह कहा था कि "देशी राज्यों की स्थिति पर कांग्रेस को यथेष्ट ध्यान देना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि देशी राज्यों की प्रजा को अपने साथ लिये बिना कोई व्यक्ति स्वराज्य की ओर एक पग भी नहीं बढ़ सकता।" बहुतेरे अन्य कांग्रेसवादी तटस्थता की नीति के खुल्लमखुल्ला विरोधी थे और कुछ उग्र राजनीतिज्ञ रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्तंभ समझ कर उनके मिटाने के पक्ष में थे। किंतु गांधी जी के प्रभाव के कारण, उपर्युक्त मतों के होते हुए भी, कांग्रेस की तटस्थता किंतु सहानुभूति की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन न हुआ।

जयपुर और राजकोट के मामले—इधर कांग्रेस तटस्थता और अहस्तक्षेप की नीति के अनुसार चल रही थी, और उधर देशी रियासतों में शासन-सुधार के आंदोलन चल रहे थे। क्रमशः नरेशों के दमन के कारण तटस्थता की नीति में कांग्रेसवादियों को कुछ परिवर्तनों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। राजकोट दरबार द्वारा प्रजा को दिये गये वचन की अवहेलना के कारण, सरदार पटेल ने राजकोट में दूसरी बारडोली बनाने की इच्छा प्रगट की। "जिस तरह मैंने बारडोली से ब्रिटिश भारत के किसानों के सामने एक सबक़ रखा था उसी तरह मैं राजकोट से तमाम देशी राज्यों की जनता के सामने एक सबक़ रखना चाहता हूं।" हरिपुरा कांग्रेस के रियासतों संबंधी प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि "अगर देशी रियासतों के निवासी सख्तियां झेल कर यह सिद्ध कर देते हैं कि वे अधिकार पाने के लिए उत्सुक हैं तो कांग्रेस उनकी मदद पर है। उनके आग लगाने पर कांग्रेस खड़ी तमाशा न देखती रहेगी। सारा भारतवर्ष राजकोट की मदद के लिए तैयार है।" दिसंबर सन् १९३८ में गांधी जी ने 'हरिजन' में देशी राज्यों के संबंध में एक महत्वपूर्ण लेख लिखा। उसमें तटस्थता की नीति की व्याख्या की गयी। गांधी जी ने यह घोषित किया कि "अगर देशी राज्यों में अनाचार इसी तरह बढ़ता रहा तो कांग्रेस की हस्तक्षेप न करने की नीति की रक्षा मुश्किल से हो सकेगी और यदि कांग्रेस यह अनुभव करेगी कि वह प्रभावपूर्ण तरीक़े से राज्यों के मामले में हस्त-क्षेप कर सकती है तो वह ज़रूर ऐसा करेगी।" देशी नरेशों को चेता-वनी देते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि वे "या तो अपना अस्तित्व मिटा देने के लिए बिल्कुल तैयार हो जायं या अपनी प्रजा को पूर्ण उत्तरदायी शासन के अधिकार दें और स्वयं उनके संरक्षक बनकर रहें तथा अपने परिश्रम के लिए पुरस्कार लें।" नेताओं के इस विचार-परिवर्तन के कारण, १४ दिसंबर, सन् १९३८ के अधिवेशन में कांग्रेस कार्य-समिति ने रियासतों की बाबत एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया जिसके संबंधित अंश इस प्रकार हैं—"कार्य-समिति रियासतों में नाग-रिक स्वतंत्रता और देशी रियासतों के अंतर्गत् उत्तरदायी शासन की मांग का समर्थन करती है और उनमें स्वतंत्रता और विचार प्रगट करने के अधिकार के लिए जो आंदोलन चल रहे हैं उनसे मतैक्य प्रगट करती

है······विशेपकर कार्य-समिति उन चंद शासकों के प्रयत्नों की निंदा करती है जो अपनी ही प्रजा के दमन के लिए भारतवर्ष की ब्रिटिश सरकार से सहायता ले रहे हैं। कार्य-समिति यह घोपणा करती है कि देशी रियासतों में उत्तरदायी सरकारों की मांग संबंधी जनता के उचित आंदोलन का दमन करने के लिए ब्रिटिश अधिकारियों से मांगी गयी फौज या पुलिस के अवांछनीय प्रयोग के खिलाफ़ जनता की रक्षा करना कांग्रेस का हक़ है।"

इतने पर भी देशी रियासतों की परिस्थिति दिन पर दिन बिगड़ती गयी। जयपुर दरबार ने सेठ जमनालाल बजाज को रियासत में आने से रोका, और आज्ञा भंग करने पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। राजकोट में भी सत्याग्रह ने जोर पकड़ा, और कुमारी मणी बेन, और श्रीमती कस्तूरी बाई गांधी जेल में बंद हो गयीं। ४ फरवरी, सन् १९३९ को गांधी जी ने वाइसराय से रियासतों के संबंध में अपील की। १० फ़रवरी तक रियासती आंदोलन में गांधी जी के नेतृत्व की चर्चा होने लगी। ११ फ़रवरी को जयपुर की चर्चा करते हुए गांधी जी ने 'हरिजन' में इस प्रकार लिखा, "कांग्रेस में जब तक दम है तब तक वह चुपचाप तमाशा नहीं देख सकती और जयपुर के लोगों को मानसिक तथा नैतिक भोजन के अभाव में मरने नहीं दे सकती, विशेप कर ऐसे समय जब उन्हें इस स्वाभाविक अधिकार से वंचित करने में ब्रिटेन की ताक़त से सहायता ली जा रही हो।" राजकोट की भी परिस्थिति क्रमशः बिगड़ती गयी। अंत में गांधी जी स्वयं समझौते की रक्षा के लिए वहाँ पधारे, और २ मार्च, सन् १९३९ को उन्होंने ठाकुर साहब को समझौते की रक्षा के लिए यह अल्टीमेटम दिया कि यदि २४ घंटे के अंदर संतोपजनक उत्तर न मिलेगा तो वे कोई जबरदस्त कार्रवाई करेंगे। ठाकुर साहब ने अल्टीमेटम की शर्तों को स्वीकार करने में असमर्थता प्रगट की। फल-स्वरूप ३ मार्च को गांधी जी ने अपना आमरण अनशन आरंभ किया। देश का कोना कोना विह्वल हो उठा। वाइसराय के हस्तक्षेप की चर्चा पहले ही से हो रही थी। कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने उन पर दबाव डालने के लिए वैधानिक संकट की आशंका पर जोर दिया। वाइसराय स्वयं परिस्थिति को संभालने के लिए शीघ्र ही दिल्ली लौटे। अधिपति-सत्ता के हस्तक्षेप के कारण साढ़े चार दिन के बाद गांधी जी का अनशन

समाप्त हुआ, और सारा मामला संघीय न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के पास निर्णय के लिए भेज दिया गया। तत्पश्चात् गांधी जी और वाइसराय की कई बार मुलाक़ात हुई, जिनमें कई महत्वपूर्ण गुत्थियां सुलझायी गयीं। प्रधान न्यायाधीश का फैसला भी गांधी जी के पक्ष में हुआ।

गांधी-वाइसराय मिलन के कुछ ही दिनों पश्चात् वाइसराय ने नरेंद्र-मंडल के अधिवेशन के आरंभ होने के अवसर पर देशी राज्यों संबंधी कई प्रश्नों की गंभीर आलोचना की। उन्होंने प्रचलित अशांति के विषय में नरेशों को गंभीर चेतावनी दी, और अयोग्य कर्मचारियों और व्यक्तिगत् अनावश्यक ख़र्चों पर ज़ोर देते हुए, यह बतलाया कि सब देशों की प्रजा शासन में उचित भाग लेने के लिए उत्सुक हो रही है और उसकी मांगों को यथोचित रूप में स्वीकार करना बहुत ही ज़रूरी है। उन्होंने देशी नरेशों को इस बात का भी स्मरण दिलाया कि अधिपति-सत्ता देशी नरेशों की ओर से उनके प्रजा-जनों को दिये जाने वाले अधिकारों के मार्ग में कभी किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालना चाहती। अंत में उन्होंने समस्त देशी नरेशों से यह अपील की, कि वे समष्टि रूप से उन नरेशों पर दबाव डालें जो अब भी ज़माने के इशारे को समझने में असमर्थ हैं और जिनके राज्य अब भी कुशासन के केंद्र बने हुए हैं। वाइसराय ने तो देशी नरेशों को उपर्युक्त चेतावनी दी, पर राजकोट संबंधी गांधी जी की जीत का संतोषजनक व्यावहारिक परिणाम न निकला। समस्या दिन पर दिन अधिकाधिक जटिल होती गयी। गांधी जी उसे सुलझाने के लिए एक बार फिर राजकोट पधारे। उनके ख़िलाफ उद्दंड प्रदर्शन हुआ, किंतु परिस्थिति सुलझने के लक्षण दृष्टिगोचर न हुए। इस समय के मर्मभेदी वक्तव्य में उन्होंने कहा कि "राजकोट ने मेरी जवानी लूट ली है। इसके पहले मैंने कभी यह नहीं जाना कि मैं बुड्ढा हूं। इस समय जीर्णता और वृद्धावस्था के भय से मैं अक्रांत हूं। मैंने कभी यह नहीं जाना कि आशा का त्याग क्या होता है किंतु अब ऐसा मालूम होता है कि राजकोट में मेरी आशा दफ़ना दी गयी।"

वाइसराय की वक्तृता, रियासतों की प्रजा के हिंसात्मक आचरण और राजकोट के अनुभव के कारण गांधी जी के विचारों में पुनः परिवर्तन हुआ। सबसे पहले उन्होंने राजकोट की समस्या सुलझाई। उन्हें ऐसा

प्रतीत हुआ कि राजकोट के अनशन में हिंसा का पुट था। "अनशन आरंभ करते हुए मैंने अधिपति-सत्ता के तत्काल हस्तक्षेप की मांग की थी।....यह अहिंसा एवं हृदय परिवर्तन का मार्ग नहीं है।....मेरा अनशन व्रत विशुद्ध हो इसके लिए यह आवश्यक था कि वह ठाकुर साहब के प्रति किया गया होता और अगर उसमें ठाकुर साहब और दरबार वीरवाला का दिल पिघल न जाता, तो मुझे मरने में ही संतोष करना चाहिये था"। अतएव उन्होंने प्रधान न्यायाधीश के निर्णय से कोई लाभ न उठाने और उसे छोड़ने का निश्चय किया, और ठाकुर साहब और उनके परामर्शदाताओं से यह अपील की कि वे अपनी प्रजा की उम्मेदों को पूरा करके और उसके भ्रमों को दूर करके, उसको संतुष्ट करें। इसके लगभग एक महीने पश्चात् उन्होंने रियासतों में सामूहिक सत्याग्रह के स्थगित करने की सलाह दी। "रियासतों में शीघ्र ही उत्तर-दायी सरकार स्थापित करने के लिए अभी वातावरण शुद्ध नहीं है। उन्हें उचित रीति से शिक्षित होना चाहिये। इस बात की आशा नहीं है कि मैं निकट भविष्य में कहीं भी सामूहिक सत्याग्रह की सलाह दूं। जनता न तो इस विषय में उचित रूप से शिक्षित ही है और न उसमें उचित मात्रा में अनुशासन ही है"। गांधी जी के इस परिवर्तन के कारण रियासती आंदोलन में शिथिलता आने लगी। पर अब तक आंदोलन पूर्ण रूप से बंद नहीं हुआ है। लोगों को अब भी व्यक्तिगत् सविनय अवज्ञा का अधिकार है, पर उसे अहिंसा के सिद्धांतों के अनुसार होना चाहिये।

हैदराबाद की विशेष समस्या—अन्य रियासतों की भांति हैदराबाद में भी हैदराबाद कांग्रेस कमेटी के आज्ञानुसार, राज-नीतिक अधिकारों के लिए सत्याग्रह आरंभ हुआ था, पर गांधी जी की सलाह के अनुसार वह स्थगित कर दिया गया है। इस सत्याग्रह के अतिरिक्त हैदराबाद में आर्य-सत्याग्रह नाम से एक दूसरा आंदोलन छिड़ा हुआ है। इसका उद्देश्य हिंदुओं के धार्मिक अधिकारों की रक्षा करना है। गत् कुछ वर्सों से आर्य-समाजियों को ऐसा प्रतीत होता था कि निज़ाम के राज्य में आर्य-समाजियों पर नाना प्रकार के बंधन लगे हुए हैं। अतएव उन्होंने अधिकारियों से प्रार्थनापूर्वक अधिकार-याचना की, किंतु इसका कुछ भी परिणाम न निकला। दिसंबर सन् १९३८ में आर्य-

कांग्रेस का अधिवेशन शोलापुर में हुआ जिसके निर्णय के अनुसार हैदराबाद में आर्य-सत्याग्रह आरंभ हुआ। हिंदू महासभा भी आर्य-समाज के उद्देश्यों से सहमत थी। अतएव ये दोनों संस्थाएं मिलकर आज भी हैदराबाद के आर्य-सत्याग्रह को चला रही हैं, और लगभग दस हज़ार आर्य-सत्याग्रही निज़ाम के जेलों में बंद हो गये हैं।

हैदराबाद-सत्याग्रह में आर्य-समाजी केवल धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर ही ज़ोर देते हैं। उनकी महत्वपूर्ण मांगें निम्नलिखित हैं—

(१) धार्मिक विचार और कार्यों के लिए पूर्ण आज़ादी हो।

(२) धार्मिक उपदेश देने और कथाओं के सुनाने, नगर-कीर्तन और जलूस निकालने, आर्य-समाज-मंदिर, यज्ञशाला और हवन-कुंड बनाने, ओ३म् झंडा फहराने, नये आर्य-समाज स्थापित करने, और वैदिक धर्म संबंधी साहित्य के छपाने की पूर्ण आज़ादी हो।

(३) धर्म-परिवर्तन में न तो रियासत का प्रत्यक्ष हाथ हो और न वह उसको प्रोत्साहित करे। जेलों के हिंदू क़ैदी, और स्कूलों के हिंदू छात्र मुसल्मान न बनाये जायँ। हिंदुओं के अनाथ बच्चे मुसल्मानों को न दिये जायँ।

(४) रियासत का धर्म-विभाग तोड़ दिया जाय। कम से कम हिंदू मंदिरों और हिंदुओं और आर्यों के मामले उसके अधीन न रखे जायं।

(५) आर्य-समाजियों के प्रतिकूल मौजूदा बंधन हटा लिये जायं और आर्य-उपदेशकों को रियासत में आज़ादी से आने दिया जाय।

(६) हिंदू और आर्य लड़कों और लड़कियों की प्राइमरी और सेकंडरी शिक्षा उनकी मातृभाषा में दी जाय।

(७) यदि हिंदू और आर्य लोग अपने व्यायाम-शाला स्थापित करना चाहें या लड़कों और लड़कियों की शिक्षा के लिए शिक्षालय स्थापित करना चाहें, तो उन पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाया जाय।

कथित कठिनाइयों के प्रतिकूल निज़ाम की सरकार की ओर से कई खंडन प्रकाशित किये जा चुके हैं। पर अभी तक आंदोलन जारी है। आर्य-समाजी जेलों में दुर्व्यवहार की शिकायतें करते हैं, और भारत-मंत्री और वाइसराय के हस्तक्षेप की प्रार्थना कर रहे हैं। कुछ मुसल्मानों ने

आर्य-सत्याग्रह के प्रतिकूल हैदराबाद में मुस्लिम सत्याग्रह की चर्चा शुरू की है। कई प्रांतीय सरकारों ने आर्य-समाजियों के मार्ग में कुछ रुकावटें डाली हैं पर अभी तक आंदोलन में किसी प्रकार की शिथिलता दृष्टि-गोचर नहीं होती।

आर्य-सत्याग्रह के विषय में कांग्रेस ने अहस्तक्षेप की नीति अख्तियार की है। गांधी जी की सलाह के अनुसार रियासतों में राजनीतिक सत्याग्रह सामूहिक रूप में निश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया है। वे रियासती मामलों में बाहरी हस्तक्षेप को नापसंद करते हैं। अतएव हैदराबाद-सत्याग्रह से न तो उनका किसी प्रकार का ताल्लुक़ है और न कांग्रेस का। ऐसा होना स्वाभाविक है। कांग्रेस अखिल भारतीय संस्था है। वह समस्त भारतवासियों के अधिकारों के लिए लड़ रही है। हैदराबाद का सत्याग्रह केवल हिंदुओं के धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकारों के लिए है अतएव कांग्रेस का उसके साथ किसी प्रकार का संबंध होना देश की मौजूदा परिस्थिति में अनुचित सा प्रतीत होता है।

देशी रियासतें कहां हैं ?—देशी रियासतों की उपर्युक्त हलचल की जानकारी हासिल करने के बाद हमें यह जान लेना चाहिए कि इस समय देशी रियासतें किस स्थिति में हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि देशी रियासतों की मौजूदा स्थिति प्रायः वही है जो हलचल आरंभ होने के पूर्व थी। कुछ रियासतों में जैसे औंध उत्तरदायी शासन स्थापित कर दिया गया है। कुछ में विधान-कमेटियां नये विधानों का मसविदा तैयार कर रही हैं, पर साधारण तौर पर देशी नरेशों ने अभी तक अपनी प्रजा को शासनाधिकार नहीं दिया है। इस समय परिस्थिति शासनाधिकार देने के अनुकूल है। अधिपति-सत्ता के प्रतिनिधि की हैसियत से वाइसराय ने उन्हें शासन-सुधार की चेतावनी दी है। रियासतों के आंदोलन स्थगित हो गये हैं और गांधी जी ने रियासतों की प्रजा को यह सलाह दी है कि वह अपने नरेशों से समझौता करके शासन-सुधार की कोशिश करे। ऐसे अवसर पर देशी नरेशों को उदार भाव से काम करके, जनता की मांग को स्वीकार करना चाहिये। आशा की जाती है कि भारतीय राजे महाराजे इस स्वर्ण अवसर को हाथ से न जाने देंगे।

सांप्रदायिक समस्या—सांप्रदायिक समस्या भारतवर्ष की एक कठिन समस्या है। इसका संबंध विशेषकर हिंदुओं और मुसल्मानों के परस्पर संबंध से है। पिछले परिच्छेदों में हम बतला चुके हैं कि कांग्रेस के आरंभ में अधिकांश मुसलमान उससे अलग रहे थे, और सन् १९०६ में उन्होंने मुस्लिम लीग की स्थापना की थी। सन् १९१६ में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की बाबत कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता हुआ, और सन् १९१९ में ख़िलाफ़त के प्रश्न के संबंध में हिंदू मुस्लिम समस्या हल होती हुई दिखलायी पड़ी। परंतु तीन ही चार बरस पश्चात् सांप्रदायिक दंगे पुनः आरंभ हुए और सन् १९२५ तक परिस्थिति इतनी बिगड़ गयी कि गांधी जी तक को यह स्वीकार करना पड़ा कि इन झगड़ों के शांत करने की शक्ति उनमें नहीं है। गोलमेज़ परिषदों में भी यह समस्या इतनी ही कष्टकर बनी रही, और परस्पर समझौता न हो सकने के कारण प्रधान-मंत्री को इसका निर्णय करने के लिए पंच नियुक्त किया गया। अपने सांप्रदायिक निर्णय में उन्होंने मुसल्मानों और हरिजनों को पृथक निर्वाचनाधिकार दिया। मुसल्मानों और हरिजनों के अतिरिक्त, समस्त भारतीय लोकमत ने इस निर्णय का विरोध किया। पूना-पैक्ट के द्वारा सांप्रदायिक निर्णय का वह अंश जिसका संबंध हरिजनों से था भारतीय लोकमत के अनुसार संशोधित कर दिया गया। पर मुसल्मानों से संबंध रखने वाले अंश के विषय में अब भी मतभेद है। हिंदू-मुस्लिम समस्या को जटिल बनाने में, अन्य कारणों के साथ साथ सांप्रदायिक निर्णय का भी कुछ हाथ है।

सांप्रदायिक निर्णय द्वारा सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व क़ायम रखा गया है, परंतु सब प्रांतों के अल्प-संख्यक जन-समुदायों के साथ समानता का व्यवहार नहीं किया गया है। जिन प्रांतों में मुसल्मान अल्प-संख्या में हैं, वहां के लेजिस्लेचरों में उनको जन-संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया है। परंतु जिन प्रांतों में हिंदू अल्प-संख्या में हैं वहां उनको ऐसा अधिकार नहीं मिला है। इस विषय में बंगाल और पंजाब के उदाहरण उल्लेखनीय हैं। बंगाल और पंजाब का हिंदू लोकमत सांप्रदायिक निर्णय के इस भाग को अनुचित समझता है और उसके संशोधन के पक्ष में है। हिंदू महासभा और राष्ट्रीय दल उनकी इस मांग का समर्थन करते हैं। कांग्रेस संपूर्ण सांप्रदायिक निर्णय

को अनुचित समझती है पर वह उसका विरोध नहीं करती। वह विभिन्न संप्रदायों की परस्पर सद्भावना से ही सांप्रदायिक निर्णय में संशोधन कराने के पक्ष में है। किंतु मुस्लिम लीग, और बंगाल और पंजाब का मुस्लिम लोकमत मुसल्मानों के अधिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में है और सांप्रदायिक निर्णय के इस अंश का संशोधन अनुचित समझता है। इस मतभेद के अतिरिक्त अधिकांश मुसल्मान कांग्रेस को हिंदू संस्था समझते हैं और कांग्रेस राज्य को हिंदू राज्य। उनका ख्याल है कि जिन प्रांतों में कांग्रेसी शासन है वहां पर मुसल्मानों को दबाया जा रहा है। कुछ मुसल्मान पृथक मुस्लिम राष्ट्र की बातचीत करते हैं। बहुतों की इच्छा है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग बराबर की संस्थाएं समझी जायं और कांग्रेस के झंडे के साथ साथ मुस्लिम लीग का भी झंडा फहराया जाय। कांग्रेस इनमें से कुछ बातों का खंडन करती है और कुछ को अस्वीकार, जिसके कारण ऐसा प्रतीत होता है कि सांप्रदायिक समस्या के हल होने में अभी कुछ देर है।

सांप्रदायिक समझौते की शर्तें—सन् १९३६-३९ तक सांप्रदायिक समस्या के हल करने के लिए गांधी जी, श्री जवाहर लाल जी नेहरू, हिज़ हाईनेस दि आग़ा खां, बाबू राजेंद्र प्रसाद, मिस्टर जिन्ना, और श्री सुभाष बोस में कई बार पत्र-व्यवहार और मिलन हुआ। इस पत्र-व्यवहार के पढ़ने से यह मालूम होता है, कि सांप्रदायिक समझौता करने के पहले मुस्लिम लीग निम्नलिखित शर्तों का पूरा होना आवश्यक समझती है—

(१) मुस्लिम लीग की उन चौदह शर्तों की स्वीकृति जो १९२९ में निर्धारित की गयी थीं।

(२) कांग्रेस न तो सांप्रदायिक निर्णय का विरोध करे और न उसे राष्ट्रीयता का विरोधी बतलावे।

(३) सरकारी नौकरियों में मुसल्मानों का हिस्सा शासन-विधान द्वारा निश्चित कर दिया जाय।

(४) क़ानून द्वारा मुसल्मानों के जाती क़ानून और संस्कृति की रक्षा की जाय।

(५) कांग्रेस शहीदगंज की मस्जिद वाले आंदोलन में भाग न ले और

अपने नैतिक दबाव से उसके मिलने में मुसल्मानों की सहायता करे।

(६) मुसल्मानों की अज़ान और धार्मिक रेवाज की स्वाधीनता के अधिकार में किसी प्रकार की रुकावट न डाली जाय।

(७) मुसल्मानों को गौ-कुशी की आज़ादी मिले।

(८) प्रांतों के पुनर्वितरण से उन प्रदेशों में कोई परिवर्तन न किया जाय, जहां पर आजकल मुसल्मान बहु-संख्या में हैं।

(९) 'वंदे मातरम्' गीत का परित्याग कर दिया जाय।

(१०) मुसल्मान लोग उर्दू को भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं अतएव न तो उर्दू का प्रयोग कम किया जाय और न उसे किसी प्रकार का धक्का ही पहुंचे।

(११) स्थानीय संस्थाओं में मुसल्मानों का प्रतिनिधित्व सांप्रदायिक निर्णय के आधार पर हो।

(१२) तिरंगा झंडा या तो बदल दिया जाय या मुस्लिम लीग के झंडे को बारी बारी से बराबर का स्थान मिले।

(१३) यह मान लिया जाय कि मुस्लिम लीग मुसल्मानों की एकमात्र अधिकार-प्राप्त और प्रतिनिधि संस्था है।

(१४) संयुक्त मंत्रि-मंडल स्थापित किये जायं।

श्री जवाहरलाल जी नेहरू ने अपने ६ अप्रैल, सन् १९३८ वाले पत्र में इन सब शर्तों पर अपने विचार प्रगट किये, और कांग्रेस के रुख को भी स्पष्ट किया। उनके उत्तर के पढ़ने से यह विदित होता है कि वह हिंदू लोकमत की अवहेलना करके भी मुसल्मानों को मिलाने के पक्ष में थे। वे मुसल्मानों के गो-कुशी संबंधी मौजूदा अधिकार की रक्षा करना चाहते थे, और 'वंदे मातरम्' गीत के कुछ पदों को राष्ट्रीय मंच पर न गाने देने से सहमत थे। तिरंगे झंडे को राष्ट्रीय झंडा मानते हुए भी सांप्रदायिक वैमनस्य के भय से, वे मुसल्मानों द्वारा किये गये उसके अपमान को दुख से बरदाश्त करने को तैयार थे और इस बात पर भी कि वे मुस्लिम लीग के झंडे से किसी प्रकार हस्तक्षेप न करेंगे, चाहे उसके फहराने का अवसर बिल्कुल ही अनुपयुक्त क्यों न हो। इन सब बातों

के विषय में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि उनके विचार कांग्रेस के थे, और इसके लिए उन्होंने संबंधित कांग्रेस, या कार्य-समिति के प्रस्तावों का हवाला भी दिया। इतने पर भी समझौता न हो सका। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के दृष्टि-कोणों में ही विरोध है और जब तक मनोवृत्ति में परिवर्तन न हो विरोध का घटना बहुत संभव सा नहीं प्रतीत होता।

हिंदू-मुसल्मानों के दंगे—गत दस बरसों में सांप्रदायिक समस्या के हल करने के लिए इतने सम्मेलन और मिलन और इतना पत्र-व्यवहार हुआ कि समझौता न होने के कारण, जनता को ऐसा प्रतीत होने लगा कि दोनों वर्गों के मूल सिद्धांतों में ही विरोध है। वास्तव में ऐसा नहीं है। मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों का अंतिम ध्येय और उद्देश्य एक ही है। यदि विरोध है तो वह दोनों वर्गों के दृष्टि-कोण में है। इसी विरोध की वजह से हिंदू और मुसल्मान कभी कभी नागरिक भाव के प्रतिकूल पाशविक वृत्तियों का नग्न रूप दिखलाने लगते हैं। सन् १९३५ से ३९ तक भारतवर्ष के कई नगरों और शहरों (हज़ारीबाग, फ़िरोज़ाबाद, बंबई, जबलपूर, लाहौर, कानपूर, बनारस आदि) में सांप्रदायिक दंगे हुए जिनमें निरपराध लोगों की हत्या की गयी। निर्दयता के व्यवहार का हाल पढ़कर दिल दहल उठता है। सैकड़ों निर्दोष स्त्री और पुरुष, बालक और बालिकाएं गुंडों के शिकार बने। मकानों में आग लगायी गयी, मंदिरों और मस्जिदों का अपमान किया गया और धर्म के नाम पर ईश्वर द्वारा बनाये गये ईश्वर को पूजने वाले लोगों के रक्त से धरा रंजित की गयी। मनुष्य की पाशविक वृत्ति का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। पर मौजूदा परिस्थिति में रोग असाध्य सा दिखायी पड़ता है। उसके साध्य होने के लिए यह आवश्यक है कि हिंदुओं और मुसल्मानों में नागरिक भाव का संचार हो, दोनों दलों के उत्तरदायी नेता शांति क़ायम रखने का हृदय से उद्योग करें, दोनों वर्गों के सहयोग से गुंडे पकड़े जायं, अपराधियों के बचाने का प्रयत्न न किया जाय, मिथ्या शिकायत करने वालों और दंगे में भाग लेने वाले लोगों को उदाहरणीय दंड मिले, पुलिस में पक्षपात का दोष न आने पाये, और शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए कठोर से कठोर दंड देने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट न की जाय। कांग्रेसी मंत्रि-मंडल इसी

नीति का अनुशीलन कर रहे हैं। पर परिस्थिति के कारण मुसलमान और हिंदू दोनों उन्हें पक्षपात का दोषी ठहराते हैं। यह दोषारोपण ही उनकी निष्पक्षता का प्रमाण है।

मुस्लिम लीग के ध्येय और विधान में परिवर्तन— पूर्व परिच्छेदों में हम बतला चुके हैं कि सन् १९०६ में मुस्लिम लीग एक सांप्रदायिक संस्था के रूप में स्थापित की गयी थी, और सन् १९१३ में वह एक राजनीतिक संस्था बन गयी थी जिसका ध्येय अन्य उद्देश्यों को खंडित किये बिना "सम्राट के अधीन वैधानिक आंदोलन द्वारा भारतवर्ष के लिए उपयुक्त स्वराज्य प्राप्त करना" था। सन् १९३७ में, लीग के उद्देश्य में पुनः परिवर्तन हुआ। उस साल लीग द्वारा स्वीकृत संबंधित प्रस्ताव का भावार्थ निम्नलिखित है—"मुस्लिम लीग का ध्येय स्वतंत्र प्रजातंत्रों के संघ के रूप में भारतवर्ष के लिए पूर्ण स्वाधीनता का प्राप्त करना है। इस संघ राज्य में मुसलमानों और दूसरे अल्पसंख्यक जन-समुदायों के हितों और अधिकारों की शासन-विधान द्वारा ही पूर्ण रूप से रक्षा की जायगी"। इसी साल मुस्लिम लीग के विधान में भी महत्व-पूर्ण संशोधन हुए। मुस्लिम लीग की कौंसिल के सदस्यों की संख्या ३१० से बढ़ा कर ४६५ कर दी गयी, और सदस्यता की फ़ीस १२ रुपये सालाना से घटा कर ६ रुपये सालाना कर दी गयी। कौंसिल के सदस्यों का चुनाव अब प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रीति से होने को था, अर्थात् जिला लीग के सदस्य प्रांतीय लीग के सदस्यों को चुनने को थे, और प्रांतीय लीग के सदस्य लीग की अखिल भारतीय कौंसिल के सदस्यों को। लीग की सदस्यता की फ़ीस एक रुपया सालाना से घटा कर दो आना सालाना कर दी गयी। इसके लगभग एक बरस पूर्व नये शासन-विधान के अंतर्गत् चुनाव लड़ने के लिए, ३५ सदस्यों के केंद्रीय पार्लमेंटरी बोर्ड की स्थापना की गयी थी। मिस्टर जिन्ना इसके स्थायी सभापति चुने गये थे, और उन्हें प्रांतीय पार्लमेंटरी बोर्डों के स्थापित करने और केंद्रीय पार्लमेंटरी बोर्डों के सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार मिला था। लीग के पार्लमेंटरी कार्यक्रम का भावार्थ निम्नलिखित है—

(१) मुसलमानों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा करना।

(२) दमनकारी नियमों के रद करने की भरसक कोशिश करना।

(३) उन सब प्रस्तावों को रद् करना जो भारतीय हित के विरोधी हैं, जिनका जनता के प्राथमिक अधिकारों पर कुप्रभाव पड़ता है, और जिनकी वजह से, भारतवर्ष का आर्थिक शोषण किया जा सकता है।

(४) केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के शासन-संबंधी खर्चे को घटाना और राष्ट्र-निर्माण विभागों को अधिक रुपया देना।

(५) सेना का भारतीयकरण करना और उसका खर्च घटाना।

(६) भारतीय उद्योग-धंधों की, जिनमें घरेलू दस्तकारियां भी शामिल हैं, उन्नति करना।

(७) देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से मुद्रा, विनिमय, और मूल्य का नियंत्रण करना।

(८) देहाती आबादी की सामाजिक, आर्थिक, और शिक्षा की उन्नति की कोशिश करना।

(९) किसानों के ऋण घटाने वाले प्रस्तावों को पास कराना।

(१०) अनिवार्य निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा का प्रबंध करना।

(११) उर्दू भाषा और लिपि की रक्षा करना और उसका प्रचार करना।

(१२) मुसलमानों की साधारण स्थिति सुधारने की कोशिश करना।

(१३) टैक्सों के भार को घटाना, प्रभावशाली लोकमत को स्थापित करना, और राजनीतिक जागृति को बढ़ाना।

उपर्युक्त विवरण से हमें विदित होता है कि मुस्लिम लीग के प्राचीन और मौजूदा ध्येय और कार्यक्रम में बड़ा भारी अंतर हो गया है। सांप्रदायिक हितों की रक्षा और नव-शासन-विधान के विध्वंश को छोड़ कर, राष्ट्र-निर्माण संबंधी कार्यक्रम में मुस्लिम लीग और कांग्रेस में विशेष अंतर नहीं है। पूर्ण स्वाधीनता दोनों संस्थाओं का ध्येय है। इसी से यह प्रत्यक्ष है कि मुसलमान लोग राजनीतिक क्षेत्र में दिन पर दिन आगे बढ़ते जा रहे हैं। कभी कभी वे सत्याग्रह आदि के रूप में कांग्रेस के काम करने के ढंग को अपनाते हैं। मुसलमानों का एक दल जिसे राष्ट्रीय मुस्लिम दल कहते हैं, कांग्रेस का एक अंग है और उसकी नीति और कार्यक्रम के अनुसार चलता है। मुसलमानों की उपर्युक्त राजनीतिक जागृति भारतवर्ष के लिए अंत में हितकर प्रतीत होती है। राज-

नैतिक जागृति जितनी ही ज्यादा होगी, सांप्रदायिक दृष्टिकोण में उतनी ही कमी होगी; और अंत में भारतीय राष्ट्र के रूप में भारतवर्ष संसार का एक महान् स्वतंत्र देश होगा, जिसका हिंदुओं और मुसल्मानों दोनों को अभिमान होगा।

वाम पक्षी दलों का उत्कर्ष—लोकमान्य तिलक के कथनानुसार वे मनुष्य जो आज गरम दल के समझे जाते हैं कल नरम दल के हो जाते हैं। एक समय था जब भारतवर्ष के उदारवादी नेता उग्रवादी समझे जाते थे। परंतु सन् १९०७ में ऐसा प्रतीत होने लगा कि वे सुधारवादी हो गये हैं, और लोकमान्य तिलक के अनुयायी ही उग्रवादी कहे जा सकते हैं। सन् १९२० में असहयोगियों के कारण लोकमान्य तिलक और उनके अनुयायी भी नरम दल के समझे जाने लगे हैं, और गत् चार बरसों में गांधी जी और उनके अनुयायी नरम दल के कहे जाने लगे हैं, और कांग्रेस-समाजवादी, वर्गवादी और रायवादी गरम दल के। उनको क्रमशः दक्षिण पक्षी और वाम पक्षी दल भी कहते हैं।

भारतवर्ष में वाम पक्षी दलों की उन्नति उद्योग-धंधों की उन्नति के साथ साथ हुई। महासमर काल में, जब युरुप के कारखाने युद्ध-सामग्री के तैयार करने में लगे थे, भारतवर्ष को व्यापारिक एवं व्यावसायिक उन्नति करने का अवसर मिला और महंगी की वजह से मील-मालिकों को मज़दूरों की वेतन, बोनस आदि की मांगों को स्वीकार करना पड़ा। सन् १९२० में अखिल भारतीय ट्रेड युनियन कांग्रेस की स्थापना हुई और यहीं से मज़दूर-आंदोलन तथा संगठन की बुनियाद पड़ी। महासमर के पश्चात् भारतीय और युरोपीय उद्योग-धंधों की प्रतिस्पर्धा के कारण, भारतीय मील-मालिकों का मुनाफ़ा घटा, और उन्होंने इस घटी की पूर्ति मज़दूरों की तनख्वाह और बोनस आदि को कम करके करना चाहा। मज़दूरों ने पुनः हड़ताल आदि की धमकी दी। समझौते के प्रयत्न असफल सिद्ध हुए, और वे लोग जो मज़दूरों की समस्या को सुधारवादी आंदोलनों से हल करना चाहते थे, अपने काम में असफल हुए।

सन् १९२७ में मज़दूर-आंदोलन ने राजनीतिक क्षेत्रों में भी काम करना आरंभ किया। उन्होंने भारतवर्ष की अन्य संस्थाओं के समान

साइमन कमीशन का विरोध एवं बहिष्कार किया। इसी साल कम्यूनिस्ट-पार्टी के लोग भी संगठित रूप से मजदूर-आंदोलन में सम्मिलित हुए। ये लोग सुधारवादी तरीक़ों के विरोधी थे और श्रेणी-युद्ध के ज़रिये से ही मजदूरों की अवस्था को सुधारना चाहते थे। साथ ही कुछ कांग्रेस के लोग भी मजदूर-आंदोलन की सहायता करने लगे। सन् १९२७ में कम्यूनिस्ट और उपर्युक्त कांग्रेसी सज्जनों का, ट्रेड युनियन कांग्रेस की नीति निर्धारित करने में काफ़ी हाथ था। किंतु उपर्युक्त तीनों दलों का यह मेल बहुत दिनों तक न चल सका। सैद्धांतिक मतभेद के कारण सुधारवादी, और कम्यूनिस्ट एवं कांग्रेसवादी एक साथ काम न कर सकते थे। अतएव सन् १९२९ में मजदूर-आंदोलन दो हिस्सों में बंट गया। सुधारवादियों ने अपनी संस्था का नाम ट्रेड युनियन फेडरेशन रखा, और कम्यूनिस्ट और कांग्रेसवादियों ने अपनी संस्था का नाम ट्रेड युनियन कांग्रेस। क्रमशः कम्यूनिस्ट और कांग्रेसवादियों में भी मत-भेद हुआ। कम्यूनिस्ट दल के लोग सत्याग्रह के विरोधी थे। दोनों के कार्यक्रम की अन्य बातों में भी मतभेद था। फल-स्वरूप सन् १९३१ में कम्यूनिस्ट पार्टी के लोग भी ट्रेड युनियन कांग्रेस से अलग हो गये। इस प्रकार मजदूर-आंदोलन के तीन दल हो गये—(१) सुधारवादी दल, (२) कम्यूनिस्ट दल, (३) वे कांग्रेसवादी जो मजदूर-आंदोलन के समर्थक थे।

सन् १९३२ में, जब सत्याग्रह स्थगित हो गया, उग्रवादियों का एक दल कांग्रेस में सम्मिलित हुआ। यह मार्क्सवाद में विश्वास करता था, किंतु कम्यूनिस्ट दल की भांति कांग्रेस का विरोधी न था। इसमें वे कांग्रेसवादी भी शामिल थे, जो सन् १९२७ से मजदूर-आंदोलन में भाग ले रहे थे। इस दल का नाम कांग्रेस समाजवादी दल पड़ा। नाम के साथ कांग्रेस शब्द लगाने के दो कारण थे—(१) वर्गवादी दल की भांति यह कांग्रेस का विरोधी न था, और (२) यह कांग्रेस के अंतर्गत अपने कार्यक्रम को पूरा करना चाहता था। क्रमशः इस दल का प्रभाव बढ़ता गया। लखनऊ कांग्रेस में राष्ट्रपति की हैसियत से श्री जवाहर लाल जी ने समाजवाद पर ज़ोर देते हुए कहा कि भारतवर्ष की ग़रीबी, गुलामी और बेकारी के अंत करने का एकमात्र तरीक़ा समाजवाद है। सन् १९३६ में अखिल भारतीय समाजवादी दल का तृतीय वार्षिकोत्सव,

कांग्रेस के साथ फैज़पूर में हुआ, और उसमें अन्य महत्वपूर्ण प्रस्तावों के अतिरिक्त यह निश्चत हुआ कि किसानों और मजदूरों के दुख को दूर करने, एवं साम्राज्यवाद के विरोध की नींव को मज़बूत करने की ग़रज़ से कांग्रेस-समाजवादी-दल के सदस्य कौंसिलों में प्रवेश करें। फलस्वरूप सन् १९३७ के निर्वाचन में कांग्रेस समाजवादी दल ने चुनाव में काफ़ी हिस्सा लिया और कौंसिलों की बहुत सी जगहें समाजवादियों के हाथ में आ गयीं। पर मंत्रि-पद से वे अलग रहे। मंत्रि-पद ग्रहण करने में इस बात की आशंका थी, कि उनके उग्रवादी विचारों का खात्मा हो जायगा, और, वे सुधारवादी विचारों के हो जायंगे। कांग्रेस को भी इस ख़तरे से बचाने के लिए समाजवादियों का मंत्रि-पद से अलग रहना आवश्यक था।

सन् १९३६ से भारतवर्ष में किसान-आंदोलन ने भी ज़ोर पकड़ा। अखिल भारतीय किसान कांग्रेस का पहला अधिवेशन लखनऊ में हुआ, और दूसरा फैज़पूर में। किसान-आंदोलन के समर्थक भी उग्रवादी कहे जाते हैं, और उनमें से बहुत से कांग्रेस समाजवादी दल के साथ हैं। किसान-आंदोलन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(अ) आर्थिक शोषण से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करना और किसान, मज़दूर एवं अन्य शोषित वर्गों को आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति दिलाना।

(ब) किसानों को संगठित करना, और तत्कालीन आर्थिक और राजनीतिक मांगों के लिए लड़ना, ताकि अंत में वे सब प्रकार के शोषण से बरी हो जायं।

(स) स्वाधीनता के राष्ट्रीय युद्ध में भाग लेकर, अंत में उत्पादन करने वाले वर्गों को आर्थिक और राजनीतिक शक्ति दिलाना।

उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किसान आंदोलन चाहता है कि बकाया लगान और मालगुज़ारी माफ़ कर दी जाय, मालगुज़ारी और लगान में ५० प्रतिशत् कमी की जाय, अपना ऋण चुकाने के लिए किसानों को उचित मोहलत मिले, कर्ज़ के लिए गिरफ़्तारी और जेल में भेजा जाना बंद कर दिया जाय, ब्याज की दर निर्धारित की जाय, पोस्ट कार्ड का दाम एक पैसा कर दिया जाय, इत्यादि इत्यादि। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किसान सभाएं जलूस निकालती हैं, लगानबंदी की धमकी देती हैं, और कभी कभी सत्याग्रह आरंभ करने की घोषणा करती हैं। कहा

जाता है कि ट्रेड युनियन कांग्रेस के अंतर्गत् मज़दूर सभाएं और किसान कांग्रेस के अंतर्गत् किसान सभाएं, कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों को अपना रचनात्मक काम उस शांति से नहीं करने देतीं, जो उसकी सफलता के लिए आवश्यक है।

फैज़पूर कांग्रेस के पश्चात् कांग्रेस में समाजवादी दल का स्थान और प्रभाव बढ़ता गया। सन् १९३७ में समाजवादी दल को कार्य-समिति में स्थान मिला, और यह अवस्था सन् १९३९ तक रही। इस साल श्री सुभाष बोस के पुनर्निर्वाचन के कारण, वाम पक्षी और दक्षिण पक्षी दलों में मतभेद हुआ, जिसके कारण वाम पक्षी दल के सदस्यों ने कार्य-समिति में शामिल होना नामंज़ूर किया। वाम पक्षी दलों का ख्याल है, कि कांग्रेसी मंत्रि-मंडल सुधारवादी होते जाते हैं। उनमें लड़ाई की अग्नि बुझ सी गयी है। अतएव वे किसी प्रकार का सरोकार न रखने की धमकी से कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों और दक्षिण-पक्षियों को सतर्क एवं सावधान रखते हैं। उनका यह दावा कुछ अंश में ठीक है। पर भारतीय कांग्रेस कमेटी के जुलाई सन् १९३९ वाले प्रस्तावों के कारण इस बात की आशंका है कि कांग्रेस के दक्षिण पक्षी और वाम पक्षी दलों में फूट हो जाय। ऐसा होना देश की मौजूदा परिस्थिति में राष्ट्रीय उत्थान के लिए बहुत ही अहितकर सिद्ध होगा।

मज़दूर और किसान आंदोलन, ट्रेड युनियन कांग्रेस, अखिल भारतीय किसान कांग्रेस एवं अनेक अन्य संबंधित संस्थाएं इस बात की द्योतक हैं, कि राष्ट्रीय जागृति अब मध्य श्रेणी के मनुष्यों तक ही सीमित न रह कर मज़दूरों और किसानों तक फैल गयी है। यदि इस जागृति को अधिक व्यापक बनाया जाय, और इन संस्थाओं एवं आंदोलनों से अनुशासन-पूर्वक काम लिया जाय, तो यह आशा निर्मूल नहीं है कि भारतवर्ष शीघ्र ही अपने निर्दिष्ट ध्येय को प्राप्त कर लेगा।

कांग्रेस की परिस्थिति—पिछले परिच्छेद और इस परिच्छेद में हम कांग्रेस की नीति और परिस्थिति से संबंध रखने वाली कई महत्वपूर्ण बातों की व्याख्या कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित तीन बातें ऐसी और हैं जिनकी जानकारी कांग्रेस परिस्थिति के वास्तविक ज्ञान के लिए परमावश्यक है—

(१) राष्ट्रपति का चुनाव—सन् १९३८ में श्री सुभाष चंद्र जी बोस राष्ट्र-पति चुने गये थे। सन् १९३९ में प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों ने राष्ट्र-पति के पद के लिए श्री सुभाषचंद्र बोस, श्री अब्दुल कलाम आज़ाद और डा० पट्टाभि सीतारामय्या की सिफ़ारिश की। इनमें से मौलाना आज़ाद ने अपना नाम डा० पट्टाभि सीतारामय्या के पक्ष में वापस कर लिया। कांग्रेस कार्य-समिति में इस प्रश्न पर बिना कुछ विचार हुए, २४ जनवरी सन् १९३९ को कार्य-समिति के सात सदस्यों ने एक वक्तव्य निकाला जिनमें राष्ट्र-पति, कार्य-समिति, निर्वाचन आदि कई महत्वपूर्ण बातों की व्याख्या की गयी थी, और डा० पट्टाभि सीतारामय्या के निर्विरोध निर्वाचन के लिए श्री सुभाष बोस से अपने निर्णय पर पुनर्विचार करने की प्रार्थना की गयी थी। वक्तव्य की निम्नलिखित बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(अ) राष्ट्र-पति का चुनाव बहुत दिनों से निर्विरोध होता आया है।

(ब) जब तक कोई विकट परिस्थिति उत्पन्न न हो जाय तब तक राष्ट्र-पति को दुबारा न चुना जाना चाहिये।

(स) कांग्रेस के कार्य-क्रम और उसकी नीति को या तो स्वयं कांग्रेस निर्धारित करती है या कांग्रेस कमेटी। राष्ट्र-पति का स्थान केवल वैध अध्यक्ष का सा है। राष्ट्रपति केवल राष्ट्र की एकता का प्रतीक है। इस वक्तव्य से सहमत न हो कर श्री सुभाष बोस ने अपने वक्तव्य में निम्नखिलित बातों पर ज़ोर दिया—

(अ) राष्ट्र-पति का चुनाव निश्चित समस्या और कार्य-क्रम के आधार पर लड़ा जाना चाहिये।

(ब) कांग्रेस के इतिहास में कितने ही व्यक्ति एक से अधिक बार राष्ट्र-पति चुने गये हैं।

(स) राष्ट्र-पति का स्थान वैध अध्यक्ष का सा न हो कर अमरीका के राष्ट्र-पति का सा है।

(द) सन् १९३४ के पश्चात् वाम पक्षीय, दोनों पक्षों के समर्थन से राष्ट्र-पति चुना गया है। संघ राज्य के विरोध के लिए इस बार भी वाम पक्षीय का होना आवश्यक है।

इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अन्य नेताओं ने भी अपने विचार प्रगट किये। गांधी जी ने श्री सुभाष बोस को उम्मेदवार न रहने के लिए तार भेजा, पर न तो वे उम्मेदवारी से हटे और न डा० पट्टाभि सीतारामय्या। फल-स्वरूप वोट पड़ना अनिवार्य हो गया। श्री सुभाष बोस को १५८० वोट मिले और डा० पट्टाभि सीतारामय्या को १३७७ वोट। २०३ अधिक वोटों से श्री सुभाष बोस राष्ट्र-पति चुने गये।

निर्वाचन का नतीजा तो श्री सुभाष बोस के पक्ष में हुआ, पर इसकी वजह से राजनीतिक वायुमंडल में काफ़ी उलझन उत्पन्न हो गयी। कार्य-समिति के तेरह पुराने सदस्यों ने अपना इस्तीफ़ा दे दिया। यह आशा कि गांधी जी अथवा नेहरूजी समझौता करा सकेंगे, निर्मूल सिद्ध हुई। त्रिपुरी कांग्रेस का अधिवेशन मेघाच्छादित वायुमंडल में हुआ। गांधी जी उसमें शरीक न हो सके। राष्ट्रपति स्वयं रोगग्रसित थे। उनके प्रतिकूल अविश्वास के प्रस्ताव की भी सूचना दी गयी थी। कांग्रेस ने कार्य-समिति-निर्माण के विषय में यह प्रस्ताव पास किया कि श्री सुभाष बोस गांधी जी के परामर्श से कार्य-समिति के सदस्यों को मनोनीत करें। पर गांधी जी और श्री सुभाष बोस में मतैक्य न हो सका। अंत में राष्ट्रपति को अपना पद त्यागना पड़ा और उनके स्थान पर डा० राजेंद्र प्रसाद जी राष्ट्रपति चुने गये।

राष्ट्रपति के निर्वाचन संबंधी उपर्युक्त विवरण को पढ़ने के बाद हमें यह जान लेना चाहिये कि वास्तविक परिस्थिति क्या थी। इसमें संदेह नहीं कि इस अवसर के पूर्व कई व्यक्ति राष्ट्रपति के पद के लिए एक से अधिक बार चुने गये थे, और श्री जवाहर लाल जी नेहरू लगातार दो बरस तक राष्ट्रपति के पद पर रहे थे। इस हद तक श्री सुभाष बोस का पक्ष मज़बूत था। पर निर्विरोध निर्वाचन की प्रथा बहुत दिनों से चल पड़ी थी, और उसकी रक्षा न करना अनुचित था। साथ ही राष्ट्र-पति की मर्यादा के लिए यह आवश्यक था, कि उनका निर्वाचन दूसरी बार निर्विरोध हो, चुनाव लड़कर नहीं। श्री जवाहर लाल जी का दूसरा निर्वाचन निर्विरोध हुआ था। राष्ट्रपति की महत्ता और उनके दूसरी बार चुने जाने की आवश्यकता का प्रमाण उनका निर्विरोध निर्वाचन होता। पर परिस्थिति ऐसी न थी, और इस लिए राष्ट्रपति के लिए उम्मेदवार

होना अनुचित था। इसके अतिरिक्त गांधी जी भी उनके साथ न थे। उन्होंने तार द्वारा राष्ट्रपति को पुनर्वार न खड़े होने की सलाह दी थी। गांधी जी के सलाह को न मानना राष्ट्रपति के लिए विवेकयुक्त न था। भारतवर्ष की मौजूदा परिस्थिति में गांधी जी के नेतृत्व के बिना कांग्रेस अपना काम सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। तिस पर राष्ट्रपति ने कार्य-समिति के सदस्यों के प्रतिकूल कुछ लांछन लगाये थे। वे न तो उनका प्रमाण ही देने को तैयार थे, और न उनको वापस करके पश्चाताप प्रगट करने को। साथ ही वे उन्हीं लोगों को कार्य-समिति में भी रखना चाहते थे। भला यह कैसे हो सकता था? कांग्रेस की एकता के लिए यह आवश्यक था, कि राष्ट्रपति अपने सहयोगियों से मिल कर चलते, उन्हें बदनामी से बचाते, और यदि स्वयं उन्होंने कुछ भूल की होती, तो उसे स्वीकार करने में संकोच न करते। गांधी जी तो अपनी ग़ल्तियों को हमेशा स्वीकार कर लेते हैं, और बिना किसी प्रकार के आग्रह के उनके लिए क्षमा तक मांग लेते हैं। यदि राष्ट्रपति भी ऐसा ही करते, तो शायद वह परिस्थिति न आती, जिसकी वजह से आज कांग्रेस में फूट के चिह्न दृष्टि-गोचर हो रहे हैं, और जिसकी जिम्मेदारी श्री सुभाष बोस के सर पर मढ़ी जा रही है। कार्य-समिति के पुराने और अधिक अनुभवी कार्य-कर्ताओं के लिए भी यह आवश्यक था, कि वह राष्ट्रपति से अधिक सहयोग करते, और उनके पुनर्निर्वाचन के बाद अधिक उदार भाव से काम करते। पर ग़ल्तियां दोनों ओर से हुई, और अब भी होती जा रही हैं। एक पक्ष सिद्धांतयुक्त किंतु अव्यावहारिक सख्ती से काम ले रहा है, और दूसरा पक्ष क़ानूनी किंतु विवेकरहित अधिकारों की रक्षा की हठ से। इसकी वजह से कांग्रेस का अनुशासन भंग हो रहा है, और यद्यपि इस बात की आशंका नहीं है, कि इस परिस्थिति के कारण कांग्रेस को भारी धक्का पहुंचेगा, तो भी मौजूदा परिस्थित में, कांग्रेस की एकता से देश को अधिक लाभ पहुंचता, यह बात भी निर्विवाद है।

(२) अग्रगामी दल की उत्पत्ति और उसका कार्य-क्रम—राष्ट्रपति के पद से इस्तीफ़ा देने के पश्चात् श्री सुभाष बोस ने ३ मई सन् १९३९ को कांग्रेस के अंतर्गत् एक अग्रगामी दल चलाने की घोषणा की। अपने कलकत्ते के भाषण में उन्होंने कहा कि इस दल का उद्देश्य उन लोगों को एकत्र करना है जो उग्र विचार वाले एवं साम्राज्यवाद के

विरोधी हैं। "यह दल कांग्रेस का अंग रहेगा, उसके वर्तमान विधान, लक्ष्य, नीति और कार्य-क्रम को मानेगा, महात्मा गांधी के व्यक्तित्व का सम्मान करेगा और उनके अहिंसात्मक असहयोग के राजनीतिक सिद्धांत में पूर्ण विश्वास रक्खेगा"। जून के आखिरी सप्ताह में बंबई में अग्रगामी दल का प्रथम सम्मेलन हुआ और उसमें उसका कार्य-क्रम निर्धारित किया गया। राजनीतिक कार्य-क्रम की निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) कांग्रेस को स्थिर स्वार्थ वाले अमीर लोगों से बचाना;

(२) ऐसी कोशिश करना जिससे कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का कांग्रेस पर प्रभुत्व स्थापित न होने पाये।

(३) कांग्रेस को जनतावादी तथा उग्रवादी बनाना,

(४) किसान-आंदोलन को मदद देना;

(५) कांग्रेस तथा अन्य साम्राज्यशाही विरोधी संस्थाओं में एकता स्थापित करना,

(६) अखिल भारतीय स्वयंसेवक दल बनाना;

(७) देशी रियासती जनता के आंदोलनों में उसकी सहायता करना;

(८) संघ शासन का बग़ैर समझौता किये विरोध करना;

(९) साम्राज्यवादी महायुद्ध में भारतवर्ष को शामिल न होने देने का प्रचार करना;

(१०) विदेशी कपड़ों का बहिष्कार कराना;

(११) आजादी की लड़ाई को शीघ्र ही आरंभ करने की तैयारी करना।

सुभाष बोस का ख्याल है कि कांग्रेस के दक्षिण पक्षी क्रांतिवादी न रह कर सुधारवादी हो गये हैं, वैधानिक आंदोलनों में यक़ीन करने लगे हैं, क्रांति को तिलांजलि दे चुके हैं और लड़ने का नाम तक नहीं लेना चाहते, यद्यपि लड़ाई का यह बहुत ही उपयुक्त मौक़ा है और राष्ट्र इसके लिए तैयार है।

कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों की कार्रवाइयों, और कांग्रेस के योग्य एवं अनुभवी नेताओं, जिसमें गांधी जी भी शामिल हैं, के रुख़ को देखकर श्री सुभाष बोस के हृदय में राष्ट्रपति के पद से इस्तीफ़ा देने के पश्चात्

ही से क्रांति एवं क्रांतिवादियों के खतरे में होने का भय उत्पन्न हुआ है। श्री सुभाष बोस लगातार बारह महीने राष्ट्रपति के पद पर थे और जिन कांग्रेस-वादियों को आज वह सुधारवादी कह रहे हैं, वे ही उनके मंत्रिमंडल के सदस्य थे। यदि वे भारतीय राष्ट्रपति के स्थान को अमरीका के राष्ट्रपति सा समझते थे, तो अपने कार्य-काल में उन्हें सुधारवादियों का विरोध करना चाहिये था, और उस विरोध की सूचना सर्वसाधारण को देना चाहिये था। श्री सुभाष बोस ने उस समय ऐसा नहीं किया। उस समय उग्र दलों को एक मंच पर लाने की चर्चा तक न हुई। अतएव राष्ट्रपति न रहने के बाद ही इस दल के स्थापित करने की घोषणा विवेकयुक्त नहीं प्रतीत होती। साथ ही वे सब उग्रगामी दलों को मिलाना चाहते हैं। शायद यह आशा भी वास्तविकता न धारण कर सके। श्री सुभाष बोस, कांग्रेस अनुशासन की कार्रवाइयों से असंतुष्ट लोगों को भले ही मिला लें, पर अग्रगामी दलों की मौजूदा परिस्थिति में इस बात की उम्मेद बहुत कम है कि रायवादी, वर्गवादी, समाजवादी आदि पुराने दल, अग्रगामी दल के रूप में एक भाव से प्रेरित हो कर कोई महत्वपूर्ण काम कर सकेंगे। सुभाष बाबू का ख़्याल है कि कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने अपने कार्य-क्रम को पूरा नहीं किया है। उनमें क्रांति की अग्नि बुझ सी गयी है और वे सुधारवादी हो गये हैं। यह दोषारोपण कुछ अनुचित सा प्रतीत होता है। कांग्रेसी मंत्रि-मंडल अब भी लड़ाई के मार्ग पर हैं। यदि यह न होता, तो वैधानिक संकटों की क्या आवश्यकता थी? यदि वे कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कार्य-क्रम के अंतर्गत् रचनात्मक काम कर रहे हैं, तो उनका दोष ही क्या है? शायद यह कि काम की गति बड़ी मंद है। वादे उदार हैं पर उनका अमल अपर्याप्त है। ऐसा होना तो अनिवार्य था। सरकारी दल में विरोधी दल का जोश नहीं हो सकता। उत्तरदायित्व का भार पदाधिकारियों के जोश को उपयुक्त सीमा के अंदर रखता है। किसी कार्य-क्रम को पूरा करने के लिए समय की भी आवश्यकता होती है। कांग्रेसी मंत्रि-मंडल जादूगर की तरह छू-मंतर कहकर अपने काम को एक मिनट में पूरा नहीं कर सकते। रह गयी लड़ाई की बात। यह कोई आदमी नहीं कह सकता, कि कांग्रेस ने युद्धबंदी की घोषणा कर दी है। स्वाधीनता की घोषणा के बाद से लेकर आज तक युद्ध जारी है। वह समय के अनुसार विभिन्न स्थानों पर लड़ा

जा रहा है। अनुभवी कांग्रेसवादियों का ख्याल है कि अनुशासन की कमी की वजह से उसे मौजूदा परिस्थिति में अधिक व्यापक एवं उग्र बनाना ठीक नहीं है। श्री सुभाष बोस उसे अधिक व्यापक बनाना चाहते हैं। उनका ख्याल है कि राष्ट्र युद्ध के लिए तैयार है। तैयारी की कमी केवल नेताओं में ही है। गांधी जी, श्री जवाहर लाल जी नेहरू, सरदार पटेल आदि के प्रतिकूल यह दोषारोपण विवेकयुक्त नहीं प्रतीत होता। रह गयी राष्ट्र की तैयारी। कदाचित यह कहना अनुचित न होगा कि इस विषय की जानकारी गांधी जी को अन्य नेताओं की अपेक्षा कहीं ज्यादा है। सिपाहियों के कहने से ही युद्ध को अधिक व्यापक बनाना ठीक नहीं। युद्ध अधिक व्यापक बनाने के पूर्व यह जान लेना चाहिये कि जीत की संभावना किसके पक्ष में है? कांग्रेसवादियों में अनुशासन की कमी, और गंदगी की वजह से ऐसा विदित होता है, कि मौजूदा परिस्थिति में जब तक एकता और उत्साह उत्पन्न करने वाली कोई महत्वपूर्ण बात न आ जाय, कांग्रेस की हालत युद्ध को अधिक व्यापक बनाने के योग्य नहीं है। उग्रवादी होने और लड़ाई छेड़ने के सिवा, अग्रगामी दल और कांग्रेस के कार्य-क्रम में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं। इन बातों को देखने से हमें यह विदित होता है कि मौजूदा हालत में कांग्रेस के अंतर्गत् अग्रगामी दल की स्थापना विवेकरहित, अनुपयुक्त, और अनावश्यक सी दिखायी पड़ती है। कांग्रेस के अंतर्गत् रहकर, कांग्रेस कमेटियों की अध्यक्षता में, कांग्रेस कार्य-समिति या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रस्ताव का सर्वसाधारण के सम्मुख विरोध करना कांग्रेस की जड़ को हिलाने की व्यर्थ कोशिश करना है। ऐसा करना कम से कम उस व्यक्ति के लिए शोभनीय नहीं प्रतीत होता, जो इस परिस्थिति के चार महीने पूर्व राष्ट्रपति के पद पर था, और उस हैसियत से अपने विचारों से कार्य-समिति और सर्वसाधारण को प्रभावित कर सकता था।

(३) कांग्रेस-विधान में संशोधन—जुलाई सन् १९३९ के पहले सप्ताह में भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक महत्वपूर्ण बैठक बंबई में हुई। उसमें कई ऐसे प्रस्ताव पास हुए जिनके कारण देश की राजनीतिक परिस्थिति में पुनः उलझन पैदा हो गयी है। संबंधित प्रस्ताव निम्नलिखित हैं—

(१) "कोई मेंबर धारा (अ) और (ब) वाली योग्यता रखने पर भी तब तक कांग्रेस का प्रतिनिधि या प्रांतीय अथवा जिला कांग्रेस कमेटी का मेंबर चुना जाने लायक़ न होगा जब तक चुनाव में खड़े होने के समय लगातार तीन बरस तक कांग्रेस का मेंबर न रह चुका हो। शर्त यह रही कि वह ऐसी ही किसी दूसरी कमेटी का मेंबर न हो। प्रांतीय कांग्रेस कमेटी को अख़्तियार होगा कि वह किसी व्यक्ति को सन् १९३९ और १९४० के चुनाव के लिए ऊपर लिखी योग्यता की शर्त से बरी कर सकती है।"

इस प्रस्ताव के संबंध में कई संशोधन पेश हुए। उनमें से एक स्वीकृत संशोधन के अनुसार विदेशी कपड़े या ब्रिटिश माल के व्यापारी और शराब पीने और बेचने वाले लोग उपर्युक्त कमेटियों के लिए उम्मेद-वार नहीं हो सकते। इस प्रस्ताव का मंशा कांग्रेस को अवसरवादी लोगों से बचाना है, और उन लोगों से भी, जो उसमें गंदगी फैलाने में सहायता पहुंचा सकते हैं।

(२) "वह आदमी किसी निर्वाचित कांग्रेस कमेटी का कोई पदा-धिकारी या सदस्य न होने पावेगा जो किसी ऐसी सांप्रदायिक संस्था का सदस्य हो जिसका उद्देश्य और कार्य-क्रम ऐसी कारवाई का है जो कार्य-समिति की राय में राष्ट्रीयता-विरोधी और कांग्रेस-विरोधी है।"

(३) "भारतीय कांग्रेस कमेटी की यह बैठक निश्चय करती है कि कोई कांग्रेस-जन संबंध रखने वाली प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की पहले से इजाज़त लिये बिना हिंदुस्तान के प्रांतों में न तो सत्याग्रह करे और न उसके लिए संगठन करे"।

प्रस्तावक महोदय के कथनानुसार इस प्रस्ताव का मंशा यह था कि कांग्रेस-जनों की सहायता से ही कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का बल न घटाया जा सके। "सत्याग्रह बंद नहीं किया जा रहा है। जहां आवश्यकता होगी सत्याग्रह करने की अनुमति दी जायगी। पर लोगों को पहले अपनी शिकायतों को प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों के सामने रखना चाहिये" उग्र नेताओं ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। श्री सुभाष बोस के कथनानुसार प्रस्ताव का मंशा किसानों और मज़दूरों के आंदोलनों पर रुकावट डालना है। कई संशोधन पेश हुए परंतु अंत में ६० के

विरुद्ध १३० मतों से मूल प्रस्ताव पास हो गया। प्रस्ताव के संबंध में "सत्याग्रह" शब्द की व्याख्या का होना परमावश्यक है। यदि "सत्याग्रह" शब्द का प्रयोग गांधी जी के अर्थ में किया गया है, तो इस प्रस्ताव का किसान और मज़दूर आंदोलनों पर किसी प्रकार का कुप्रभाव नहीं पड़ सकता, किंतु यदि सत्याग्रह शब्द हड़ताल, प्रदर्शन, आदि का पर्यायवाची शब्द समझा गया है, तो किसान और मज़दूर-आंदोलनों पर इसका कुप्रभाव ज़रूर पड़ेगा, और उग्रवादियों के लिए उसका विरोध करना आवश्यक एवं अनिवार्य हो जायगा।

(४) "यह कमेटी इस बात पर बार बार ज़ोर देती रही है कि मंत्रि-मंडल, कांग्रेस पार्टी तथा प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों में आपस में सहयोग हो। बिना सहयोग के ग़लतफ़हमी पैदा होगी और कांग्रेस का असर घटेगा। शासन के मामलों में प्रांतीय कांग्रेस कमेटी को मंत्रियों को स्वाधीनता देना चाहिये, परंतु वह निजी तरीक़े से मंत्रियों का ध्यान किसी भी ग़ल्ती या कठिनाई की ओर आकृष्ट करा सकती है। नीति के विषय में यदि मंत्रि-मंडल तथा प्रांतीय कांग्रेस कमेटी में मतभेद हो, तो पार्लमेंटरी उपसमिति को इसका हवाला देना चाहिये। ऐसे मामलों की सार्वजनिक चर्चा नहीं करना चाहिये"।

यह प्रस्ताव भी कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों को परेशानी से बचाने के लिए पास हुआ है। सत्याग्रह संबंधी पूर्वोक्त प्रस्ताव के अनुसार कांग्रेस-जन कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों को सत्याग्रह करके या सत्याग्रह को संगठित करके बाहर से परेशान नहीं कर सकते। इस प्रस्ताव के अनुसार शासन संबंधी बातों में कांग्रेसी मंत्रि-मंडल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के निरीक्षण एवं नियंत्रण से मुक्त कर दिये गये हैं। कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों की रक्षा का यह प्रयत्न उनके रचनात्मक कार्य-क्रम को पूरा करने और नये विधान को लड़ने के लिए आवश्यक है। परंतु रक्षा देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इस संरक्षित हालत में कांग्रेसी मंत्रि-मंडल लोकमत के अनुसार चलते रहें, और अनुशासन के नाम पर अंध-विश्वास पर ज़ोर न दिया जाय। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के उपर्युक्त प्रस्तावों के कारण कुछ लोगों को इस बात की आशंका है और उनकी आशंका बिल्कुल निर्मूल नहीं है,

कि शायद भविष्य में सत्याग्रह आरंभ करना असंभव हो जाय। यदि सत्याग्रह की कभी आवश्यकता प्रतीत होगी, तो वह सरकारी नीति एवं कामों की वजह से होगी। प्रांतीय कांग्रेस कमेटी, प्रांतीय मंत्रि-मंडलों के शासन में अब हस्तक्षेप नहीं कर सकती। सत्याग्रह की आज्ञा देना प्रांतीय शासन में हस्तक्षेप करना होगा। अतएव भविष्य में प्रातीय कांग्रेस कमेटियों के सामने केवल एक ही रास्ता रहेगा। वह है मंत्रि-मंडलों का साथ देना, और इस लिए सत्याग्रह की आज्ञा देने से इनकार कर देना। यदि भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रस्तावों का यही मंशा है तो यह आशंका बिल्कुल निर्मूल नहीं, कि अनुशासन के नाम पर आवश्यकता पड़ने पर शायद अंध-विश्वास पर ज़ोर दिया जाय और मज़दूर और किसान आंदोलनों को अनुचित धक्का लगे।

उपसंहार—राष्ट्रीय जागृति के उपर्युक्त चार बरस के इतिहास को पढ़ने के पश्चात् यह कहना निर्विवाद है कि देश के कोने कोने में अब राष्ट्रीय जागृति का प्रसार हो चुका है। सभी जगह जागृति के चिह्न देख पड़ते हैं। सभी जगह उलझन है और अधिकारों की लड़ाई की बातचीत हो रही है। सभी जगह आज़ादी की चर्चा छिड़ी हुई है। पर इस जागृति से ही हमारा उद्धार नहीं हो सकता। इसको अनुशासित करके हम अपने निर्दिष्ट ध्येय को प्राप्त कर सकते हैं। बिना अनुशासन के हमारी पराजय होगी, पर अनुशासन के साथ संचालित लड़ाई में हमारी विजय होगी। किंतु अनुशासन विवेकयुक्त होना चाहिये। अनुशासन के नाम पर व्यक्तिगत् स्वाधीन विचारों को दबाना अनुचित है। अनुशासन और अंध विश्वास में ज़मीन आसमान का अंतर है।
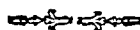
की नीति का उपयोग करती थी, और भारतवासियों को अपने विचारों तक के प्रगट करने की स्वाधीनता न थी। आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज आदि की वजह से धार्मिक और सामाजिक सुधार की चर्चा शिक्षित समुदायों में जरूर चल पड़ी थी, पर राजनीतिक सुधारों की सार्वजनिक बातचीत तक न होती थी। ऐसी अवस्था में लोकतंत्र के उपयुक्त लोकमत का होना असंभव था। पर सन् १८८५ से यह स्थिति बदल गयी कांग्रेस के जन्म के साथ साथ भारतवर्ष के राजनीतिक लोकमत का भी जन्म हुआ। अन्य संस्थाओं ने भी लोकमत के उभारने की कोशिश की। फल-स्वरूप आज भारतीय लोकमत को प्रगट करने वाली अनेक संस्थाएं और सैकड़ों समाचार-पत्र और पत्रिकाएं हैं। भारतीय नेता भी उसे आजादी से प्रगट करते हैं, और निर्वाचन में स्वतंत्रतापूर्वक वोट देकर जनता स्वयं लोकमत को प्रगट करती है।

भारतीय लोकमत और शासन-सुधार—इस पुस्तक के पढ़ने से हमें यह विदित होता है कि भारतीय शासन-पद्धति का क्रमशः विकास हुआ है। क्या इस विकास में भारतीय लोकमत का भी कुछ प्रभाव था? और यदि था तो किस हद तक? विदेशी सरकार बिना दबाव पड़े शासनाधिकार को छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं हो सकती। जो मनुष्य या राष्ट्र ताकत का मजा चख लेता है, वह खुशी खुशी अपनी ताकत और उस पर निर्भर लाभ को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हो सकता। यही हाल भारतवर्ष की विदेशी सरकार का भी है। बरसों के निरंतर परिश्रम एवं त्यागों के पश्चात् आज भी हमारी शासन-पद्धति उस तरीके की नहीं है, जिस तरीके की भारतीय लोकमत के अनुसार उसको होना चाहिये था। जिन सुधारों को हम सन् १८८५ से मांगते आये हैं, उनमें से कुछ तो आज तक स्वीकृत हो चुके हैं, और कुछ के लिए हमको आज भी निष्फल आंदोलनों का आश्रय लेना पड़ रहा है। इससे हमें यह विदित होता है कि शासन-सुधार पर भारतीय लोकमत का परोक्ष रीति से प्रभाव तो पड़ा है, पर अब तक वे सब सुधार नहीं हो पाये हैं जिनका होना लोकमत के अनुसार आवश्यक था।

उदाहरणार्थ निम्नलिखित सुधारों की मांग या किये गये सुधार पेश किये जा सकते हैं—

(१) भारत-मंत्री की कौंसिल—कांग्रेस ने सन् १८८५ में ही भारत-मंत्री की कौंसिल को तोड़ने का प्रस्ताव पास किया था। इस विषय का स्वीकृत प्रस्ताव इस प्रकार था—"इस कांग्रेस की राय है कि [भारतीय शासन-विधान में] किसी भी प्रकार का सुधार होने के पहिले यह आवश्यक है कि भारत-मंत्री की कौंसिल, जिस रूप में वह इस समय है तोड़ दी जाय।" उदारवादी नेताओं और भारतीय व्यवस्थापक सभा ने भी कौंसिल के तोड़ने के पक्ष में अपने विचार प्रगट किये। पर इस सुधार को करने के लिए ब्रिटिश सरकार को लगभग ५२ बरस लगे। सन् १९३७ में भारत-मंत्री की कौंसिल तोड़ी गयी है, और उसके स्थान में भारत-मंत्री का विभाग स्थापित हुआ है।

(२) प्रतियोगी परीक्षाएं एवं नौकरियों का भारतीयकरण—प्रतियोगी परीक्षाओं और नौकरियों के भारतीयकरण की भी यही हालत है। भारतीय कांग्रेस सन् १८९१ में ही यह चाहती थी कि प्रतियोगी परीक्षाएं इंगलैंड के साथ साथ भारतवर्ष में भी हुआ करें। सन् १९०४, १९०५ और १९०६ के अधिवेशनों में भारतीय कांग्रेस ने नौकरियों के भारतीयकरण पर ज़ोर दिया था। अन्य संस्थाओं और भारतीय नेताओं के भी ऐसे ही विचार थे। पर ब्रिटिश सरकार इन सुधारों को भी उस समय न कर सकी जिस समय वे मांगे गये थे। भारतवर्ष में प्रतियोगी परीक्षाएं सन् १९२० से आरंभ हुई हैं और यद्यपि कुछ नौकरियां आजकल भारतवासियों के हाथ में है, तो भी अखिल भारतीय नौकरियों के भारतीयकरण में आज भी लोकमत के अनुसार परिवर्तन नहीं किया गया है।

(३) फ़ौजी ख़र्च की कमी—भारतीय लोकमत बहुत दिनों से फ़ौजी ख़र्च का विरोधी रहा है और फ़ौज के भारतीयकरण पर भी ज़ोर देता रहा है। भारतीय कांग्रेस ने अपने कई अधिवेशनों में इस संबंध के प्रस्ताव किये हैं। इनमें से सन् १८८५, १८९१, १८९२, और १८९९ के पास किये गये प्रस्ताव विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं। पर अभी तक इस संबंध में कोई संतोषजनक कार्रवाई नहीं की गयी है। फ़ौजी ख़र्च आज भी उतना ही ज्यादा है जितना पहले था, और भारतीय सेना में आज भी ब्रिटिश सिपाहियों का अस्तित्व है। फ़ौज

के इस खर्च के कारण राष्ट्र-निर्माण के विभागों को उतना रुपया नहीं मिल पाता, जितना देश की मौजूदा हालत के देखते हुए आवश्यक प्रतीत होता है। यदि भारतीय लोकमत के अनुसार भारतीय फ़ौज का भारतीयकरण किया जाय, तो योग्यता में कमी हुए बिना फ़ौज का खर्च स्वयं घट सकता है, और राष्ट्र-निर्माण के विभागों को कुछ अधिक रुपया मिल सकता है।

(४) शासन और न्याय कार्यों का पृथक्करण—भारतीय लोकमत बहुत दिनों से शासन और न्याय के कार्यों के पृथक्करण पर जोर देता आया है। शायद भारतीय कांग्रेस ने जितनी बार इस संबंध के प्रस्ताव को पास किया है उतनी बार किसी दूसरे प्रस्ताव को नहीं पास किया है। नागरिकों के प्राथमिक एवं मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए अन्य संस्थाएं भी इसी बात पर जोर देती आयी हैं। परंतु आज तक यह पृथक्करण नहीं किया गया है। यद्यपि सन् १९३७ के पश्चात् सात प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का शासन है, और यद्यपि ये मंत्रि-मंडल पृथक्करण का वचन दे चुके हैं, तो भी अभी तक उस प्रकार का पृथक्करण नहीं हो पाया है जिस पर भारतीय लोकमत जोर देता रहा है।

(५) उत्तरदायी शासन की स्थापना—भारतीय लोकमत बहुत दिनों से भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन की स्थापना पर जोर देता आया है। आरंभ में वह केवल शासन में हिस्सा लेने पर ही जोर देता था, तत्पश्चात् प्रांतीय स्वराज्य पर, और तत्पश्चात् डोमीनियन स्टेटस पर। आजकल भारतीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों पूर्ण स्वाधीनता का ध्येय अपनाये हुए हैं। लोकमत का झुकाव तो पूर्ण स्वाधीनता की ओर होता जाता है, परंतु शासन-सुधार में अभी तक प्रांतीय स्वराज्य भी पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हो पाया है। सन् १९३५ के विधान के अनुसार संरक्षणों सहित प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था की गयी है; और यह भी बरसों के निरंतर आंदोलनों के पश्चात्। केंद्रीय शासन में, संघ राज्य के स्थापित होने पर, द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार उत्तरदायी शासन स्थापित होने वाला है। भारतीय लोकमत की मांगों को देखते हुए ये सुधार बहुत ही अपर्याप्त हैं। प्रायः सभी सुधार, किये जाने के समय, अपर्याप्त, निराशाजनक और अपमान-सूचक समझे गये थे।

(६) दमनकारी क़ानून—ब्रिटिश पार्लमेंट अथवा भारतीय व्यवस्थापक सभाओं द्वारा स्वीकृत, आजकल देश में अनेक ऐसे क़ानून हैं, जिनके कारण भारतवासियों को अपने कामों में वह स्वाधीनता नहीं मिल पाती, जो इंगलैंड के नागरिकों को प्राप्त है। भारतीय शस्त्र-नियम के कारण भारतवासियों को अपने बचाव के लिए भी हथियार रखने का अधिकार नहीं है। प्रेस एक्टों के कारण, अखबारों को अपने विचारों तक के प्रगट करने की आज़ादी बहुत दिन तक न थी। ऑर्डीनेंसों के कारण सभा करने का अधिकार भी कभी कभी परिमित हो जाता है। भारतीय लोकमत इन सब प्रतिबंधों का विरोधी है। कांग्रेस अपनी चुनाव-घोषणा में दमनकारी नियमों के रद करने का वचन दे चुकी है। पर ये नियम अब तक चालू हैं। लोकमत के अनुसार न तो इन नियमों में आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं और न सांकेतिक संशोधन। यही हालत, उपनिवेशों में भारतीयों के साथ किये गये व्यवहार, स्थानीय स्वराज्य, आदि की भी है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह भली भांति विदित हो जाता है, कि शासन-सुधार की जिन आवश्यक बातों पर भारतीय लोकमत ज़ोर देता आया है उसमें से कुछ तो कार्य रूप में परिणत हो चुकी हैं, और कुछ के लिए आज तक हलचल मची हुई है। जो सुधार किये गये हैं, उनमें आवश्यकता से अधिक समय लगा है। लोकमत समुद्र की धारा की भांति आगे बढ़ता हुआ अधिकाधिक शासन-सुधार पर ज़ोर देता जाता है, परंतु कार्य रूप में परिणत किये गये शासन-सुधार असंतोषजनक, अपर्याप्त और निराशासूचक प्रतीत होते हैं, विशेष कर इस लिए कि भारत-वासियों की दृष्टि में इन सुधारों के अमल में उस उदारता का व्यवहार नहीं किया गया है, जो उनकी सफलता के लिए आवश्यक था। हम मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के कार्यान्वित रूप का विवरण चौथे परिच्छेद में लिख चुके हैं। उसके पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दोषारोपण बिल्कुल ही निराधार नहीं है। नये शासन-विधान के अमल में भी इसी प्रकार की कठिनाइयां सामने आती जाती हैं, जिनके कारण कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों को कभी कभी वैधानिक संकटों का सहारा लेना पड़ता है। फल-स्वरूप हम भारतीय लोकमत और भारतीय शासन-सुधार के विषय में निम्न-लिखित नतीजे पर पहुंचते हैं—भारतीय लोकमत का शासन-सुधार पर

बहुत ज्यादा असर पड़ा है। यदि लोकमत के अनुसार हलचल न की जाती तो जो कुछ सुधार हुए हैं, शायद वे भी न हो पाते। लोकमत के देखते हुए, जो कुछ सुधार हुए हैं वे वास्तव में अपर्याप्त, असंतोषप्रद और निराशासूचक हैं। सुधारों के करने में आवश्यकता से अधिक समय लगाया जाता है। जो कुछ सुधार मांगे जाते हैं उनका एक हिस्सा भी मंजूर नहीं होता। साथ ही उनके अमल में उदारता का अभाव होता है जिसके कारण उनकी वास्तविक मंशा फलीभूत नहीं हो पाती।

लोकमत और शासन-सुधार का भविष्य—

लेकिन भविष्य में शायद ऐसा न हो सके। भारतीय लोकमत दिन पर दिन अधिकाधिक संगठित और प्रभावशाली होता जाता है। उग्रवादियों की संख्या बढ़ती जाती है और लोकमत में प्रगतिशील परिवर्तन होते जाते हैं। जो व्यक्ति सन् १९२० में उग्रवादी समझे जाते थे उनमें से बहुत से आज सुधारवादी समझे जा रहे हैं। भारतवर्ष में अनेक अखिल भारतीय संस्थाओं का जाल फैल गया है। वे सब संगठित रूप से लोकमत को प्रगट करती और उसके लिए आंदोलन खड़े करती हैं। बहुतेरी तो ऐसी हैं जो अधिकार-याचना की नीति में विश्वास न करके, अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, आदि के लिए हमेशा तैयार रहती हैं। प्रायः सभी महत्वपूर्ण संस्थाओं के पक्ष के कुछ समाचार-पत्र हैं जो उनके विचारों को प्रगट करते हैं, और उनके उद्देश्यों का प्रचार करते हैं। देश में अपूर्व जागृति उत्पन्न हो गयी है। सभी जगह अधिकार-प्राप्ति का संग्राम छिड़ा हुआ है। मजदूर मील-मालिकों से झगड़ रहे हैं और किसान ज़िमींदारों से। नौजवान वृद्धों को समय के पीछे और अक्रिय समझ कर, आंदोलनों में सक्रिय भाग लेने के लिए उत्सुक हो रहे हैं। स्त्रियां अपने को पुरुषों के बराबर समझ कर, समानता के अधिकारों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। लोकमत की इस जागृति को न देखना या उसकी अवहेलना करना अब संभव नहीं। यदि इसी प्रकार की जागृति कुछ दिनों तक बनी रही, तो यह असंभव नहीं कि देश अपने ध्येय को शीघ्र ही प्राप्त कर सके। पर इसके लिए अनुशासन की बड़ी आवश्यकता है। अनुशासित लड़ाई में जीत का होना संभव है परंतु अनुशासन-रहित लड़ाई में पराजय की आशंका निर्मूल नहीं

हैं। यदि भारतीय आंदोलनों में भाग लेने वाले लोग अनुशासित होकर अपने कामों को करेंगे, तो शीघ्र ही भारतवर्ष भी संसार का एक महान स्वतंत्र देश होगा और उन लोगों के परिश्रम का फल मिलेगा जो गत् ५० बरसों से तरह तरह के कष्टों को झेलकर उसे स्वाधीन बनाने की कोशिश कर रहे हैं।

सहायक पुस्तकों की सूची

इस पुस्तक को प्रस्तुत करने में जिन पुस्तकों की सहायता ली गयी है उनकी सूची निम्नलिखित है :—

AIYER (SIVA SWAMY) : Indian Constitutional Problems.

ANDERSON : British Administration in India.

ANDREWS AND MUKERJEE : The Rise and Growth of the Congress.

ATHALYE : The Life of Lokmanya Tilak.

BANERJEE (D. N.) : The Indian Constitution.

BANERJEE (S) : A Nation in the Making.

BEAUCHAMP : British Imperialism in India.

BENI PRASAD : The Problem of Indian Constitution.

BESANT : Shall India Live or Die ?

,, : India—a Nation.

,, : How India Wrought for Freedom ?

BEVAN : Thoughts on Indian Discontent.

BLUNT : The I. C. S.

BOSE : The Working Constitution of India.

BRAYNE : The Remaking of Village India.

BROCKWAY : The Indian Crisis.

CHINTAMANI : Indian Politics Since the Mutiny.

CHIROL : Indian Unrest.

CHUDGAR : Indian Princes Under British Protection.

CRADDOCK : Dilemma in India.

CUMMING (Ed) : Modern India.

,, : Political India.

CURTIS : Diarchy.

DE MELLO : The Indian National Congress.

DODWELL : History of India.
DRUMMOND : Panchayats in India.
DUMBELL : Loyal India.
DURANT : The Case for India.
DUTT (G. S.) : Village Reorganisation.
DUTT (R. C.) : History of Early British Rule in India.
DUTT (S) : Indian Nationalism.
FORREST : The Indian Municipality.
FARQUHAR : Modern Religious Movements in India.
GANDHI : My Experiment with Truth 2 vols.
: Satyagrah in South Africa.
GANGULEE : The Making of Federal India.
GANGULEE : Problem of Rural India.
GAUBA : H. H. or the Pathology of Princes.
GOUR : The Future Indian Constitution.
GOVT. of India Act 1919.
Govt. of India Act 1935.
Govt. of India Despatch on Proposals for
Constitutional Reforms.
GWYNN : The Indian Politics.
HAKSAR : Indian States and Federation.
HAKSAR & PANNIKAR : Federal India.
ILBERT : Historical Introduction to the Government
of India.
IRWIN : Indian Problems.
JOSHI : The New Indian Constitution.
" : Indian Administration.
KALE : Indian Administration.
KEITH : Speeches and Documents on Indian
Policy 2 vols.
KERALA PUTRA : The Working of Diarchy in India.

व्यवस्थापक सभाओं की समुचित देखभाल करती रही थी। साइमन कमीशन के सामने, श्री० एल० ग्रेहैम (Mr. L. Graham) ने, जो लेजिस्लेटिव मंत्री थे, भारत-सरकार की पूर्व स्वीकृति के विषय में इस आशय की गवाही दी थी[1]। "हमारा काम उन प्रांतीय प्रस्तावों की भी जाँच करना है जिनके लिए गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक होती है। एक्ट के अनुसार प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं के विचार करने के पूर्व स्वीकृति आ जानी चाहिये। किंतु कार्यरूप में प्रस्ताव के पेश होने के पूर्व ही स्वीकृति माँगी जाती है। ऐसे अवसर भी आते हैं जब स्वीकृति नहीं दी जाती। लगभग ३५ ग़ैर-सरकारी प्रस्तावों के लिए गवर्नर जनरल की स्वीकृति नहीं दी गयी। हमारे पास स्वीकृति के लिए बहुत से प्रस्ताव आते हैं। ऐसे प्रस्ताव भी आते हैं जिनके लिए पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता नहीं। इसका कारण है संरक्षित और हस्तांतरित विषयों का दोषयुक्त विभाजन"।

इस गवाही को पढ़ कर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के अंतरगत् प्रांतीय सरकारें, द्वैध शासन-प्रणाली के दोषों के कारण, अपना काम उसी प्रकार भयभीत हो कर करती थीं जिस प्रकार भारत-सरकार। दोनों में से किसी को यह पता न था कि उसकी वास्तविक स्थिति क्या थी। कहीं ऊंचे पदाधिकारी हमारे काम को रद न कर दें, शायद इस आशंका के कारण वे अपने कामों को करने के पूर्व, उन अफसरों की सलाह ले लेती थीं। इस नीति के कारण भारत-सरकार प्रांतीय शासन का निरीक्षण पूर्ववत् करती रही। किंतु अब निरीक्षण अप्रत्यक्ष था, प्रत्यक्ष नहीं और कानूनी दृष्टि से और कुछ अंश में कार्यरूप में भी, प्रांतीय सरकारों को पहले से अधिक स्वाधीनता प्राप्त थी।

(द) अटल इक्जीक्यूटिव—केंद्रीय शासन का सबसे बड़ा दोष था अटल इकजीक्यूटिव और लापरवाह व्यवस्थापक मंडल[2]। भारत-सरकार अपने कार्यों और नीति के लिए ब्रिटिश सरकार के प्रति जिम्मेदार थी, भारतीय व्यवस्थापक मंडल के प्रति नहीं। भारतीय व्यवस्थापक मंडल द्वारा पास किये गये प्रस्तावों का उसके अस्तित्व पर

---

(1) Indian Quarterly Register, 1928, Vol. II pp. 149-152.

(2) Indian Quarterly Register 1925. Vol I. pp. 49-50.

तनिक भी प्रभाव न पड़ता था। व्यवस्थापक मंडल भी असहयोग और अड़ंगा की नीति से काम करता था। इसके कारण उसमें ऊटपटांग प्रश्न पूछे गये और ऐसे प्रस्ताव पास किये गये जो भारत-सरकार के उत्तरदायी होने की अवस्था में संभवतः न पास किये जाते। इसी लिए मुडीमैन कमेटी के सामने गवाही देते हुए कई सज्जनों ने भारत-सरकार को उत्तरदायी बनाने का आग्रह किया था।

प्रांतीय शासन—मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों द्वारा, प्रांतीय शासन में सब से अधिक परिवर्तन किये गये थे। वहीं पर द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार उत्तरदायी शासन आरंभ किया गया था। कार्यरूप में द्वैध शासन-प्रणाली अनेक दोषों से परिपूर्ण पायी गयी। उसके कार्यान्वित रूप की निम्नलिखित बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(क) निर्वाचक मंडल—मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों द्वारा निर्वाचकों की संख्या बढ़ायी तो अवश्य गयी थी, किंतु फिर भी संपूर्ण जनसंख्या के देखते हुए, मतदाताओं की संख्या बहुत थोड़ी थी[1]। स्त्रियाँ

(१) इस बात का पता साइमन कमीशन की रिपोर्ट, प्रथम भाग से चलता है। देखिये पृष्ठ १९१।

प्रांत	प्रतिशत् मत-दाता	प्रतिशत् पुरुष-मतदाता	प्रतिशत् स्त्री-मतदाता
मद्रास	३.२ %	११.६ %	१.० %
बंबई	३.९ %	१३.४ %	.८ %
बंगाल	२.५ %	९.७ %	.३ %
संयुक्त प्रांत	३.५ %	१२.४ %	.४ %
पंजाब	३.४ %	११.९ %	.५ %
बिहार उड़ीसा	१.१ %	४.६ %	—
आसाम	३.७ %	१४.२ %	.२ %
मध्य प्रांत	१.३ %	५.२ %	—
बर्मा	१.७ %	६०.३ %	४.६ %

और निर्धन पुरुष वोट देने के अधिकार से प्रायः वंचित थे। अनेक मत-दाता अशिक्षित थे[1]। वोटरों की सूचियाँ ठीक ठीक न बनायी जाती थीं। बहुतेरे मतदाता अपने अधिकार का प्रयोग भी न करते थे[2]। सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली के कारण निर्वाचक-संघ क्षेत्रफल में बहुत बड़े थे[3]।

(१) साइमन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार कुछ प्रांतों में लगभग ९० प्रतिशत् मतदाता अशिक्षित थे। ऐसे मतदाताओं की संख्या किसी भी प्रांत में ७० प्रतिशत् से कम न थी। देखिये साइमन कमीशन रिपोर्ट, प्रथम भाग, पृष्ठ १९२।

(२) अधिकार प्रयोग करनेवाले मतदाताओं की संख्या का पता हमें निम्नलिखित तालिका से चलता है। देखिये साइमन कमीशन रिपोर्ट, प्रथम भाग, पृष्ठ १९७

प्रांत	१९२०	१९२३	१९२६
मद्रास	२४·९ %	३६·३ %	४८·६ %
बंबई	१६·२ %	३८·४ %	३९·० %
संयुक्तप्रांत	३३·० %	४२·२ %	५०.२ %
बंगाल	३३·४ %	३९·० %	३९.२ %
पंजाब	३२·० %	४९·३ %	५२.४ %
आसाम	१६.४ %	३७·५ %	३५.० %

(३) निर्वाचक-संघों के विस्तार का पता साइमन कमीशन रिपोर्ट, प्रथम भाग के १९३ पृष्ठ पर दी गयी निम्नलिखित तालिका से चलता है—

ग़ैर-मुस्लिम देहाती निर्वाचक-संघ—

	सबसे बड़ा	सबसे छोटा	औसत
जनसंख्या	३१,१०,०००	७६,०००	५,५०,००
मतदाता	१,१४,१००	२,०००	१४,६००
वर्गमील में क्षेत्रफल	४,७०० बंगाल में	७०० बंगाल में	२,५००

(देखिये पृष्ठ १०३)

इस कारण साधारणतया निर्वाचकों और उनके प्रतिनिधियों में अधिक संपर्क भी न होता था। इन दोषों के कारण प्रांतीय व्यवस्थापक सभाएँ, उतनी प्रतिनिधि न थीं जितनी उत्तरदायी शासन की सफलता के लिए होनी चाहिये।

(ख) प्रांतीय व्यवस्थापक सभाएँ—प्रांतीय व्यवस्थापक सभाएँ भी उत्तरदायी शासन के लिए उपयुक्त न थीं। उत्तरदायी शासन तभी सफल हो सकता है जब व्यवस्थापक सभा में ठीक ठीक दलबंदियाँ हों, और जहाँ तक संभव हो, केवल दो ही प्रधान राजनीतिक दल हों। ऐसी अवस्था में दोनों दल एक दूसरे की आलोचना करके सतर्क रहते हैं और शासन-कार्य में ज्यादती नहीं होने पाती। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के कार्यान्वित रूप में, प्रांतीय व्यवस्थापक सभाएँ इस प्रकार की न बन सकीं। सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली के कारण, उनकी दलबंदियाँ सांप्र-

---

(पृष्ठ १०२ से)

मुस्लिम देहाती निर्वाचक-संघ—

	सबसे बड़ा	सबसे छोटा	औसद
जनसंख्या	१०,०४,०००	५०,०००	३,५२,०००
मतदाता	२८,०००	६००	८,०००
वर्गमील में क्षेत्रफल	७,१०० बंगाल में	६०० बंगाल में	४,७००

ग़ैर-मुस्लिम शहराती निर्वाचक-संघ—

	सबसे बड़ा	सबसे छोटा	औसद
जनसंख्या	५,००,०००	४०,०००	१,२६,०००
मतदाता	५०,०००	१,८००	९,८००

मुस्लिम शहराती निर्वाचक-संघ—

	सबसे बड़ा	सबसे छोटा	औसद
जनसंख्या	२,४३,०००	२६,०००	१,०४,०००
मतदाता	२१,८००	१,६००	७,०००

दायिक आधार पर होती थीं, प्रांत की भलाई के आधार पर नहीं। उनका कोई स्थायी रूप भी न था। स्वराज्य पार्टी को छोड़ कर किसी अन्य राजनीतिक दल का देश-व्यापी संगठन न था। सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यों और सरकारी सदस्यों का भी एक दल होता था। इनके सारे सदस्य प्रायः एक ही ओर वोट देते थे। इनकी सहायता के कारण मंत्री लोग भी जनता के प्रतिनिधियों के मत की अवहेलना कर सकते थे। व्यवस्थापक सभाओं की उपर्युक्त परिस्थिति उत्तरदायी शासन की सफलता के लिए उपयुक्त न थी।

(ग) हस्तांतरित और संरक्षित विषयों का भेद—हस्तांतरित और संरक्षित विषयों का भेद भी उत्तरदायी शासन के लिए उपयुक्त न था। इन विषयों की अलग अलग सूचियाँ अवश्य बनायी गयी थीं, किंतु व्यवहार में इस प्रकार का विभाजन दोषयुक्त सिद्ध हुआ[1]। सरकार के कामों को ऐसे भागों में विभाजित करना, जिनका परस्पर संबंध न हो और जिनमें से केवल एक ही में उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाय, एक असंभव बात थी। तिस पर कोष संरक्षित विषय था। बिना धन के मंत्री लोग कुछ भी न कर सकते थे। अतएव उन्हें हमेशा अर्थ-विभाग के कौंसिलर का परामर्श लेना पड़ता था और उनकी अनेक सुधार योजनाएँ धन की कमी के कारण रद्दीखाते में फेंक दी जाती थीं[2]। ऐसी परिस्थिति

---

(1) "......I was a Minister for Development without the Forests......I was the Minister for Agriculture minus Irrigation......Then again I was a Minister of Industries without Factories, Boilers, Electricity and Water power, Mines or Labour all of which are reserved subjects."—Sir K. V. Reddi's Memorandum for Reforms Inquiry Committee—See Appendix 5, to the Report of Reforms Inquiry Committee, 1924, (Written Evidence) P. 21.

(2) "In Financial matters, the transferred subjects are entirely at the mercy of the Finance Member and of the Finance Secretary or the Finance Clerk, whoever at the time may be exercising authority and using discretion; and therefore transferred subjects are not likely to make

में, यह आशा कि मंत्री लोग हस्तांतरित विषयों में स्वाधीन रूप से उत्तरदायी शासन स्थापित करेंगे, निराधार सिद्ध हुई।

(घ) मंत्री लोग न कि मंत्रिमंडल—सन् १९१९ के सुधारों ने प्रांतीय शासन में मंत्रियों की स्थापना की न कि मंत्रिमंडल की। इस अवस्था के लिए कुछ हद तक प्रांतीय गवर्नर जिम्मेदार थे और कुछ हद तक स्वयं मंत्री लोग। संगठित राजनीतिक दलों के अभाव के कारण भी मंत्रिमंडल न बन सके। मुडीमैन कमेटी के सामने गवाही देते हुए कई भूतपूर्व मंत्रियों ने, इस दोष की जिम्मेदारी गवर्नरों के सिर पर मढ़ी थी। प्रांतीय गवर्नर प्रत्येक मंत्री से अलग अलग सलाह लेते थे, सामूहिक रूप से नहीं। पंजाब की बाबत गवाही देते हुए स्वर्गीय लाला हरकिशन लाल ने अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया था "दोनों मंत्री किसी बात पर एक साथ विचार न करते थे, प्रांतीय गवर्नर मुझसे कहा करते थे कि नियमानुकूल प्रत्येक मंत्री को व्यक्तिगत् उत्तरदायित्व के आधार पर ही सारा काम करना चाहिये"[१]। अन्य प्रांतों की भी प्रायः यही दशा थी।

---

much progress which acts to the discomfiture of the Minister in particular."—Lala Har Kishan Lal.

" Not a pie of new expenditure can be incurred by the Minister without the approval of the Finance Member." C. Y. Chintamani—See Appendix 5, to the Reports of Reforms Inquiry Committee 1924, (Written Evidence) P. 349 and 281.

(१) " I was told that the reading of the law was that each Minister stood on his own. Whenever I protested to the Governor that we ought to have cabinet meetings and we ought to have at any rate principles of policy and principles of Legislations discussed, I received no encouragement from him; but I was told on the contrary that the Governor's reading of the law was that each Minister had his own responsibility." Har Kishan Lal. Appendix 6, to the Report of the Reforms Inquiry Committee 1924, (Oral Evidence) Vol I pp. 218-19.

मंत्रिमंडल के स्थापित न होने के लिए कुछ अंश तक गवर्नर जिम्मेदार थे, इसमें संदेह नहीं; किंतु सारी जिम्मेदारी उन्हीं पर मढ़ना अनुचित प्रतीत होता है। सांप्रदायिक वैमनस्य और राजनीतिक विचारों में मतभेद होने के कारण, मंत्री लोग भी स्वयं व्यक्तिगत् मंत्रियों की हैसियत से काम करते थे। एक या दो अवसरों[1] को छोड़ कर, उन्होंने भी मंत्रिमंडल के स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। परिणाम-स्वरूप, प्रांतीय शासन के हस्तांतरित विषयों पर व्यक्तिगत् मंत्रियों का ही शासन रहा और मंत्रि-मंडल की स्थापना न हो सकी।

(ङ) संयुक्त उत्तरदायित्व का अभाव— मंत्रिमंडल की स्थापना का एक आवश्यक साधन संयुक्त उत्तरदायित्व का सिद्धांत है। सुधारों के कार्यान्वित रूप में यह सिद्धांत भी कार्यरूप में परिणत न किया गया। इसका मुख्य कारण था संगठित राजनीतिक दलों का अभाव। यदि सारे प्रांतीय मंत्री एक ही राजनीतिक दल के सदस्य होते[2], तो संभवतः संयुक्त उत्तरदायित्व की प्रथा चल पड़ती। संयुक्त प्रांत के मंत्रियों, मिस्टर सी. वाई. चिंतामणि और पं० जगतनारायण मुल्ला ने इस प्रथा का चलाना आरंभ किया था। गवर्नर और श्री चिंतामणि में शिक्षा-विभाग के एक कर्मचारी के कामों के विषय में मतभेद हुआ। पं० जगत-नारायण मुल्ला का उससे कोई संबंध न था। फिर भी दोनों मंत्रियों ने एक ही साथ अपना त्यागपत्र गवर्नर के पास भेजा। दुर्भाग्य से इसके पश्चात् इस प्रांत में भी, इस प्रथा पर अमल न किया गया। यहाँ

---

(१) इस विषय का एक उल्लेखनीय प्रयत्न संयुक्त प्रांत के मंत्रियों ने किया था। गवर्नर से किसी विषय में मतभेद होने के कारण, मिस्टर चिंतामणि और उनके सहयोगी पं० जगतनारायण मुल्ला, दोनों ने एक ही साथ त्यागपत्र भेज कर संयुक्त उत्तरदायित्व का मार्ग दिखाया था।

(२) इंगलैंड में मंत्रिमंडल के स्थापित होने का एक कारण था मंत्रियों का एक ही राजनीतिक दल का होना। यह प्रथा उस देश में अनायास ही आरंभ की गयी थी, पर व्यवहार में बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। यदि प्रांतीय मंत्री एक ही राजनीतिक दल के होते, तो शायद यह प्रथा भारतवर्ष में भी चल पड़ती, किंतु परस्पर मतभेद एवं सांप्रदायिकता के कारण, किसी प्रांत के सारे मंत्री एक ही राजनीतिक दल के न हो सके। फलस्वरूप संयुक्त उत्तरदायित्व की प्रथा का अभाव रहा।

तक कि प्रांतीय व्यवस्थापक सभा ने, जब राजा जगन्नाथ बक्स सिंह के प्रतिकूल अविश्वास का प्रस्ताव पास किया, तब केवल उन्हीं ने अपना त्यागपत्र दिया और दूसरे मंत्री पूर्ववत् अपने स्थान पर आरूढ़ रहे। अन्य प्रांतों की भी अवस्था प्रायः इसी प्रकार की थी। वहाँ तो संयुक्त उत्तरदायित्व की नींव तक न पड़ सकी। इस परिस्थिति के कारण भी प्रांतीय शासन में उस प्रकार का उत्तरदायी शासन न स्थापित हो सका जिसकी संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी को आशा थी और जिसकी उसने सिफारिश की थी।

(च) विचार विनिमय—गवर्मेंट ऑफ इंडिया एक्ट सन् १९१९ में प्रांतीय शासन के दोनों वर्गों के विचार विनिमय के विषय में कोई धारा न थी। पर संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी ने विचार विनिमय की सिफारिश की थी और उसकी आवश्यकता पर जोर भी दिया था। मिस्टर मांटेग्यू भी विचार विनिमय को ठीक समझते थे। इंडिया बिल को दूसरी बार पार्लमेंट में पेश करते समय उन्होंने कहा था कि यदि एक दिन सभी संरक्षित विषयों को हस्तांतरित बनाना है तो यह आवश्यक है कि परिवर्तन काल में ही दोनों वर्गों का परस्पर परामर्श और प्रभाव होता रहे। इस सिफारिश के संबंध में भिन्न भिन्न प्रांतों में, कार्यरूप में भिन्न भिन्न ढंग से काम होता रहा। मद्रास और बंगाल में संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की सिफारिशों के अनुसार काम किया गया। अन्य प्रांतों में इस विषय की कोई निश्चित नीति न थी। कभी इस सिफारिश पर अमल किया जाता था और कभी नहीं। जिन प्रांतों में कभी कभी विचार-विनिमय होता था वहाँ के मंत्री लोग कार्य-संपादन के ढंग से असंतुष्ट थे। संरक्षित विषयों की महत्वपूर्ण बातों पर मंत्रियों का परा-पर्श तक न लिया जाता था। कुछ विषयों में मंत्रियों और इक्जीक्यूटिव कौंसिलरों का एकमत होना भी असंभव था। इक्जीक्यूटिव कौंसिलरों की मानसिक प्रवृत्ति मंत्रियों की मानसिक प्रवृत्ति से भिन्न थी। अतएव संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की इस सिफारिश पर भी संतोषप्रद अमल न किया गया और यदि कहीं किया भी गया तो द्वैध शासन-प्रणाली का तिरस्कार कर के।

(छ) सरकारी सदस्य और मंत्री—द्वैध शासन-प्रणाली में मंत्रियों की अवस्था वास्तव में शोचनीय थी। उनके दो अफसर थे—

(१) प्रांतीय गवर्नर और

(२) प्रांतीय व्यवस्थापक सभा।

उन्हें गवर्नर के आज्ञानुसार काम करना पड़ता था। यदि दोनों में मतभेद होता था तो या तो उन्हें त्यागपत्र देना पड़ता था या गवर्नर उनको निकाल सकते थे। गवर्नर के ही द्वारा वे नियुक्त किये जाते थे। अतएव गवर्नर के मतानुकूल काम करना उनके लिए आवश्यक था। व्यवस्थापक सभाएँ भी अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा, उन्हें पदच्युत कर सकती थीं। संगठित राजनीतिक दलों के अभाव और सांप्रदायिक आधार पर मंत्रियों की नियुक्ति होने के कारण मंत्रियों को, व्यवस्थापक सभा के निर्वाचित सदस्यों के बहुमत का हमेशा भरोसा न रहता था। अतएव वे अपने अस्तित्व के लिए सरकारी और मनोनीत सदस्यों के वोट पर निर्भर रहते थे। यह परिस्थिति उत्तरदायी शासन के सिद्धांतों के प्रतिकूल थी। मंत्री लोग क्रमशः उत्तरदायी शासन के मार्ग से हटते गये। निर्वाचित सदस्यों के वोटों का सहारा न करके, वे उत्तरोत्तर सरकारी वोटों पर ही निर्भर होते गये और इस प्रकार कभी कभी निर्वाचित सदस्यों के बहुमत के प्रतिकूल भी अपने पदों पर आरूढ़ रहे और ऐसे काम भी करते रहे जिनका निर्वाचित सदस्य बहुमत से विरोध करते थे। सुधारों के कार्यान्वित रूप में मंत्री लोग प्रायः सरकारी पदाधिकारियों की भाँति काम करते रहे। अतएव हस्तांतरित विषयों में भी केवल उतना ही उत्तरदायी शासन स्थापित हो सका, जितना इस अवांछनीय परिस्थिति में स्थापित हो सकता था।

(ज) सिविल सर्विस और मंत्रियों का संबंध— मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों के कारण, सिविल सर्विस के सदस्यों को अपना भविष्य संदिग्धमय दीख पड़ने लगा था। उन्हें इस बात का भय था कि द्वैध शासन-प्रणाली और उत्तरदायी शासन में न तो उनका पूर्ववत् सुरक्षित कार्यकाल ही बना रहेगा और न पुराना वेतन। भारतीय शासन की नीति को भी, तब वे उस हद तक निर्धारित न कर सकेंगे जिस हद तक वे सन् १९१९ के पूर्व निर्धारित करते थे। नौकरियों के भारतीयकरण की माँग से भी बहुतेरे विदेशी सदस्य परेशान थे। कुछ तो भारतीय सिविल सर्विस को छोड़ कर अन्य उपयुक्त नौकरी करने तक के

लिए तैयार थे। सिविल सर्विस के सदस्यों का इस प्रकार भयभीत होना स्वाभाविक था। किंतु उनका भय भविष्यत् संबंधी था। मंत्रियों की अवस्था ऐसी न थी। उन्हें इस बात की आशंका थी कि तत्कालीन परिस्थिति में, यदि उनमें और सिविल सर्विस के सदस्यों में किसी प्रकार का मतभेद होगा, तो सिविल सर्विस के सदस्य उनकी अवहेलना करके, उच्चतर अधिकारियों की सहायता से, अपनी ही बात रखेगें और इस प्रकार मंत्रियों का महत्व घटेगा। इस मानसिक प्रवृत्ति का प्रभाव सुधारों के व्यावहारिक रूप पर भी पड़ा। यद्यपि अधिकांश अवसरों पर सिविल सर्विस के सदस्य मंत्रियों के साथ सहयोग करते रहे, फिर भी प्रत्येक प्रांत में कुछ ऐसे अवसर अवश्य आये, जब सिविल सर्विस के सदस्यों ने मंत्रियों की बात न मानी और यदि मानी भी तो बेमन से। सिविल सर्विस और मंत्रियों के पूर्वोक्त संबंध के कारण भी द्वैध शासन-प्रणाली कार्यरूप में दोषयुक्त सिद्ध हुई।

(झ) अर्थ-विभाग और मंत्री—द्वैध शासन-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष था अर्थ-विभाग और मंत्रियों का संबंध। सुधारों के अनुसार कोष संरक्षित विषय था। अतएव अर्थ-विभाग एक इक्जीक्यूटिव कौंसिलर के अधीन था। यह पदाधिकारी साधारणतया सिविल सर्विस का सदस्य होता था। कम से कम व्यवस्थापक सभा के निर्वाचित सदस्य इस पद के लिए उपयुक्त न समझे जाते थे। समस्त कोष की देखभाल करने के अतिरिक्त कुछ विषयों का खर्च भी इसी कौंसिलर के अधीन था। मंत्रियों के विभाग के व्यय-संबंधी सारे प्रस्ताव अर्थ-विभाग के सम्मुख पेश किये जाते थे। कानूनी दृष्टि से अर्थ-विभाग का काम ऐसे खर्च के विषय में केवल परामर्श ही देना था जिसको यदि मंत्री चाहें तो मानें और यदि न चाहें तो न मानें। कार्यरूप में अर्थ-विभाग, केवल परामर्श न देकर, प्रस्तावों की नीति का निरीक्षण करता था। अनेक अवसरों पर 'राष्ट्र-निर्माण' संबंधी विषयों के लिए पर्याप्त धन न मिलता था। मंत्रियों और अर्थ-विभाग में मतभेद होने पर अर्थ-विभाग रुपया देने से इनकार कर देता था। ऐसी परिस्थिति में रुपया उसी समय मिल सकता था जब मंत्री लोग गवर्नर की स्वीकृति प्राप्त कर लें। अर्थ-विभाग के आधिपत्य के कारण, मंत्री लोग हस्तांतरित विषयों का शासन उस स्वाधीनता से न कर सकते थे, जो उत्तरदायी शासन

की सफलता के लिए आवश्यक थी। फल-स्वरूप इस दोष के कारण भी द्वैध शासन-प्रणाली असफल सिद्ध हुई।

(ञ) द्वैध शासन-प्रणाली में गवर्नर का स्थान—द्वैध शासन-प्रणाली में गवर्नर का स्थान बड़े महत्व का था। उन्हीं की नीति और काम करने के ढंग पर इस प्रणाली की सफलता या असफलता निर्भर थी। इसमें संदेह नहीं कि द्वैध शासन-प्रणाली के कारण गवर्नरों को बहुतेरी नाजुक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था। एक ही व्यक्ति के लिए, कुछ विषयों में अपने इच्छानुसार काम करना और कुछ विषयों में साधारणतया मंत्रियों की इच्छा पर चलना कोई साधारण बात न थी। हस्तांतरित और संरक्षित विषयों के झगड़े निपटाते समय भी गवर्नरों को नाजुक परिस्थितियों का मुक़ाबला करना पड़ता था। किंतु इन कठिनाइयों के होते हुए भी प्रांतीय गवर्नर संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की सिफारिशों को कार्यरूप में परिणत कर सकते थे। मंत्रियों के स्थान पर मंत्रि-मंडल का स्थापित करना, संयुक्त उत्तरदायित्व की प्रथा का चलाना, ऐसे मंत्रियों को नियुक्त करना जिन पर व्यवस्थापक सभा के निर्वाचित सदस्यों का विश्वास हो, हस्तांतरित और संरक्षित विषयों के मंत्रियों और इक्जीक्यूटिव कौंसिलरों का विचार विनिमय कराना, और हस्तांतरित विषयों के शासन में मंत्रियों के साथ वही संबंध स्थापित करना जो इंगलैंड के सम्राट का वहाँ के मंत्रिमंडल के साथ है—इन सारी प्रथाओं का चलाना गवर्नरों के अधीन था। पर कार्यरूप में इन बातों में भिन्न भिन्न प्रांतों की अलग अलग नीति रही और कभी कभी तो एक ही प्रांत में गवर्नरों के परिवर्तन के साथ साथ इस संबंध की नीति भी बदलती रही। फल-स्वरूप द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार उत्तरदायी शासन की वे प्रथाएँ भारतवर्ष में स्थापित न हो सकीं जो अन्य देशों में पायी जाती हैं और जिनके बिना उत्तरदायी शासन सुदृढ़ नहीं हो पाता।

नौकरियों का भारतीयकरण—मिस्टर मांटेग्यू ने सन् १९१७ में, भारतीयों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करके भारतवर्ष में क्रमशः उत्तरदायी शासन स्थापित करने की घोषणा की थी। इससे सिविल सर्विस के कुछ सदस्य भयभीत हुए, यहाँ तक कि सुधारों के पश्चात्

चार बरस में (सन् १९२४ तक) ३४५ सिविल सर्विस के सदस्यों ने अपने कार्यकाल के समाप्त होने के पूर्व ही, अनुपातीय पेंशनें लेकर अपनी नौकरियाँ छोड़ दीं[१]। भारतीय नौकरियाँ अब इंगलैंड के नवयुवकों को हृदयग्राही न मालूम पड़ने लगीं। इधर भारतवासी भी नौकरियों के भारतीयकरण की माँग उपस्थित करने लगे। इन सब बातों के कारण ली कमीशन की नियुक्ति हुई और उसने सन् १९२४ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की।

जिन नौकरियों से ली कमीशन का संबंध था, वे आठ[२] प्रकार की थीं और उनमें सब मिलाकर ४२७९ पदाधिकारी थे। ली कमीशन की पहली सिफारिश यह थी कि इनमें से तीन की भर्ती अखिल भारत-वर्षीय आधार पर होती रहे, तीन की भर्ती हस्तांतरित विषयों से संबंध रखने के कारण, प्रांतीय आधार पर हो[३], आबपाशी-विभाग के इंजीनियर अखिल भारतवर्षीय आधार पर भर्ती किये जायँ और सड़कों और मकानात के इंजीनियर प्रांतीय आधार पर। मेडीकल सर्विस का संबंध हस्तांतरित विषयों के साथ मानते हुए भी, ली कमीशन ने इसे प्रांतीय मंत्रियों के अधीन करना मुनासिब न समझा[४]। ली कमीशन की दूसरी सिफारिश थी नौकरियों के भारतीयकरण के संबंध में। इस विषय में उसने विभिन्न नौकरियों के संबंध में अलग अलग सिफारिशें कीं, किंतु

(१) साइमन कमीशन रिपोर्ट, प्रथम भाग, पृष्ठ २६७।

(२) उनके नाम निम्नलिखित हैं—
Indian Civil Service, (2) Indian Police Service, (3) Indian Forest Service including the Forest Engineers Service, (4) Indian Service of Engineers, comprising of an Irrigation Branch and a Road Buildings Branch, (5) Indian Educational Service, (6) Indian Agricultural Service, (7) Indian Veterinary Service, and (8) Indian Medical Service.

(३) उपर्युक्त नौकरियों में प्रथम तीन की भर्ती अखिल भारतवर्षीय आधार पर होने को थी, और पाँचवे, छठे और सातवें की भर्ती प्रांतीय आधार पर।

(४) इसके दो मुख्य कारण थे—(१) लड़ाई के समय डाक्टरों की आवश्यकता, और (२) भारत-निवासी युरोपीय परिवारों की देखभाल। अतएव ली कमीशन ने सिफारिश की थी कि प्रत्येक प्रांत फौज-विभाग के कुछ डाक्टरों को जगह दे। चूंकि इन डाक्टरों को सम्राट का कमीशन मिलता है और चूंकि उनके कुछ ऐसे अधिकार होते हैं जो संपूर्णतया मंत्रियों के अधीन नहीं किये जा सकते, इसलिए भारत-मंत्री के उत्तरदायित्व पर ध्यान रखते हुए इन नौकरियों का प्रांतीय आधार पर भर्ती किया जाना अनुचित था।

उन सब का एक मात्र लक्ष्य यह था कि सन् १९४९ तक उन नौकरियों में अंगरेज़ों और भारतवासियों की संख्या समान हो जाय। इस संबंध में कुछ काम भी किया गया है किंतु बड़ी मंद गति से। साइमन कमीशन की रिपोर्ट के निम्नलिखित आंकड़ों से हमें इस बात का पता चलता है[1]—

नौकरी का नाम	१९२९		१९३९ का अनुमान	
	भारतवासी	अंगरेज़	भारतवासी	अंगरेज़
भारतीय सिविल सर्विस	३७६	८९४	७१५	६४३
भारतीय पुलिस सर्विस	१२८	५६४	२५१	४३४
भारतीय इंजीनियर सर्विस[2]	२४०	२५५	२७०	२२९
भारतीय जंगलात सर्विस	७६	१३४	११२	१२६

साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया था कि किसी विभाग के समस्त कर्मचारियों को देखते हुए अंगरेज़ों की संख्या बहुत कम थी। इस विषय में सन् १९२९ के निम्नलिखित आंकड़े ध्यान देने योग्य हैं[3]—

विभाग	समस्त कर्मचारी	अंगरेज़ कर्मचारी
शासन-विभाग—कमिश्नर, कलेक्टर, डिप्टी कलेक्टर आदि[4]	५,५००	६३०
पुलिस विभाग	१,८७,९००	८०० अफसर और ८०० सरजेंट
मेडिकल विभाग	६,०००	२००
जंगलात	१६,०००	२४०
इंजीनियरिंग विभाग	७,५००	५००
रेलवे विभाग	८,००,०००	३५००
न्याय विभाग	२,५००	२३०

(१) देखिये सामइन कमीशन रिपोर्ट, प्रथम भाग, पृष्ठ २७०। (२) विशेषतया नहर-विभाग के इंजीनियर। (३) देखिये साइमन कमीशन रिपोर्ट, प्रथम भाग, पृष्ठ २७१-७२। (४) इस संख्या में डिप्टी कलक्टरों के नीचे पदाधिकारी शामिल नहीं हैं।

इसमें संदेह नहीं, जैसा उपर्युक्त आंकड़ों से विदित है, कि समस्त कर्मचारियों की संख्या देखते हुए अंगरेजों की संख्या बहुत कम है। किंतु अंगरेज लोग प्रायः ऊँचे ऊँचे पदों पर नियुक्त किये जाते हैं जिनका वेतन नीचे पदों की अपेक्षा बीसों गुना अधिक होता है और जिनके प्रभाव का कुछ ठिकाना ही नहीं होता। रेलवे-विभाग को ही लीजिये। इसके उच्च पदाधिकारियों में से सन् १९२९ में १५०० अंगरेज थे और केवल ७०० हिंदुस्तानी। नौकरियों के भारतीयकरण की मांग इस आशय से नहीं पेश की जाती है कि क्लर्क और नीचे पदाधिकारी हिंदुस्तानी हों, (वे तो हिंदुस्तानी होंगे ही। इतने कम वेतन पर अंगरेज मिलेगा कहाँ से ?) बल्कि इस आशय से कि उच्च पदाधिकारी हिंदुस्तानी हों और भारतीय शासन की नीति हिंदुस्तानियों द्वारा ही निर्धारित की जाय। इसमें संदेह नहीं कि ली कमीशन की रिपोर्ट के पश्चात्, उच्च नौकरियों में भारतीयों की संख्या क्रमशः बढ़ रही है किंतु इस वृद्धि की गति इतनी मंद है कि समस्त नौकरियों के भारतीयकरण में पचास वरस से भी अधिक लगेंगे। क्या मिस्टर मांटेग्यू की घोषणा का यही वास्तविक अर्थ था ? यह बतलाना कठिन है।

स्थानीय स्वराज्य की वृद्धि—मिस्टर मांटेग्यू की घोषणा में स्वशासन संबंधी संस्थाओं को क्रमशः उन्नत बनाने का भी जिक्र था। उत्तरदायी शासन के सफल बनाने के लिए स्थानीय स्वराज्य का अनुभव आवश्यक होता है। सन् १९१९ के पश्चात् इसमें भी कुछ उन्नति की गयी। सुधारों द्वारा स्थानीय स्वराज्य हस्तांतरित विषय कर दिया गया था। अतएव म्युनिसिपिल्टियों की संख्या बढ़ी और दो एक मनोनीत सदस्यों को छोड़ कर प्रत्येक म्युनिसिपल और ज़िला बोर्ड के सभी सदस्य निर्वाचित ग़ैर-सरकारी व्यक्ति होने लगे। म्युनिसिपिल्टियों और ज़िला बोर्डों के सभापति भी इने गिने स्थानों को छोड़ कर निर्वाचित ग़ैर-सरकारी व्यक्ति होने लगे। स्थानीय स्वराज्य संबंधी संस्थाओं के अधिकार कुछ हद तक बढ़ाये गये। किंतु इतना होते हुए भी स्वशासन संबंधी संस्थाएँ इतनी उन्नति न कर सकीं जितनी की आवश्यकता थी। इसके निम्नलिखित कारण थे—

(अ) द्वैध शासन-प्रणाली के दोष।